ओसवाल नवयुवक

अगर अहिंसा हमारे जीवन का ध्यान मन्त्र है तो कहना होगा कि देश का भविष्य स्त्रियों के हाथ में है।

* * *

जब तक भारत में स्त्री समाज थोड़ा भी दबा हुआ रहेगा—अथवा कम अधिकार भोगेगा तब तक भारत का सच्चा उद्धार नहीं हो सकता।

* * *

पुरुषों ने जो स्त्रियों के पास से उन समाज के अधिकार छीन लिए हैं अथवा उन अधिकारों को वे उन्हें नहीं देते इसका कारण स्त्रियों में शिक्षा का अभाव न होना चाहिये।

* * *

परन्तु शिक्षा के बिना भी शुद्ध आत्म-ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। 'शिक्षा रहित मनुष्य पशु के जैसा होता है' यह अतिशयोक्ति नहीं, किन्तु शुद्ध चित्र है। अतएव पुरुषों की भांति स्त्रियों के लिये भी शिक्षा आवश्यक ही है।

—महात्मा गान्धी

वर्ष ५
श्रावण १९८८
संख्या ४

इस अङ्क की
सम्पादिका—सौ० नन्दूबाई ओसवाल



झाँसीकी महारानी लक्ष्मीबाई

Prabasi Press, Calcutta



ओसवंश ओंकार करण हित, करण विभूषित गुणागार से।
आयो ओसवाल नवयुवक, शोभित होकर प्रेमहार से॥

वर्ष ४ } श्रावण १९८८ वीर सम्वत् २४५७ जून १९३१ ई० { संख्या ४

वर याचना

[आर० सिंघी, बी० ए० विशारद 'वसु']

हमें दो प्रभुवर यह वरदान।
शक्ति रूप अबला ललना बनि करें देश कल्यान ॥ हमें ॥
शील-कवच युत धैर्य्य-धनु से चलें सुमन-मृदुबान।
सुनीति-पथ पाथोज-प्रेम के हो आदर्श महान ॥ हमें ॥
कर कराल करवाल कान्ति की, सुशान्ति-सिन्धु समान।
वारिद सम अमृत बरसावें हित भारत उत्थान ॥ हमें ॥
जागृति हो भारत गौरव की, आरत का अवसान।
नित नूतन वैभव "वसु" राजै घर घर मंगल गान ॥ हमें ॥

—:※:—

स्त्री-जीवन का महत्व

[लेखक श्री० सूरजमल्लजी जैन]

आत्मा को आधार अरु, साक्षी आत्मा जान ।
निज आत्मा को भूलि हू, करिये नहिं अपमान ॥
(श्रीनिवासदास)

मनुष्य समाज के दो अंग हैं। एक पुरुष दूसरा स्त्री। इन दोनों अंगों का जनक स्त्री अंग है। इसलिए इस अंगका महत्व संसारमें बहुत कुछ होना चाहिये। यद्यपि उत्पन्न करने में पुरुष अंग कुछ कम अपेक्षा नहीं रखता, परन्तु स्त्री अंग का अपनी संतान पर जितना कुछ प्रभाव पड़ता है, उसके भले बुरे का जो असर संतान में आता है वह पुरुष अंगका नहीं, इसीलिये विद्वानों ने इस अंग को विशेष महत्वशाली बतलाया है। उस समय जिसे हुए आज असंख्यात वर्ष हो चुके, भगवान् ऋषभदेव जब अपनी सन्तानको पढ़ाने को तैयार हुए तब सबसे पहिले उन्होंने अपनी पुत्रियां ब्राह्मी देवी और सुन्दरी देवी को पढ़ाया। उनके पश्चात् पुत्रों का पढ़ाना प्रारम्भ किया अर्थात इस युग में सब से पहिले ब्राह्मी देवी और सुन्दरी देवी ने पढ़ना प्रारम्भ किया था। इसके सिवाय कई ऋषियों ने कहा है कि "स्त्री के गर्भ से धर्म सन्मार्गके प्रवर्तक महात्मा उत्पन्न होते हैं अतएव स्त्री मनुष्य समाज का बहुत ही उच्च अंग है" व कई विद्वानों ने "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:—जहां स्त्रियों का सत्कार किया जाता है वहां देवता क्रीड़ा करते हैं" आदि वाक्यों से स्त्री महत्व प्रगट किया है। पूर्व समय में स्त्रियां अपने पति के साथ राजसभा में आधे सिंहासन पर बैठा करती थीं। निर्भय होकर अपने मन की बात सभामें प्रगट करने को तैयार रहती थीं। स्त्रियों को देखकर सभासद् सन्मान करते थे। अपनी पत्नी आती देख राजालोग उठकर उसका स्वागत करते थे। ये सब व्यवहार व हमारे पूर्व ऋषि और विद्वानों के आदर्श वाक्य स्त्री जीवन के महत्व को प्रगट कर रहे हैं। ये सब प्राचीन बातें हैं।

बीचके समय में स्त्री समाज पर बड़ा अत्याचार हुआ है। इस समय के ग्रन्थकारों ने स्त्री निन्दाको ही अपना उद्देश्य समझ लिया था। उनकी दृष्टि से स्त्री कोई चैतन्य पदार्थ था ही नहीं। जिस धार्मिक ग्रन्थ में जिस पौराणिक कथा में देखिये स्त्री की निन्दा ही निन्दा दिखाई देती है। और फिर वह निन्दा भी कैसी? जिसकी सीमाही नहीं। उसे सारे अवगुणों, दुश्चरित्रों, कुव्यवहारों की खानि तक बनाने में आगा पीछा नहीं सोचा गया। मानो स्त्री जाति की जाति ही-सारी ही स्त्री समाज अवगुणों से भरी है और पुरुष समाज मानों कितनी पवित्र से भी पवित्र है। इस समय के प्रायः सब ग्रन्थ-

कारों ने पुरुष समाज को व्यभिचारी, पातकी व अधार्मिक बनानेवाली, स्त्री समाज को ही ठहराया है। इस प्रकार लिखने के कारण स्त्री समाज में दो परिणाम उत्पन्न हुए हैं। पहिला तो यह कि स्त्री जाति अपनेको पुरुषका केवल भोग्य पदार्थ समझने लगी है और उसमें से आत्माभिमान गुण चला गया। दूसरे साहित्य इतना गन्दा होगया कि वह स्त्री समाज के योग्य नहीं रहा। यदि न्याय और सभ्यता की दृष्टि से देखा जाय तो हमारे यहाँ बहुत कम धार्मिक ग्रन्थ ऐसे निकलेंगे जिन्हें स्त्री समाज पढ़ कर लाभ उठा सके, नहीं तो सबही ग्रन्थों में उसकी निन्दा पाई जाती है। ऐसे निन्दात्मक ग्रन्थों के पढ़ने से वह अपने को किसी योग्य न समझ कर केवल एक जड़ पदार्थ समझे इसमें आश्चर्य ही क्या है? पर अब वह समय गया। अब भगवान् ऋषभदेवके शब्दों के मर्म को—उनके सबसे पहिले स्त्री शिक्षाके कार्यको लोग समझने लगे हैं! जिस बातको कुछ दिनों से हम भूल गये थे वह हमारे यूरोपादि मित्र देशों की संगति से स्मरण हो आई है और अब हम जानने लगे हैं कि पुरुष समाज ने कुछ समय से स्त्रियों पर बड़ा भारी अत्याचार करना प्रारम्भ कर दिया था।

माताओं और बहिनों! आप लोग जो प्रायः यह कह देती हैं कि "हम नाचीज हैं, हमारी पर्याय निन्द्य है,—घृणाके योग्य है, हम कुछ करने योग्य नहीं पुरुष समाज की गुलामी करना ही हमारा धर्म है" अपने इन विचारों को निकाल डालो। अपनी आत्मा का अभिमान करो। पुरुषों की आत्मा में और तुम्हारी आत्मामें कुछ भी अन्तर नहीं है। अपनी आत्मा का विश्वास न करना - उसे नीची और घृणित समझना आत्महत्या करने के समान है। पूर्व ऋषियों के कथन को याद करो। उन्होंने कितने गौरव की दृष्टि से तुम्हारा स्मरण किया है। संसार में ऐसे कौन से कार्य हैं जिन्हें तुम नहीं कर सकतीं! सहानुभूति, विनय, स्वार्थ त्याग, दया के समान उच्च गुणों से भूषित होने पर भी केवल आत्माभिमान के न रहने से स्त्री समाज की आज दुर्दशा हो रही है। इन गुणों के साथ २ यदि आपमें आत्माभिमान भी होता, यदि आप अपनी आत्मा को भी कुछ करने योग्य समझतीं तो आज प्यारी माताओं! इस भारत के और समाज के उठाने में चारों ओर आपका ही हाथ नज़र आता। अतएव अपने हृदय से अपने को ही घृणित और निन्द्य समझने के भावों को निकाल डालो। और उनकी जगह हृदय में इन विचारों को स्थान दो कि हमारा जीवन उत्कृष्ट है, हमारे ही द्वारा देश, समाज, जाति और धर्मको ऊंचा उठानेवाले वीर उत्पन्न होते हैं, पूर्व कालके ऋषियों और महात्माओं को यहाँ तक कि धर्मप्रवर्तकों को उत्पन्न करने वाली हम ही हैं, ऐसा कौन सा ऊंचे से ऊंचा कार्य है जो हम नहीं कर सकतीं, हमारी आत्मा भी अनन्तबल, अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन की धारक है। उसमें भी महा आत्मा होनेकी शक्ति मौजूद है। प्यारीमाताओं और बहिनों! ब्राह्मी देवी को देखो, सीता को देखो, द्रौपदी को देखो, अञ्जनाको देखो, इन्होंने जो कार्य किये हैं क्या वे कार्य पुरुष समाज कर सकती थी? ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों ऋषभदेव की पुत्रियों ने अपने पिता को जमाई के आगे न झुकने देनेके लिये पिता के महत्व को एक समान बनाये रखने को सांसारिक सुखों पर लात मारी। जन्म भर कुमारी

रहीं और दीक्षा धारण कर साध्वी बनीं। शीलकी परीक्षा देनेके लिये सीता ने अग्निमें प्रवेश किया और अपने शुद्ध शील चरित्र के प्रभाव से अग्नि के बड़े भारी कुण्डको भी जल कुण्ड बना दिया। द्रौपदीने अपने शील की रक्षा करने को जादूगर से भी बढ़कर काम किया। झूठे अपवाद से श्वसुर और सासुके निकाल देनेपर अंजना वर्षों तक वनमें भटकी। वन में ही सन्तान का प्रसव किया और अन्त में बिना कुछ कहे सुने केवल अपने चरित्र से ही जगत को अपने शील का विश्वास दिलाया! क्या ऐसे उच्च कार्य तुम किसी भी पुरुष के जीवन में हुए बता सकती हो? क्या किसी पुरुष ने अपने पिता की मान मर्यादा के लिये ब्राम्ही और सुन्दरी के समान स्वार्थ त्याग किया है? क्या कभी शीलकी, अपने शीलकी पवित्रता सिद्ध करने को कोई पुरुष सीताके समान अग्नि में प्रवेश करने को उद्यत हुआ है? यदि नहीं तो अबसे विश्वास कर लो कि हमारा जीवन, स्त्री-जीवन एक महत्वशाली जीवन है। ब्राम्ही और सीता के द्रौपदी और अञ्जना के प्राचीन काल के उदाहरण हैं। पर हमारे देश में ऐसे नये उदाहरण भी कुछ कम न निकलेंगे। भारतवर्ष में हजारों और लाखों स्त्रियां ऐसी हो गई हैं जो अपने दृष्टांत के लिये आपही थीं अर्थात् उनकी उपमा किसी दूसरे से नहीं दी जा सकती। वीरता में, धार्मिक कृत्यों में, उदारतामें, क्षमा में, धैर्य में—सहनशीलता में और दूसरों के अपराध क्षमा करने में उन्हें सुधारने में स्त्री समाज ने जो कार्य किया है उसकी बराबरी करनेवाले अन्य उदाहरण भारत के इतिहास में नहीं हैं। अच्छा ये तो इतिहास की उस समय की-जो हमारी आंखों के सामने नहीं है—बातें हैं, इन्हें भी जाने दो। अपनेही जीवन को देखो, आज जो कहा जाता है कि हमारी स्त्री समाज का पतन हो गया है सो उसी पतित जीवन को देखो; उसमें तुमने जो गुण भर रखे हैं उन्हें देखो, पतिके आने तक कितनी ही जोर से भूखके सताने पर भी बैठे रहना, किसी वस्तु को आप न खाकर पति, पुत्र, सास, श्वसुर व अन्य कुटुम्बी को खिलाना, पति के देने पर भी उसे न खाकर रख छोड़ना और आवश्यकता पड़ने पर वही वस्तु पतिको देकर उनकी आवश्यकता पूरी करना, सुबह पति से पहिले उठकर घरेलू कामों में लगना और रात्रि को घरका सब कामकाज करके सोना, तबियत ठीक न होनेपर भी घरके कार्यों से मुंह न मोड़ना, अयोग्य पति के मिलने पर भी उन्हेंही अपना देवता मानना, पति आदि को व अन्य कुटुम्बियों के कटु वचन सुनते हुए भी क्रोध दबाये रखना, मितव्यय करना, कम आमदनी होने पर भी एक बड़े कुटुम्ब का गुजारा केवल अपनी मिहनत और काट कसर से करना आदि गुण क्या कम महत्वशाली हैं? ये उदारता, स्वार्थ त्याग, धैर्य, क्षमा, आत्मबल आदि उच्च भावों के साक्षात् उदाहरण हैं। जिनमें ये गुण हों वो साक्षात् देव हैं, पूज्य हैं। स्त्री समाज! तूं तो इन गुणों को धारण करनेवाली है फिर अपने जीवन को क्यों महत्वशाली नहीं समझती? तेरे ये गुण पूजा करने के योग्य हैं। इन गुणों का अभिमान कर और अपनी आत्मा को-स्त्री जीवन के महत्व को कभी मत भूल, न कभी आत्मा के अभिमान को छोड़ और न आत्मा के अभिमान के विरुद्ध कभी बोल और न अपने को घृणित और निन्द्य पर्यायवाली समझ। जिन्होंने "महा निन्द्य पर्याय तियाकी" लिखकर

तुझे नीचे गिराया है और तेरे दिल में यह ठंसा दिया है कि स्त्री पर्याय निन्द्य है वे स्वयं निन्द्य थे। जिस भाव को लेकर हमारे आचार्यों ने स्त्री को नीचा समझा है उन्हीं भावों से उन्होंने पुरुषों को भी नीचा समझा है। पर आचर्यों के भावोंको न समझ उक्त छुकड़ेली कविता करनेवालों ने जो तेरे पर अन्याय किया है; स्त्री समाज! तुझे चाहिये कि उसपर तू किञ्चित भी ध्यान न दे और स्त्री जीवन को महत्वशाली जीवन समझती हुई सदा आत्माभिमान रख।

—०—

अबला या सबला

[श्री० मोतीलालजी नाहटा 'विश्वेश']

—०—

क्या कहते हो! 'अबला' हमको!
हम सबला भारत नारी!
जिनके प्रबल तेज को लख कर
कम्पित है दुनिया सारी॥

महावीर से महावीर की
वीर प्रसविनी माताएं।
विश्व-थली पर गाई जाती
जिनकी गौरव गाथाएं॥

मातृ-हृदय की मंजुल प्रतिमा
पावनता शुचिता की खान।
'अबला है या सबला' इसका
परिचय देगा राजस्थान॥

सीता, सावित्री, दमयन्ती
हम भी अब बन जावेंगी।
मीरा और लक्ष्मी के सदृश
वीर काम दीखलावेंगी॥

शदियों की निन्द्रा को तज कर
कर्म क्षेत्र में आई आज।
शीघ्र देख लेना भारत को
पहिना देंगी गौरव-ताज॥

शुभ आशाओं की लतिकाएं
कुसुमित बन लहरावेंगी॥
हम चन्द्र शून्य जीवन-नभ में
'विश्वेश' ज्योति फिर लावेंगी॥



तीन रत्न

[श्रीमती सूरज कुँवारी जी महासती जी]

जैन स्थानक
मंगल—प्रभात

प्रिय श्राविका जी !

पत्र पहुंचा। आपने अब धार्मिक और सामाजिक पुस्तकों का पठन नियमित रूप से करने का जो निश्चय किया है वह जल्दी ही परिणति में आकर चिरजीवी बने यही इच्छा है। आपका यह निश्चय अत्यन्त सराहनीय है। समाज की जो इनी गिनी स्त्रियाँ सुशिक्षिता हैं वे यदि आपही की तरह शिक्षा का उपयोग ज्ञानवृद्धि तथा समाज सेवा करने में करेंगी तो समाज की हीन हालत सुधरने में बिलकुल ही बिलम्ब न लगेगा। बहिन ! आपने पत्र में पूछा है कि "भारत के हरएक समाज से अपना ही समाज विशेषतः स्त्री समाज इतना हीन, दीन एवं क्षीण क्यों होता जारहा है ? और यह दुरवस्था किस तरह सुधरेगी ?" उत्तर इस प्रकार है कि, आत्मा को ऊंची गति में लेजाने के लिये भगवन्त ने तीन रत्नों का उपयोग करने को कहा है। वे तीन रत्न ये हैं—१ सम्यक् ज्ञान २ सम्यक् दर्शन ३ सम्यक् चारित्र। इसी रत्नत्रयी को लेकर आत्मा सिद्धशीला तक पहुंच जाती है। अब आत्मा नीची गति में क्यों गिरती है ? भगवन्त फरमाते हैं कि इस आत्मा में 'नाण, दंसण, चरित्त' का अभाव और अज्ञान, अश्रद्धा व कुशील की बाहुल्यता है।

अब समझ लीजिये कि जो नियम एक आत्मा पर लागू है वही अनेकात्मा पर, अर्थात् समाज तथा राष्ट्र के लिये भी यही नियम अटल रूप से लागू है कारण कि अनेक आत्माओं के समूह को ही हम 'समाज' संज्ञा से पुकारते हैं।

जब तक समाज का प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान दर्शन चारित्र रूपी रत्नत्रयी को प्राण से ज्यादा मूल्यवान समझता है, इन रत्नों को हृदय रूपी सन्दूक में बड़े हिफाजत से रखता है तबतक ही समाज का चमन सदोदित खुशनुमा रहता है, सुगन्धमय बनता है, आबाद रहता है। प्राचीन काल में महिलाओं को देवियाँ कह कर पुकारते थे कारण कि उनमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, भरपूर होने से उनमें देवियों के सर्व सद्गुण निवासित थे। उस वक्त का महिला समाज बहुत ही ऊँचे दर्जे पर पहुंच चुका था। वे ज्ञानी तथा सदाचारिणी होने से पुरुषों के समान ही सर्व क्षेत्र में बड़े २ कार्य यश पूर्वक करती थीं। उनमें कुमारी ब्राह्मी सुन्दरी तथा मैत्रेयी गार्गी के समान इतनी विद्वान देवियाँ थी कि उनकी विद्वता की धाक बड़े २ भाषाविज्ञ गणितज्ञ तथा विवाद पटु पुरुषों पर पड़ती थी। उनकी विरागपूर्ण जीवनी भी अत्यंत त्यागशील तथा परोपकारी है यही कारण है कि

उन महा सतियों का नाम संसार में अजरामर हो गया और बड़े २ महा पुरुषों ने—साधु सन्तों ने भी उनके नाम स्मरण को दैनिक प्रार्थना में योग्य स्थान दिया है। परन्तु बहिन! उसी समाज की हालत आपके लिखे मुजब इतनी खराब, नीचे दर्जे की हो रही है कि उसे देखते ही विचारे मनुष्यों के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। पत्थर भी पसीजने लग जाता है।

यह अनादि काल का नियम है कि जो सबल होता है वह निर्बलों पर राज्य करता है गुलाम बनाता है। इसी नियम के अनुसार पुरुषवर्ग ने भी अबलाओं की आजादी को छीन लिया, ज्ञान क्षेत्र के दर्वाजे बन्द कर दिये और उन्हें 'दासी' के नाम से पुकारने लगे। जहाँ ज्ञान प्राप्त करने की बन्दी हो वहाँ उन्नति की आशाही कैसी? जहाँ पत्नी पति की आत्मोद्धारिणी बनती थी वहाँ अज्ञान के कारण वही स्त्री उपभोग की एक वस्तु गीनी जाने लगी। अपनी कार्यदक्षता, व्यवहार चतुरता, सहनशीलता, प्रेमलता आदि सद्गुणोंके कारण जो गृहिणी अपने गृहको नंदन वन बना देती थी, संसार में स्वर्ग सुख लाकर रख देती थी उसी गृहिणी का घर आज एक कलह की कोठरी, ईर्षा का आवास और अशान्ति का अड्डा बन गया है। हाय! कितनी शोचनीय अवस्था है। ऐसी अवस्था होने का कारण और कुछ नहीं फकत यही है कि वर्तमान युग के पुरुषवर्ग ने इन ज्ञानदर्शन चारित्र रूपी रत्नत्रयी को महिलाओं के पास से छीन कर उन्हें कमजोर, कंगाल और विवेकहीन बनादिया है। इतना विचारहीन बनाया कि अब वे ही स्त्रियां उसी अवस्था में सुख मान कर बैठी हैं। आत्मिकता का अंश भी अब उनमें नहीं रहा। अपने कुदरती मनुष्य हकों को प्राप्त करने की कामना भी उन्हें असह्य होने लगी। अपने कल्याण अकल्याण की कुञ्जियाँ सब पुरुषवर्ग के हाथ सौंप दी, उन्हें अपना स्वयं का कुछ भी विचार नहीं आता। आवे कहाँ से, ज्ञान होवे जब न? प्यारी बहिन! अब आप समझ गई होंगी कि हमारे स्त्री समाजकी अवनति का कारण उनके पास तीन रत्नों का न होना ही है।

अब यदि हमें फिर से उन्नत बनना है, पतन से ऊपर उठना है तो प्रथम जिन जिन साधनों द्वारा ये तीनों रत्न महिलाओं के हाथ आजावें उन २ साधनों को अमल में लाना पड़ेगा। प्रथमतः ज्ञानी बनने के वास्ते विद्या देवी को, सरस्वती को अपने ओसवालों के आंगन में आमन्त्रित कर उसकी पूजा महिलाओं के कर कमलों से करवानी चाहिए।

देवानुप्रिय! इस कार्य के लिये सिर्फ पुरुषवर्ग परही निर्भर न रहना चाहिए परन्तु खुद महिलाओंको ही मैदान में आना चाहिए और अपनी कुदरती शालीनता विनीतता, प्रेमलता को रत्ती मात्र भी चोट न पहुंचे ऐसी रीति से यह महिला उत्थान का कार्य सम्पूर्ण करना चाहिए। अब यह कहने से काम नहीं चलेगा कि "हमारा काम सिर्फ चूल्हा सम्भालना ही है। हमें इस बाहरी कार्य से क्या मतलब?" बहिन, महिलाओं का जीवन एकांगीन नहीं पर सर्वांगीन है। वह घरभी सम्भालती है और वक्त पर सारे संसार का भार भी वहन कर लेती है। वह केवल गृह-सेविका ही नहीं परन्तु समाज सेविका तथा जगत सेविका भी बनती है। वह सिर्फ अपने एक घरको ही कुटुम्ब नहीं समझती है बरन सारे संसार को कुटुम्ब समझती है। जिस तरह अपने पुत्र पुत्रियों के पालनार्थ तन मन भूल जाती है उसी

तरह संसार की संतान के सुख दुःख में भी वह अपना सुख दुःख मान लेती है। यह मातृ जाति का प्राकृतिक स्वभाव ही है। इसी स्वभावानुसार अब हमको हमारे स्त्री जीवन को उच्च बनाने के खातिर, गिरी हुई बहनों को ऊंचा लाने के खातिर तन तोड़ प्रयत्न करना ही पड़ेगा। जो हम झूठी लज्जा और प्रमाद में फंसकर ऐसेही गुम सुम बैठी रहेंगी तो सारी दुनियाँ हमारी तर्फ अंगुली दिखा दिखा कर हंसनी २ कहेगी कि "देखो! जिस राजस्थान में राज्यभूमि की आजादी के खातिर हजारों राजकन्याओं ने वीराङ्गनाओं ने पर्दे से बाहर आकर समरांगण पर अपना शरीर समर्पित किया था, जिस राजस्थानमें उत्कृष्ट चारित्र्य की सम्भालना करने के लिये घोर क्षत्राणियों ने अपनी सखियों सहित शरीर को हंसते हंसते जौहर कर दिया था उसी वीर कुल की रमणियाँ आज अपनी आजादी को, अपने वतन को गुमाकर चुपचाप बैठ गयी! ज्ञानहीन बनगई, शील हीन बन गयी! इस ज्ञान को, चारित्र को, वतनको, कुदरती हक को प्राप्त करने की कल्पना भी उन्हें असह्य होरही है!" अरे रे! बहिन। हमें यह कितनी शर्म की बात सुननी पड़ेगी? नहीं! नहीं! ऐसा कदापि नही होवेगा हमारी बहिनों के साथ हम ऐसा कार्य कर दिखावेंगी कि जिससे दुनियाँ हमें आदर्श की दृष्टि से देखेगी और आत्मा उन्नत हो जायगी। ज्ञान दर्शन चारित्र इस रत्नत्रयी को स्त्री समाज में लाने के खातिर हम आजही से प्रयत्न करनी रहेंगी। हिम्मत से काम करेंगी न कि उपरोक्त वृत्ति से। लेखन, वक्तृत्व, चर्चा आदि साधनों द्वारा समाजको जागृत करके उसमें सरस्वती की स्थापना: प्रथम करेंगी, घर घर में शिक्षा की दिव्य ज्योति लावेंगी और प्राचीन देवियों के मुताबिक हमारा आचार विचार रखेंगी। ज्ञानी श्रद्धावान तथा शीलवान बनेंगी कि जिसके जरिये से समाज का पतन बंद हो कर उत्थान की तारिका उदित होवेगी, फिर से समाज में सुख शान्ति की तथा धार्मिकता की बांसुरी बजने लग जायगी। सर्वत्र आनन्द मङ्गल वर्तेगा।

मतलब कि हमारी अवनति का जो कारण 'तीन रत्नों को गुमा बैठना' है उसी कारण को नाश करना अर्थात इस रत्नत्रयी को फिरसे समाज में ला रखना इसी में हमारी उन्नति है। पत्र बहुत ही लम्बा होगया है। पर हाँ अब आपके ध्यान में सब बातें अच्छी तरह से आगई होंगी। जो कुछ इसमें वीराज्ञा के विरुद्ध जान अनजानपना से शब्द कलम से उतर गये हों तो तस्समिच्छामि दुष्कृत्य। आप श्री को जो और कुछ पृच्छा करनी हो तो जरूर करें यथा शक्ति उत्तर दे दूंगी। आप श्री धर्मवृद्धि करें तथा और भी वहाँ के सर्व जन समूह से धर्म स्मरण कह देवें।

समाज हितैषिणी
सूरज कुंवारी
जैन आर्यिका,



आर्य-ललनाएं

[श्री० रामकुमार जैन, विद्याभूषण]

(१)

आर्य सरस्वति देवी को हैं,
हम मिलकर करते वन्दन।
इस जग में कृतकृत्य होगया,
पाकर जिसे मिश्र मण्डन॥
अरे, शंकराचार्य न समझो,
पुरुषों की ही बुद्धि प्रखर।
आर्य देवियों के मस्तक में,
बहता सदा ज्ञान निर्झर॥

* ॐ *

(२)

काट शीश ऐ जालिम चाहे,
भेद भाल में भाला।
मरते मरते भी अंगुली पर,
वही राम की माला॥
चाहे मेरी लघु जिह्वा में,
अभी लगादे ताला।
किन्तु न रावण ! कभी मिटेगा,
दिल से राम उजाला॥

\+ * +

(३)

नाथ ! विसारी निर्जन बन में
पूर्व कर्म का तम है।
मैं तो किन्तु चरण की दासी
तू मेरा प्रियतम है॥
छोड़ गये हो भले छोड़ दो
मैं न कभी रूठूंगी।
गिरि गह्वर में शशि तारों में
भक्ति सहित ढूढूंगी॥
भौंरों की गुञ्जारों में या
झरनों की झङ्कारों में।
नहीं मिलोगे तो ढूढूंगी
आखिर स्वर्ग विहारों में॥

* ॐ *

(४)

हार गले का लाल गोद का
खोई दोनों थाती।
किन्तु धर्म के हेतु इसीसे
शान्त रहो प्रिय छाती॥
आधा भी हा ! कफन आज चक्री-
के सुत को नहीं प्राप्त।
धर्म न छूटे हो जाये, चाहे
जीवन क्षण यहीं समाप्त॥

* * *

१—ये मण्डन मिश्र की धर्मपत्नी थीं। अपने पति तथा शंकराचार्य के शास्त्रार्थ में ये मध्यस्थ थीं। पति के हार जाने पर इन्होंने स्वयं शास्त्रार्थ किया तथा शंकराचार्य को परास्त किया।

२—सीता को रावण हर ले गया था।

३—राजा नल जुए में हारकर बनवास में चले गये। वहां खिन्न होकर अपनी प्रिया दमयन्ती को सोते छोड़ कर कहीं चले गये थे।

४—महारानी शैव्या ने धर्म संकट में पति पुत्र दोनों को तिलाञ्जलि दे दी थी।

(५)

धर्मराज ! तुम भी भूले हो
मेरी व्यथा कहानी।
हाय ! कलेजे में कसकी है
दुःशासन की बानी॥
पांच पाण्डवों के रहते भी
दुनियां सूनी जानी।
बिखरे केश देख अपने ही
बहा आंख से पानी॥
भीम ! तुम्हारी गदा कहां है
उठो कि रण तांडव हो।
अर्जुन ! फिर गाण्डीव संभालो
आखिर तुम पांडव हो॥
दूध पिलादे नारि सिंहनी
वीर रसों की प्याली।
क्यों न सिंहनी कहें तुझे हम
तू भी तो पाञ्चाली॥

\+ \+ \+

(६)

धन्य धन्य ! ऐ लक्ष्मीबाई
हे झांसी की रानी।
देख देख यह भी नारी थी
ऐ दुनियां दिवानी॥
धमक धमक कर सुना सुना तू
बाल वत्स को लोरी।
एक हाथ से खेल खेल फिर
युद्धाङ्गण में होली॥
होली ! कितना मृदुल शब्द पर
तू उससे भी भोली।
ध्यान यही था झुके न दुश्मन
आगे मेरी झोली॥

* * *

(७)

फीका पड़ा तेज से तेरे
अकबर का भामण्डल।
वीरों का यह तीर्थ बन गया
तुझसे ही गढ़ मंडल॥
कैसे नारि शक्ति को पाती
अत्यल्प शक्ति तीरों की।
ढीले भी शरमाई लखकर
लहरें अबला वीरों की॥

* * *

५—पाण्डवों को १४ वर्ष के वनवास में कर्त्तव्य ज्ञान कराने वाली द्रौपदी।

६—जिसने युद्धमें अपने राज्यकी रक्षार्थ शत्रुओं के दांत खट्टे किये थे।

७—महारानी दुर्गावती। ये गढ़मण्डला नगर की रानी थीं। जिसने अपने पति के मरण के बाद अकबर की फौजको दो बार हराया।

(८)

अचरज है हा! तोड़ ले गया
आलिम गुच्छे गुलतारे।
किन्तु प्रेम से लगा रही हैं
वहीं हिन्द बुलबुल नारे॥

* * *

(९)

हे स्वरूप रानी! स्वरूप अब
तेरा सबने जाना है।
आर्य देश की ललना का कुल
कुल का कुल परवाना है॥

* × *

(१०)

धन्य महात्मा की प्रिय जोड़ी
कौन तुझे सम्मान न दे।
तेरी कौन सहेली ऐसी
जोकि देश पर जान न दे॥
तेरी देश रागिनी में है
कौन भला जो तान न दे।
क्यों न विलिङ्गडन की पत्नी
फिर खद्दर को सम्मान न दे॥

(११)

हाय! पिशाची नर समाज! जो
ऐसे उच्च गुणों की खान॥
जहां स्वयं जन्म लेते हैं
हर्षित हो करके भगवान्॥
विश्व-मंच की प्रथम नर्तकी
जो हैं शुभ स्वर्ग सोपान॥
उनका भी अपमान कर रहा
हाय! स्वार्थी वधिक जहान॥
जहां देवियां पूजी जाती,
वहीं देवता का सुखधाम॥
ऋद्धि सिद्धि संपत्ति सुयश भी
लेते आकर वहीं विराम॥
इन्हीं गोद में तो खेले हैं
बुद्ध, वीर, रघुवर, घनश्याम॥
हाथ जोड़ कर नारि जाति को
करते हैं हम पुनः प्रणाम॥



८—श्रीमती सरोजनी नायडू। जिन्हें हिन्द-बुलबुल कहते हैं।
९—पं० जवाहरलाल नेहरू की माता।
१०—कस्तूरी बाई गांधी। जिनसे श्री लार्ड विलिंगडन की पत्नी ने इनसे कहा था कि यदि आप अच्छा खद्दर भेजेंगी, तो मैं पहनूंगी।

ओसवाल महिलाओं की — वर्त्तमान अवस्था और उनके सुधार की आवश्यकता

[श्री० रूपचन्द जी सुराना, बीकानेर]

पूर्व भारत के इतिहास का प्रत्येक पृष्ठ साक्षी है कि पूर्व कालीन भारतीय महिलाएं वास्तवमें आदर्श देवियां थीं। प्रतिदिन भारतवासी लोग प्रातःकाल उठकर जो सीता, सावित्री, राजिमती, चन्दनबाला, सुलसा इत्यादि महा सतियों का नाम स्मरण किया करते हैं यह उनके उस स्थूल शरीर और नाम करण के कारण नहीं है बल्कि उनके वास्तविक सतीत्व पूर्ण गुणों के कारण है। जिन देवियों ने अनेक कष्ट और आपत्तियाँ झेलकर अपने सतीत्व की रक्षा की है, जिन महा सतियों ने अनेक प्रलोभनों और सांसारिक सुखों को लात मारकर वीत राग देव का त्याग मार्ग स्वीकार किया है, जिन वीराङ्गनाओं ने अपने शील के लिये, अपने देश के लिये और अपने धर्म के लिये रण क्षेत्र में वीरता पूर्वक लड़कर अपनी वीरता से भारत की स्त्रियों का सदा के लिये मुखोज्वल किया है उन देवियों का वास्तव में जितना गुणगान किया जाय थोड़ा है। भारत का इतिहास ऐसी २ देवियों की सुयश गाथा से भरा पड़ा है। अपने भक्तों से भरी हुई राजगृही नगरी में भगवान् महावीर देव अंबड़ श्रावक के द्वारा केवल सुलसा श्राविका को धर्म लाभ कहलाते हैं और अम्बड़ द्वारा परीक्षा लेने पर राजगृही नगरी भर में वही एक प्रथम श्रेणी की दृढ़ धर्मी श्राविका प्रमाणित होती है, क्या यह स्त्री जाति की उन्नति का सर्वोपरि उदाहरण नहीं है? सती सुभद्रा पर मिथ्या कलङ्क लगने के कारण चम्पा नगरी के द्वार बन्द हो जाते हैं और किसी के खोले नहीं खुलते, सुभद्रा चलनी द्वारा कूएं से पानी निकाल कर अपनी निष्कलङ्कता प्रमाणित करती हुई चम्पा नगरी के दुवार पर छींटे मारती है और दरवाजा खुल जाता है। क्या यह पूर्ण सतीत्व का महान आदर्श नहीं है?

राजिमती सती को गुफा के अन्दर नग्न अवस्था में देखकर रथनेमी कामाकुल होकर पाप प्रार्थना करता है, सती राजिमती सदुपदेश द्वारा अपने सतीत्व की रक्षा करती हुई पुनः उसे संयम में स्थिर करती है क्या यह सब उदाहरण स्त्री जाति की भूत पूर्व धार्मिक दृढता के प्रबल उदाहरण नहीं हैं? राजपूताने के राजवंश की राजपूतनियों के वीरता पूर्ण कामों से राजपूताने का इतिहास भरा पड़ा है। युद्ध क्षेत्र में वीरता पूर्वक लड़कर पुरुषों के पैर पीछे हटानेवाली वीरांगनाएं इसी देश में थीं। मण्डन मिश्र की स्त्री जैसी विदुषी, लीलावती जैसी गणि-

तम, मृगनयनी जैसी संगीत विद्या विशारद और मीराबाई जैसी हरिभक्त महिलाएं भी इसी देश में उत्पन्न हुई हैं। चित्रकला, ज्योतिष, वैद्यक और शिल्पकला इत्यादि समस्त विद्याओं में भारत की ललनाएं अग्रणीय थीं। जब कि भारत का स्त्री समाज उन्नत अवस्था में था भारत भी 'जगद्गुरु' पद को सुशोभित करता था। आज भारत की वह अवस्था नहीं है और न हमारे समाजकी ही वह दशा है। स्त्री समाज भी आज पतन की चरम सीमा पर स्थित है और अज्ञानता के गहरे गढ़े में पड़ा हुआ है। आज कल की स्त्रियों की पूर्व महिलाओं के साथ तुलना करने पर रात और दिन का अन्तर प्रतीत होता है। आजकल की स्त्रियों में न तो नैतिकता है और न धार्मिकता ही है, न चरित्र सुधार की तरफ लक्ष है और न गृह प्रबन्ध ही की पूर्ण योग्यता है, न बालकों के उचित पोषण ही की दक्षता है और न मितव्ययता पूर्वक चतुराई के साथ गृह सञ्चालन का ही ज्ञान है। बड़ी भयानक स्थिति में आज कल समाज की स्त्रियों का जीवन यापन होरहा है। इस लेख में हम वर्त्तमान समय की स्त्रियों के कुछ दोषों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए प्रार्थना करते हैं कि शीघ्रातिशीघ्र उनका सुधार किया जाय।

(१) हमारे समाज की स्त्रियों में आज जो दुर्गुण प्रवेश कर गये हैं उन सबका प्रधान कारण है "अज्ञान"। जिस ज्ञान को शास्त्रकारोंने दीपक की उपमा दी है, जिस विद्या के बिना मनुष्य और पशु में समानता बताई गई है, जिस शिक्षाके बिना मनुष्य को हिताहित, कर्त्तव्याकर्त्तव्य और हेय, गेय, उपादेय का ज्ञान नहीं हो सकता उसी "ज्ञान" का आज हमारे समाज की स्त्रियों में पूर्ण अभाव है। शिक्षा अभाव के कारण स्त्री समाज में आज भारी भारी दोषों का समावेश होगया है। उनको यह मालूम ही नहीं है कि हमारा कर्त्तव्य क्या है और यही कारण है कि वह अपने स्त्रियोचित कर्त्तव्यों से एक दम गिरी हुई है। वह अपने आवश्यक कर्तव्यों को छोड़कर अकरणीय कामों में प्रेम पूर्वक लगी हुई हैं इसलिये समाज की उन्नति के लिये इस समय सब से अधिक स्त्री शिक्षा की आवश्यकता है।

(२) अज्ञानता के कारण से जो दूसरा दोष भयानक रूप से स्त्री समाज में प्रविष्ट हुआ है वह है "गृह कलह"। जिस घरमें एक से दो स्त्रियाँ एकत्रित हो जाती है वह घर गृह कलह का एक क्षेत्र हो जाता है! जरा जरासी व्यर्थ की बातों पर सासु बहू में झगड़ा होता है, ननद भौजाई में लड़ाई होती है और देवरानी जेठानी में कलह हो जाता है! अज्ञानता के कारण वह इतनी असहनशील हो जाती है कि जरासी प्रतिकूल बात को भी सहन नहीं कर सकती। परस्पर ताना मारना, आक्षेप करना, कटाक्ष करना, और एक दूसरे के दोषों को बढ़ा चढ़ा कर प्रगट करना यही गृह कलह का प्रधान कारण है। भाई भाई में परस्पर प्रेम होता है, बाप बेटे में परस्पर स्नेह की अविरल धारा बहती है और माता पुत्र में पूर्ण स्नेह होता है किन्तु हमारी महिलाएं घर में आतेही कलह का ताण्डव नृत्य खड़ा करके पिता पुत्र, भाई भाई, कुटुम्ब परिवार में वैर का बीज बो देती हैं। आज अगर उनमें शिक्षा का प्रचार होता तो उनको मालूम होता कि सासू को बहू के प्रति कैसा स्नेह पूर्ण व्यवहार रखना चाहिये और बहू को सासु के प्रति कैसा भक्ति पूर्ण आदर भाव

रखना चाहिये। देवरानी जिठानी में किस तरह का प्रेम पूर्ण व्यवहार आवश्यक है और घर में प्रत्येक मनुष्य के प्रति किस प्रकार सद्व्यवहार रखना चाहिये। गृह कलह के कारण स्वर्ग समान गृहस्थी नर्क के रूप में परिणत हो जाती है। स्त्रियों का कलह बिलकुल व्यर्थ की निर्जीव बातों पर होता है किन्तु उसका परिणाम आगे चलकर इतना भयङ्कर हो जाता है कि घर का घर नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। स्त्री जाति पर 'कलह' का एक भारी कलंक है और इससे बढ़कर कोई राक्षसी कार्य्य हो भी नहीं सकता। एकही माता के उदर में पैदा होनेवाले, एकही साथ भरण पोषण होकर बड़े होनेवाले और एकही साथ खेल कूदकर प्रेम पूर्वक साथ पढ़नेवाले दो सहोदर भाइयों को बैरियों के रूप में परिणित करानेवाली वर्त्तमान समय की स्त्रियों को राक्षसी के सिवाय दूसरी उपमा नहीं दी जा सकती। यह सब अज्ञानता का परिणाम है। अज्ञानता के कारण उनको ऐक्य भाव का महत्व मालुम नहीं होता, उनके भीतर सहनशीलता का अभाव हो जाता है और अविवेक का पूर्ण रूप से समावेश हो जाता है। अपने पति की अवस्था और आमदनी का जरा भी खयाल न करके गहनों और कपड़ों के लिये बराबर कलह रखना भी आजकल की स्त्रियों का एक खास दुर्गुण है। दूसरों के देखादेखी अपने पति की स्थिति का विचार न कर केवल अनुचित हठ द्वारा उनके हृदय को हर समय जलाते रहना स्त्री के लिये कभी कल्याणकारी नहीं हो सकता। अपने घरमें सुख शान्ति का साम्राज्य करने के लिये, अपने शरीर और मन की अशान्ति की ज्वाला को दूर करने के लिये और अपने कार्य्य के बोझ को हलका करने के लिये लोग विवाह करते हैं किन्तु अफसोस है कि प्रति हजार में नौ सौ निनानवे इस उद्देश्य सिद्धि में बिलकुल असफल रहते हैं।

भगवान महावीर देव के शान्ति पूर्ण उपदेश को नित्य प्रति उपाश्रयों में जाकर त्यागी वैरागी महात्माओं के मुख से श्रवण करनेवाली स्त्रियों की आर्त रौद्र ध्यान की यह प्रवृत्ति वास्तव में एक आश्चर्य्य का विषय है। धर्म कार्यों में अग्रसर गिनी जाने वाली, नियमित रूप से महावीर देव का शान्ति पूर्ण प्रवचन सुननेवाली, तपश्चर्या करके शरीर को सुखा देनेवाली और सामयिक प्रतिक्रमण में नियमित लगी रहनेवाली स्त्रियाँ जब घर में इस प्रकार कलह करती हैं तब कहना पड़ता है कि भगवान का शान्तिमय उपदेश उनके अन्तःकरण तक नहीं पहुंचा है केवल रूढ़िवश व्यवहार पालन किया जारहा है। लोग दिखाने के लिये धर्म करना और जीवनमें इस प्रकार आर्त रौद्र ध्यान और कलह की प्रवृत्ति रखना कभी आत्मोन्नति नहीं कर सकता। *कहा भी है कि—*

मन मैला तन ऊजला, बगला कपटी अंग।
उससे तो कौवा भला, तन मन एकही रंग॥

पूज्य महिलाओं! आपकी धर्म करणी पूर्ण रूप से तभी सफल गिनी जायगी जब कि आपके प्रत्येक कार्य्य में शान्ति और विवेक को अग्रस्थान दिया जायगा।

(३) मनुष्य जीवन में विवेक का स्थान बहुत ऊँचा है। जहाँ विवेक होता है वहीं मनुष्यत्व टिक सकता है। विवेकहीन जीवन मनुष्यत्व हीन होता है। आजकल की स्त्रियों में विवेक का पूर्ण रूप से अभाव है। वह यह नहीं जानती कि हमको

अपनी अवस्था, स्थिति, और कर्त्तव्यानुसार प्रत्येक कार्य करना चाहिये। विवेक पुकार पुकार कर कहता है कि स्त्री जाति को अपने शील और लज्जा की रक्षा के लिये कभी भी कोई अपशब्द मुख से न निकालना चाहिये और बड़ों बूढ़ों के सामने अमर्यादित बोलचाल और व्यवहार नहीं करना चाहिये किन्तु आजकल की स्त्रियाँ विवाहादि अवसरों पर ऐसे २ अश्लील गन्दे गीत गाया करती हैं कि जिन्हें सुनकर लज्जा को भी लज्जा आजाती है। दिनभर जो स्त्रियाँ लज्जा की पुतली बनकर मुख पर लम्बा घूंघट ताने हुये फिरती हैं और अत्यन्त आवश्यकता होनेपर भी स्पष्ट बोलकर बड़ों को कुछ कहना नहीं चाहती, केवल ढोरों को तरह छिचकारी द्वारा ही इशारे किया करती हैं वेही स्त्रियाँ जब गीत गाने के समय इस प्रकार अमर्यादित व्यवहार करती हैं तब कहना पड़ता है कि विवेक और लज्जा हीनता का यह सर्वोपरि उदाहरण है। इसीलिये कविवर मैथिली शरण गुप्त ने कहा है कि—

रखतीं यही गुण वे कि गन्दे गीत गाना जानतीं,
कुलशील लज्जा उस समय, कुछ भी नहीं वे मानतीं ॥
हंसते हुए हम भी अहो, वे गीत सुनते सब कहीं,
हे भाइयों! रोदन करो, यह बात हंसनेकी नहीं ॥

गन्दे गीतों ने समाज में असदाचार का कुछ कम प्रचार नहीं किया है। कम वयस्क कन्यायें जब अपनी माता बहिन भावजादि द्वारा इस प्रकार के निर्लज्जता पूर्ण, कामोत्पादक गाली गलौज के गीत सुनती हैं तो वे भी इसी प्रकार निर्लज्जता पूर्ण काम सीख जाती हैं। कोमल मस्तिष्क और दिल पर इस प्रकार के व्यवहारों का शीघ्र ही प्रभाव पड़ता है और वे उसे ग्रहण कर लेती हैं। माता पिताओं द्वारा बाल वय में इस प्रकार के असद् उदाहरण दिखाये जाते हैं यही कारण है कि समाज के बालक बालिकाओं में लज्जा, विनय, सदाचार और विवेक का अभाव पाया जाता है। जिस स्त्री जाति का लज्जा एक परम धर्म है वही स्त्री जाति जब इस प्रकार निर्लज्जता पूर्ण व्यवहारों का आचरण करती है तब कहना पड़ता है कि स्त्री जाति पतन की चरम सीमा तक पहुंच चुकी है।

(४) लज्जा की रक्षा के लिये आजकल जिस प्रकार का परदा रखा जाता है वह भी एक अविवेक पूर्ण कार्य है। लज्जा स्त्री जाति का एक भूषण है और उसकी रक्षा करना स्त्री जाति का परम धर्म है किन्तु आजकल जिस प्रकार की लज्जा रखी जाती है और लज्जा की रक्षा के लिये जिस प्रकार का परदा रखा जाता है वह एक हास्यजनक व्यवहार और मूर्खता पूर्ण कार्य है। लज्जा की रक्षा के लिये लम्बा लम्बा घूंघट रखा जाता है किन्तु ओढ़ना इतना महीन और बारीक ओढ़ा जाता है कि जिसके भीतर से सिर का प्रत्येक केश गिना जा सकता है। मुख पर परदा रखा जाता है किन्तु जबान पर कोई परदा नहीं रखा जाता वह केंची की तरह दिन भर काटती हुई चलती ही रहती है। लम्बे २ घूंघट के नीचे जब पेट की तरफ नजर जाती है तो परदे का असली स्वरूप खुले हुए उदर देवता के दर्शन से ही मालुम हो जाता है। घर में यदि कोई सभ्य, इज्जतदार मनुष्य आयेंगे तो उनको आदर सन्मान देना और उनकी जल भोजनादि द्वारा सेवा सुश्रुषा करना तो किनारे रहा उनके पूछे प्रश्न का कोई उत्तर ही न दिया जायगा और छिचकारी द्वारा या तो उनसे पशुओं का सा व्यवहार किया जायगा या एकदम

चुप्पी मारकर कोना पकड़ लिया जायगा! क्या यह परदे के नाम पर एक अविवेक पूर्ण कार्य नहीं है? अच्छे २ माननीय पुरुषों से बोलते हुए उनकी लज्जा चली जाती है और धोबी, मोची, कहार, नाई, दर्जी इत्यादि हलकी जातियों के मनुष्यों से हर समय हंसर कर खुले मुंह बातें करते उनकी लज्जा को जरा भी आंच नहीं लगती कितने आश्चर्य्य का विषय है! अच्छे मनुष्य घरके भीतर नहीं जा सकते किन्तु नीच जाति के लोग घरके कोने २ में घूम सकते हैं, कितना अविवेक है!!

बाहर गांवों में रहनेवाली स्त्रियों के साथ शहरी स्त्रियों के शारीरिक स्वास्थ्य की तुलना करने पर जमीन आसमान का फर्क प्रतीत होगा। गांवों की स्त्रियों का शरीर दृढ़ और सुडौल होता है तथा शहरी स्त्रियों का शरीर कमजोर, ढीला और तेज रहित होता है। इसका कारण क्या है? गांवों की स्त्रियाँ स्वतन्त्रता पूर्वक गांवों और खेतों में घूम सकती हैं और शहरी स्त्रियाँ परदे की ओट में घरकी चहार दिवारी से बाहिर नहीं निकल सकती। शहरी स्त्रियाँ दिन भर निकम्मी घर में पड़ी रहती हैं, शरीर श्रृङ्गार करने और निन्दा विकथा करने के अलावा उनका कोई काम नहीं होता इसके विरुद्ध गांवों की स्त्रियाँ खुली हवा में घूमती हैं, घर में पीसना, पकाना कूएं तालाब से पानी लाना, गाय भैंस दोहना और खेतोंका काम करना इत्यादि कामों से अपने शरीर को पूर्ण परिश्रम पहुँचाती हैं जिससे उनका शरीर सुदृढ़ और मन साहसी रहता है। रोग के परमाणु उनके मजबूत शरीर पर कोई असर नहीं कर सकते। रात दिन घरकी बन्द हवा में बिना काम पड़ी रहनेवाली स्त्रियाँ निर्बल और साहसहीन हो जाती हैं। उनका ढीला अंग, पीला चहरा, बेडौल शरीर और कान्तिहीन मुख मण्डल परदे की बुराई को स्पष्ट रूप से घोषित करता रहता है। शारीरिक अस्वस्थता की एक न एक शिकायत हर समय बनी ही रहती है। उनकी सन्तान भी इसी प्रकार दिन ब दिन कमजोर होती जारही है इसलिये परदे के नाम पर घुसी हुई अविवेक पूर्ण कुरीति को समाज की स्त्रियों के अन्दर से दूर करने की अत्यन्त आवश्यकता है। परदे का विरोध करने से हमारा यह प्रयोजन कभी नहीं है कि स्त्रियों को भी पुरुषों के समान ही स्वतन्त्रता दे दी जाय अथवा उनका आदर्श पश्चिमी सभ्यता पर हो। फ़ैशनेबुल पश्चिमी सभ्यता की पक्षपातिनी मेम साहिबाओं की हमारे समाज को कोई आवश्यकता नहीं है। हमारे समाज को इस समय प्राचीन सभ्यता की उपासिका, पति परायण, लज्जा और विनय की मूर्ति, परिश्रमी और गृह कार्य दक्षा, विवेकशीला एवं ज्ञानवती देवियों की ही आवश्यकता है। परदे के नाम पर फैले हुए अविवेक को दूर करने और विवेक पूर्ण परदे को अपनाने की प्रार्थना कर इस प्रसंग को यहीं स्थगित किया जाता है।

(५) शरीर और लज्जा की रक्षाके लिये वस्त्रों की आवश्यकता है। सर्दी, गर्मी, हवा और बरसात से शरीरका बचाव करनेके लिये तथा लज्जा रक्षार्थ वस्त्र मनुष्य मात्र के लिये एक अत्यन्त आवश्यक वस्तु है और इसी उद्देश्य से वस्त्रों का व्यवहार प्रचलित हुआ है। किन्तु आजकल इसके व्यवहार में इतना अविवेक होगया है कि असली उद्देश्य तो किनारे रहा वस्त्र पहिनकर उल्टा उद्देश्य विरुद्ध प्रदर्शन किया जाता है। जो वस्त्र शरीर को शीत,

ऋतु में सर्दी से रक्षा करने के लिये व्यवहार किया जाता है वहाँ आजकल क्या देखा जाता है कि शीत काल के कड़ाके की ठण्ढ में आपानी प्याज का या महीन मलमल का ओढ़ना ओढ़कर शरीर की शोभा बढ़ाई जाती है। जहाँ ग्रीष्म ऋतु में लज्जा रक्षा करते हुए कुछ महीन वस्त्र पहिनने चाहिए वहाँ अपना बड़प्पन बताने के लिये बनारसी जरी का दुपट्टा या किनारी गोटेसे भरा हुआ ५ सेर वजन का ओढ़ना ओढ़ा जाता है। कहिये कितनी अज्ञानता है जहाँ वस्त्रों की आवश्यकता लज्जा की रक्षा केलिये होती है वहाँ आजकल की अज्ञान औरतें इतने महीन ओढ़ने और साड़ियों का व्यवहार करती है कि जिन के भीतर से शरीर का एक एक रोम गिनती किया जा सकता है। घूंघट के भीतर से मुख स्पष्ट रूप से दृष्टि गोचर होता रहता है। साड़ी और चोली के भीतर से निर्लज्जता बड़े चौक पुकारती रहती है। सभ्य समाज आज मारवाड़ी औरतों को देखकर हंसता है, कारण उनके वस्त्र इतने असभ्यता पूर्ण होते हैं कि जिनमें न तो लज्जा की ही रक्षा होती है और न अन्य कोई विशेषता ही है। सतीत्व और लज्जा की रक्षा के लिये स्त्री को उद्भट वेष परित्याग को अत्यन्त आवश्यकता है। उद्भट वेष निर्लज्जता और अश्लील का परिचायक है। इसलिये अपने सतीत्व और लज्जा की रक्षा चाहनेवाली स्त्रियों को स्वदेशी वस्त्रों का व्यवहार करना चाहिये। जिन स्वदेशी वस्त्रों के ग्रहण से स्त्रियां अपने शील और लज्जा की रक्षा कर सकती हैं, जिन स्वदेशी वस्त्रों से देश के उद्योग धन्धों की वृद्धि होती है, जिन स्वदेशी वस्त्रों के कारण भारत के साठ कोटि रुपये विदेश जाने से बचते हैं, जिस स्वदेशी के कारण गरीबों को रोटी और निराश्रयों को आश्रय मिलता है, जिस स्वदेशी के कारण से हिंसा की उत्तेजना बन्द होती है और अहिंसा धर्म का पालन होता है, जिस स्वदेशी के कारण देश की पराधीनता का नाश होता है उस स्वदेशी को छोड़कर जो महिलाएं पापपूर्ण विलासिता मय विदेशी वस्त्रों का व्यवहार करतीं हैं कहना पड़ेगा कि उनके जैसी महा मूर्खा स्त्रियाँ संसार में किसी भी स्थल पर न मिलेगीं।

हो रहे हैं दीन हम हा! सब पराई चालसे।
फूलें फलें यदि प्रेम करलें अब स्वदेशी मालसे॥

स्वदेशी वस्त्रों के समान विदेशी वस्त्र न तो टिकाऊ होते हैं और न आजकल दामों में ही सस्ते हैं। सुन्दरता में भी आजकल स्वदेशी वस्त्र विदेशी वस्त्रों से टक्कर लेते हैं। इसलिये धन, धर्म, लज्जा, देश, स्वास्थ्य और मजबूती इत्यादि सब दृष्टियों से विदेशी वस्त्रों की अपेक्षा स्वदेशी वस्त्र अधिक लाभ दायक हैं। प्रत्येक महिला को प्रतिज्ञा पूर्वक विदेशी वस्त्रों का परित्याग कर स्वदेशी को अपनाना चाहिए।

(६) शरीर की सुन्दरता के लिये आभूषणों की भी एक महान अनर्थकारी प्रथा आजकल की स्त्रियों में पड़ी हुई है। घरकी स्थिति चाहे जैसी हो किन्तु इसकी आजकल की बधुओं को कोई परवाह नहीं है। नित्य इसीके लिये घरमें कलह झगड़ा करना आजकल की स्त्रियों का एक स्वभाव सा हो गया है। पति कर्ज के बोझसे दबे हुए हों, कारबार में सब तरफ घाटे के शिकार बने हुए हों, दूसरों के तकाजों से पतिदेव का नित्य अपमान होता हो

अथवा रकमकी तङ्गी के कारण पतिदेव का कारबार बन्द होकर साख मारी जाती हो इसकी कुछ भी परवाह किये बिना हजारों रुपयोंके गहनों को तिजोरी में बन्द करके रख देना आजकल की स्त्रियों का एक महान घृणित स्वभाव है। देखा गया है कि पति ऋण के कारण जेल जाता है किन्तु उसी पति के बनाये हुए गहने देकर पत्नी उसको जेल जाने से नहीं बचाती, कहिये इससे बढ़कर नीचता और पतन फिर क्या हो सकता है? आजकल जिस प्रकार के गहने पहिने जाते हैं वे किसी भी तरह लाभ कारक नहीं हैं। माथे पर आधा सेर तीन पाव वजन का बोर बांधा जाता है जिससे मस्तक की नाड़ियां निकम्मी होकर ज्ञानतन्तु कमजोर हो जाते हैं और आँखों को नुकसान पहुंचता है। जिसको "बोर" कहते हैं वह वास्तव में बोर ही होना चाहिए। सेव, अनार और मतीरा नहीं होना चाहिए। पैरों में दो ढाई सेर वजन के कड़े और दो ढाई सेर वजन के अन्य गहने, सब मिलाकर करीब पांच सेर वजन रहता है जिससे स्वतन्त्रता पूर्वक चला भी नहीं जाता है। हाथों की बंगड़ियां हाथों को जकड़े रखती हैं और हाथों का कोई काम सुख पूर्वक नहीं हो सकता। हजारों रुपये खर्च कर परतन्त्रता मोल लेनेवाली भद्राओं को कौन बुद्धिमती कहेगा? आर्थिक दृष्टि से गहनों में पैसे बन्द करके रखने की बनिस्पत कारबार में लगाना देश हित और धनोपार्जन केलिये अधिक हितकर है। शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी आजकल के गहने बहुत हानि करते हैं। सुन्दरता के लिये जिन गहनों का उपयोग किया जाता है उस सुन्दरता में मारवाड़ी स्त्रियों को कितनी सफलता मिलती है यह किसी भी विद्वान से पूछ लीजिये कि मारवाड़िन औरतें, जो पैर, हाथ, सीना, मस्तक और कानों में, मतलब कि तमाम बदन में गहनों से मढ़ी हुई फिरती हैं, वे अधिक सुन्दर प्रतीत होती हैं या सोने की दो दो चूड़ियां, अंगूठी और गले में एक हार या सांकल पहिनी हुई गुजराती महिलाएं। मारवाड़ी देवियों! आप अपनी अज्ञानता के कारण भलेही यह समझें कि इन गहनों से शरीर को लादकर साक्षात् इन्द्रकी अप्सराओं के समान सुन्दर प्रतीत होती हैं किन्तु विद्वानोंकी दृष्टि में और ईश्वर के दरबार में उसी समय आप सच्ची वास्तविक सुन्दर गिनी जायगीं जब कि आपके आभूषण होंगे शील, लज्जा और विनय।

(७) जिस घरकी स्वामिनी मितव्ययी होती है उस घर में कभी आर्थिक संकट उपस्थित नहीं होता। फूहड़ फिजूल खर्च करनेवाली स्त्रियों के कारण से ही आज समाज में इस प्रकार आर्थिक हा हा कार मचा हुआ है। फूहड़ और फिजूल खर्च औरत जिस रसोई में दो आदमियों को तृप्त नहीं कर सकती चतुरा स्त्री उसी में चार आदमियों को आनन्द के साथ जिमा सकती है। फूहड़ के घर और बच्चे मैले कुचैले घृणात्मक नजर आते हैं और चतुरा के साफ सुथरे और सुहावने प्रतीत होते हैं। फिजूल खर्च औरत का पति कभी सुख की नींद नहीं सो सकता क्योंकि उसके कारण एक न एक चिन्ता और दुःख उसको घेरेही रहता है। फिजूल खर्च औरत के यहाँ खोंमचेवाले, फेरीवाले, बिसाती आदि का आवागमन बराबर बना रहता है। आजकल की फूहड़ और अपव्ययी औरतों के कारण समाज का गृहस्थाश्रम इतना अव्यवस्थित और अशान्तिपूर्ण होगया है कि जिसको मनुष्य जीवन के दुरुपयोगरूप

में ही उल्लेख किया जा सकता है। जिस घर की स्वामिनी चतुरा, बुद्धिमती, मितव्ययी और विनय वती होती है वह घर स्वर्ग की उपमा के योग्य है। ऐसीही स्त्रियों का जीवन धन्य है और जिसके घरमें ऐसी स्त्रियाँ हैं उसीका गृहस्थाश्रम सफल है। कहा भी है कि:—

जो नारी शुचि चतुर अरु, स्वामी के अनुसार,
नित्य मधुर बोलै सरस, लक्ष्मी सोई निहार।

× + ×

घर कारज चित दे करै, पति समझे जो प्राण,
सो नारी जग धन्य है, सुनियो चतुर सुजान।

× × ×

लिखी पढ़ी और धर्म चित, पति सेवा में लीन,
अल्प तोषिणी यश सहित, नारी ही लक्ष्मी चीन।

* * *

आजकल की कर्कशा, झगड़ालू, ईर्षालू, फिजूल खर्च और छाती छोलू स्त्रियों को उपरोक्त दोहों पर गम्भीर भाव से विचार करना चाहिए और अपने सारे दुर्गुणों को परित्याग कर आदर्श महिला बनना चाहिए।

(८) जैन धर्म की विशेषताओं में सबसे प्रबल विशेषता यही है कि वह कर्म के सिद्धान्तों पर अटल विश्वास रखता हुआ वहम, पाखण्ड और कुदेव पूजन का तीव्र विरोध करता है। किन्तु आजकल के इस धर्म के अनुयायी ही सब से आगे बढ़ कर पाखण्ड और अन्ध श्रद्धा, वहम और कुदेव पूजा के गहरे गड्ढे में पड़े हुए हैं। आजकल की स्त्रियाँ घर में जरासी कुछ विपत्ति होतेही या किसी के बीमार होते ही जैन शास्त्रानुसार कुदेव कहाने वाले देवों के देवालयों में आकर घुटने टेक देती हैं। मानों मनुष्यों का दुःख सुख और जीवन मरण उन देवताओं के ही हाथ में है। उन महिलाओं को धर्म के सिद्धान्तों पर बिलकुल दृढ़ता नहीं है। बच्चों के ज़रा कुछ तकलीफ होते ही भैरूजी की जात, मावड़यांजी का भोग और पीरजी की सोरणी बोल देती हैं। भूत प्रेत का डर हर समय उनकी छाती पर चढ़ा रहता है। छोटे २ बच्चों के हृदय में भी यह वहम बिठा दिया जाता है जिससे वे जन्म भर के लिए डरपोक और भीरू हो जाते हैं। कामन, टूना, झाड़ा, मन्त्र ग्रह, गोचर इत्यादि पर आजकाल की स्त्रियों का इतना अधिक अन्ध विश्वास है कि अगर उतना विश्वास भगवान् महावीर देव के वचनों पर होजाय तो कल्याण होजाय। किसीको भैरूजी का इष्ट है तो कोई राम सा पीर की भक्त है कोई पीरजी की कब्र के रोज फेरी देती है तो कोई रोज पीपल के ऊपर पानी डालती है। जैन धर्मानुयायियों के घरोंमें यह काम किसी दशा में शोभा नहीं देते। आजकल के मुंह रखी और मन भाती कहने वाले गुरु भी, समकितमें बट्टा लगाने वाले इस कुदेव पूजन केलिये जोरदार उपदेश देकर प्रतिज्ञा पूर्वक इसे बन्द नहीं करवाते। इन अज्ञान औरतों को कोई हाथ देख कर ठग लेता है तो कोई शनिश्चर की ग्रह लगाकर ठग लेता है। इनकी अज्ञानता यहाँ तक बढ़ी हुई है कि पुत्रोत्पत्ति के लिये पीरजी की कब्र पर मौलवी साहब का झाड़ा दिराने जाती हैं और बच्चों की जरासी बीमारी में चीलों को 'बाहरली बली' बोवाती हैं। जिन देवों को मिथ्यात्वी देव कहकर पुकारा जाता है उनको एक समकित में दृढ़ श्राविका कैसे पूज सकती है! माना कि आप उसमें धर्म नहीं

समझती किन्तु आप हाथ में आगम ग्रन्थ लेकर कहिये कि क्या आपके कर्म सिद्धान्तानुसार किसीको आपके सुख, दुःख, जीवन, मरण में कम ज्यादा करने की शक्ति है? फिर क्यों धर्म सिद्धान्तों पर विश्वास रखकर दुःख के समय आयंबिल इत्यादि तपश्चर्या करके उदय भाव में आये हुए कर्मों को दूर करने का यत्न न करके उलटे इस प्रकार के कर्म बन्धन करते हैं। पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मों के फलानुसार सुख दुःख होते हैं उस पर अश्रद्धा करके इस प्रकार कुदेव और मिथ्यात्व पूजन करना सद्गुनी श्राविका के लिये शोभा जनक नहीं हो सकता। आत्मबल द्वारा इस पाप को परित्याग कर सच्ची श्राविका पद को सुशोभित करें यही पार्थना है।

(६) घर में कुटुम्ब या कोई रिस्ते में अगर किसी की मृत्यु हो जाती है तो रोने पीटने का एक मूर्खता पूर्ण रिवाज भी हमारे समाज की स्त्रियों में इस समय मौजूद है। किसी आत्मीय प्रेमी की मृत्यु पर आन्तरिक दुःख होकर रोना-आना अस्वभाविक नहीं है और न वह किसी के रोकने से रुक ही सकता है किन्तु उसमें जोर जोरसे चिल्लाने और छाती माथा भांगने की कोई आवश्यकता नहीं होती। आजकल रूढ़िवश किसी की मृत्यु पर जोर जोर से रोना और माथा छाती कूटना एक मूर्खतापूर्ण कार्य है। जिस मनुष्य की जीवित अवस्था में "यह मर जाय तो अच्छा है" ऐसा विचार किया जाता है उसीके मरने पर चिल्ला चिल्ला कर आकाश पाताल एक कर दिया जाता है कहिये कितना आश्चर्य है! जोर जोर से रोना, चिल्लाना, माथा ठोकना, छाती पीटना और बनावटी स्वर में दुःख प्रगट करना यह सब असभ्यता पूर्ण रिवाज़ एक सभ्य समाज केलिये कलंक है। किसी इष्ट प्राणी के वियोग होने पर वास्तविक दुःख को भी धर्म पर दृष्टि रखकर त्याग करने का महापुरुषों का आदेश है वहां पर झूठ मूठ इस प्रकार ढोंग करके कर्म बन्धन करना और सभ्य समाज की दृष्टि में हंसी का पात्र बनना बुद्धिमानी का काम नहीं है इसलिये इष्टकी मृत्यु के शोक का शीघ्रही त्याग कर देना चाहिये और शोक चिन्ह उतार देने चाहिये तथा झूठ मूठ रोना चिल्लाना ढोंग करना सर्वथा परित्याग करना चाहिये।

प्रिय पाठकवृन्द! सीता, चन्दनबाला और सुलशा की उत्तराधिकारिणियों को अयश गाथाको इस प्रकार लिखते हुए हृदय में एक तीव्र वेदना का अनुभव होता है। आज भी समाज में सैकड़ों सद्गुणी देवियाँ मौजूद हैं जिनके पुण्य प्रताप से समाज अपने पूर्ण गौरव की एक झलक के साथ जीवित है, इस लेख में जो कुरीतियाँ बतलाई गई हैं ऐसी देवियों का उनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। देवियां क्षमा करें क्योंकि समष्टि का ध्यान रख कर लेख लिखा गया है। अब स्त्रियों को अपने वास्तविक कर्त्तव्यों का थोड़े शब्दों में बोध कराकर इस लेख को पूर्ण किया जायगा।

ऋषि मुनि और शास्त्रकारों ने सती साध्वी स्त्री की महिमा वर्णन की है। लोक में भी कहावत है कि "एक चन्द्रमा नव लाख तारा, एक सती और नगर सारा"। सती का पुण्य प्रभाव बड़ा जबरदस्त होता है। प्रातःकाल उठकर इसीलिये सब लोग सतियों का नाम स्मरण किया करते हैं। सतियों की तारीफ में कहा गया है कि:—

सतीनां पाद रजसा सद्यः पूता वसुन्धरा।
पतिव्रतां नमस्कृत्य मुच्यते पातकान्नरः॥



"कुगुरु कुदेव कभी नहीं सेवू" है मन वच काया से नेम,
कहां जा रहीं लिए थालियां, फिर कुल कामिनियां अति-प्रेम ?
क्या यह जिन-वाणी की पूजा, या है उसका ही अभिमान !
अथवा पीरों की पूजा में. खोना है अपना श्रद्धान !!

सती के चरण की रजसे पृथ्वी पवित्र होती है और पतिव्रता को नमस्कार करने से मनुष्य पापोंसे मुक्त होता है। अपने स्त्री जन्म को सफल करने के लिये प्रत्येक महिला को अपना जीवन सुधारना चाहिये। सब से प्रथम जीवनोन्नति के लिये विद्या प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता है। बिना शिक्षा के कभी किसी की उन्नति नहीं हो सकती। धार्मिक नैतिक और सांसारिक सब प्रकार की उन्नतियों में शिक्षाही प्रधान साधन है।

शिक्षा बिना कोई कभी बनता नहीं सत्पात्र है।
शिक्षा बिना कल्याणकी आशा दुराशा मात्र है॥

इसलिये कन्याओं! विवाहिता स्त्रियों और विधवाओं सबके लिये शिक्षा प्रचार के प्रचुर साधन खड़े कर देने चाहिए और प्रत्येक महिला को प्रेम पूर्वक पढ़ना चाहिए। जिससे वह अपने कर्त्तव्यों को भली प्रकार पहिचान सके। शिक्षा किस प्रकार की होनी चाहिये? यह एक प्रश्न है और इसका उत्तर इस लेख में देना विषयान्तर होगा किन्तु संक्षेप में इसका उत्तर यही है कि जिस शिक्षा के द्वारा स्त्री वास्तविक "गृहलक्ष्मी" बनकर अपने कर्त्तव्य का बराबर पालन करती रहे वही शिक्षा वास्तविक स्त्री शिक्षा कही जानी चाहिये। घरका काम जैसे सीना पीरोना, पीसना, पकाना, बाल पोषन, सेवा शुश्रुषा, इत्यादि सब स्त्रीयोचित कर्त्तव्यों में दक्ष होना यह प्रत्येक स्त्री का परम कर्त्तव्य है। प्राचीन ग्रन्थों में भी स्त्री कर्त्तव्य बतलाते हुए कहा है कि:—

शय्योत्पाटन गेहमार्जन पयः पाविश्य चुल्लिक्रिया।
स्थाली क्षालन धान्यपेषण भिदा, गो दोहतन्मन्थने॥
पाकस्तत्परिवेषणं समुचितं, पात्रादि शौच क्रिया।
स्वश्रू भर्त ननन्ददेवृविनमाः कृत्यानि बद्धा वधू॥

सो कर उठे बाद सबके बिछौने उठाना, घरको साफ करना, पानी छानना, चूल्हा साफ करना, बासी बरतन मांजना, आटा पीसना, गाय भैंस दोहना, दही बिलोना, रसोई करना, सबको यथा योग्य परोसना, बर्तन धोना, सासू, पति, ननद, देवर जेठ वगैरह का विनय इत्यादि कार्यों में सु बहू सदा तत्पर रहती है। इसी प्रकार एक दूसरे श्लोक में ससुराल में बहूको अपने कर्त्तव्यों का पालन किस प्रकार करना चाहिये, बतलाया है।

सुश्रूषस्व गुरुन्कुरु प्रिय सखी वृतिन्स पत्नीजने।
भर्तु र्विप्रकृता पिरोषणा तयामास्म प्रतीपं गमः॥
भूयिष्ठं भवदक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सोकिनो।
यांत्येवं गृहिणीमदं युवतयोवामाः कुलस्याधयः॥

तुम सास ससुरको सेवा करना, शौक्य के साथ प्रिय सखी जैसा व्यवहार रखना, कभी तुम्हारा पति तुम्हारा अपमान करे तो भी तुम उसके प्रतिकूल न चलना। नौकर चाकरों के साथ बहुत भलमन्साई का व्यवहार रखना और घरकी उन्नति में गर्व नहीं करना। ऐसा करने से तू "गृहिणी" इस पद केलिए सुयोग्य गिनी जायगी तथा इससे उलटा चलनेवाली स्त्री कुलकी आधी व्याधि रूप गिनी जाती है। स्त्री को अपने पति का परमेश्वर के समान समझना चाहिए तथा प्राणपणसे उसकी सेवा करनी चाहिए। पतिव्रता स्त्रियों को किस प्रकार पति सेवा करनी चाहिए इसके लिये एक जगह कहा है कि:—

आगतं दयितं तमालोक्य त्वरिता च जलासनैः।
तांबूलैर्व्यञ्जनैश्चैव, पाद सम्बाहनादिभिः॥

तथैव चाटु वचनैः खेद सन्नोदनैः परैः।
या प्रियं प्रीणयेत्प्रीता त्रिलोकी प्रीणिता तया ॥

अर्थात् जो स्त्री बाहिर से पतिदेव को आते देख कर शीघ्रता पूर्वक उनको शीतल जल और भोजन देती है, पान सुपारी देती है, हवा डालती है तथा पगचम्पी करती है और मिष्ट मनोहर वचन बोलकर प्रीति पूर्वक उनका खेद दूर करती है एवं प्रसन्न करती है वह स्त्री समझना चाहिए कि त्रिलोकी को प्रसन्न कर रही है। सुशीला स्त्री को फिजूल खर्ची और कृपणता दोनों से बचना चाहिए। सदा हंस मुख और मिष्ट भाषी होना चाहिये। निकम्मी बैठ कर दूसरों की निन्दा तथा विकथा कभी नहीं करना चाहिए। सदा घरके किसी न किसी काम में व्यस्त रहना चाहिए। "निकम्मों के दिलों में शैतान का वास" इस कहावत के अनुसार निकम्मे बैठे हुए प्राणी को सदा उन्माद सूझता है। अपने घर में सदा काम में लगी हुई स्त्री कभी कुपथगामिनी नहीं हो सकती। अपने शील और सतीत्वकी चिन्तामणि रत्न के समान कीमती समझ कर उसकी सदा सावधानी के साथ रक्षा करनी चाहिए। शास्त्रकारों ने शील की रक्षा के लिये निम्नलिखित उपाय बताये हैं।

लज्जा दया दमो धैर्य, पुरुषालाप वर्जनम्।
एकाकित्व परित्यागो, नारीणां शील रक्षणम् ॥

लज्जा रखना, दया भाव रखना, इन्द्रियों का दमन करना, धैर्य रखना और पर पुरुषों से अधिक वार्तालाप न करना एवम् एकान्त वास का त्याग करना यह स्त्री की शील रक्षा के साधन हैं।

हमारे समाज की प्रत्येक नारी अपने कर्त्तव्यों का सदा सावधानी पूर्वक पालन करती रहे यही आन्तरिक भावना हैं।

—o—

नारी शक्ति से

[विद्यारत्न पं० मूलचन्द जैन "वत्सल" काव्यकलानिधि]

(१)

कौन कहता तुम्हें, शक्ति अवतार नहीं ?
विस्मृत निजात्म शक्ति फिर से सम्हार लो।
कौन कहता है कर्तव्य असि-धार नहीं ?
कर्तव्य बाना दृढ़ता से फिर धार लो।
कौन कहता है पूर्व गौरव भण्डार नहीं ?
खोया हुआ फिर से स्वगौरव भण्डार लो।
कौन कहता है तुम्हें, वीरा-विश्वसार नहीं
आओ ! उठो !! लो ! हां ! निजपूर्व अधिकार लो।

(२)

आओ ! एकबार ! हां हां ! एकबार वीरतासे,
तेज मूर्ति बनकर भीरुता भगादो आज।
बार न लगाओ, पतवार पकड़े ही आओ !
वारापार कष्ट-सिंधु पार ही लगादो आज ॥
नारी ! हां हा !! नारी ! एक बार नारी जीवन में,
ज्योति नव जीवन की फिर से जगादो आज।
भारत की शक्ति बन, जननी ऐ ! भारत में,
एकबार जीवन का गुरुमंत्र गा दो आज ॥

—:o:—

विलायत यात्राकी स्मृतियां

[श्री गोपीचन्द जी धाड़ीवाल बी० एस० सी० एल० एल० बी०]

(१)

महिला समाज के आदर्श

महिला समाज पर दोष लगाना एक बड़ा अपराध है फिर भी हम लोग प्रायः जिस समाज का हमें कुछ भी अनुभव नहीं है उसके बाहरी व्यवहारों को देखकर भीषण परिणाम निकालने लग जाते हैं। एक पर्दा का पक्षपाती सज्जन, जिसके मस्तिष्क में यह बात बैठी हुई हो कि यदि स्त्रियां घरकी चारदिवारी के बाहर की कोई भी वस्तु देख लेगीं तो उस घरसे और घरके लोगों से ममत्व छूट जावेगा, यदि वह एकाएक मद्रास या महाराष्ट्र या गुजरात में चला जाय तो शायद ही वह किसी महिला को सच्चरित्र समझेगा। इसी प्रकार जब हम यूरोपियन महिलाओं को स्वतन्त्र रूपसे फिरती देखते हैं तो हमारे मनोंमें भी अनेक कल्पनाएं उठती हैं। लेकिन जैसे यह कल्पना ठीक नहीं कि पर्दे में रहनेवाली सबही स्त्रियां सच्चरित्र होती हैं उसी प्रकार यह कल्पना करना भी ठीक नहीं होगा कि स्वतन्त्र फिरनेवाली यूरोपियन महिलाओं में सच्चरित्रता नहीं होती। पर्दे में भी दुश्चरित्रता आसकती है और स्वतन्त्रता में भी सच्चरित्रता का लोप हो जाय यह आवश्यक है। असल में सच्चरित्रता अथवा दुश्चरित्रता का आधार आदर्शों और संस्कारों पर है, पर्दा यदि सच्चरित्रता का साधन है तो वह बहुत ही निर्बल साधन है। यदि आज भारतवर्ष को अपनी स्त्रियों के चरित्र का कुछ अभिमान है तो वह पर्दे के कारण नहीं किन्तु उन आदर्शों के कारण है कि जिनके लिये सीता आदि सतियों ने अनेक कष्ट सहन किए हैं।

यदि विचार किया जाय तो पर्दे की प्रथा ने उन आदर्शों को किसी अंश में धुंधला कर दिया है। आज पर्दा सच्चरित्रताका साधन नहीं समझा जाता है किन्तु केवल एक रूढ़ि है। अपने पति के साथ बाहर निकलना निर्लज्जता समझी जाती है पर नौकर अथवा नौकरानी के साथ जाने में पर्दा है, सम्बन्धियों से पर्दा करना और अजनबियों से बोलना इस बात का सबूत है कि पर्दा सच्चरित्रता के उद्देश्य से नहीं रखा जाता है। पर्दा शिक्षा में बाधक है, उस शिक्षा में कि जिसके द्वारा आदर्श उज्वल बने रहें। पर्दा स्त्रियों को आत्म रक्षा के भी अयोग्य बना देता है। मतलब यह है कि आदर्श गिराकर आप कितनाही पर्दा करें वह सच्चरित्रता की रक्षा नहीं कर सकेगा, अलबत्ता दुश्चरित्रता को किसी हदतक छिपा सकेगा। इसी प्रकार आदर्शों को जीवित

जागृत रखते हुए यदि पर्दा न भी हो तो भी सच्चरित्रता सुरक्षित रहेगी।

यूरोपियन महिलाएं जो स्वतन्त्रतापूर्वक फिरती हैं इसी ही से उनकी सच्चरित्रता पर सन्देह करना एक भूल है। उनमें स्वाभिमान है, आत्मा रक्षाकी शक्ति है, निर्भीकता है, ज्ञान और अनुभव है यह उत्तम श्रेणी के गुण हैं और उत्तम गुणों के समूहको ही सच्चरित्रता कहते हैं।

इसके सिवाय भिन्न २ समाजों में और भिन्न २ समय में भिन्न २ विचार और आदर्श रहे हैं। समाज के विकाश के साथ उन आदर्शों का विकाश और समाज के ह्रास के साथ उनका भी ह्रास होता रहा है। या यों कहें कि समय के फेर के साथ उन आदर्शों में भी फेरफार होते रहे हैं और उनका अच्छा या बुरा प्रभाव समाज पर पड़ता रहा है। श्री ऋषभदेव भगवान् के समय में युगलियोंमें भाई बहिन ही विवाह कर लेते थे और यह अनुचित नहीं समझा जाता थे। द्रौपदी के पांच पति होते हुए भी वह सती कहलाई। इसी ही प्रकार से कम से कम हिन्दुओं के पुराणों में तो सैकड़ों कथाएं ऐसी मिलेंगी जिससे पातिव्रत धर्मके अथवा स्त्रियोंके धर्म सम्बन्धी आदर्शों में फेरफार होता रहा है और यह कहना भी अत्युक्ति नहीं होगा कि उन आदर्शों का विकाश होते२ हम उस उच्च आदर्श पर पहुंचे जिसे आज पातिव्रत धर्म अथवा सतीधर्म कहते हैं जिसके अनुसार स्त्री के लिये पति के जीवन में अथवा उस को मृत्यु के पश्चात भी अन्य पुरुष की इच्छा करना पाप है। यदि यही विकाश क्रम जारी रहता तो सम्भव है एक पतिव्रत की तरह एक पत्नीव्रत भी कम से कम कुछ समाजों में अनिवार्य धर्म बन जाता। पर भारतवर्ष के दुर्भाग्य से समय ने पलटा खाया। उसने राजनैतिक स्वतन्त्रता के साथ मानसिक स्वतन्त्रता भी खोई, निज के आदर्शों पर से उसका विश्वास उठने लगा। विजेताओं के आदर्शों का प्रभाव पड़ने लगा। आत्मविश्वास मिटने लगा और समाज का, उसकी विचार प्रणाली का और उसके आदर्शों का विकाश रुक गया।

भारतीय आदर्शों में और पाश्चात्य आदर्शों में बहुत भिन्नता है। दोनों के विकाश मार्ग भी भिन्न रहे हैं। दोनों की परिस्थितियों में भी भेद रहा है। भारतीय इतिहास के बौद्ध काल में भारत की जो उन्नत अवस्था थी उस समय यूरोप की बहुत हीं गिरी हुई हालत थी। भारतवर्ष में जनता के जीवन पर धर्म सिद्धान्तों का सदा प्रभाव रहा है यूरोप में प्राचीन काल में ईसाई धर्म का यदि कुछ प्रभाव था भी तो वह कमही होता गया। भारतीय आदर्शों का विकाश सदा आत्म संयम (Self restraint) की ओर होता रहा, इसके विपरीत पाश्चात्य आदर्श स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता की ओर बढ़ते रहे हैं। भारतीय सभ्यता सदा कर्त्तव्य पालन पर जोर देती रही है, पाश्चात्य सभ्यता अधिकार छीनने पर। भारतीय सभ्यता का आधार सहयोग है पाश्चात्य सभ्यता का प्रतिद्वन्द्वता। तबही भारतवर्ष में सीता, दमयंती आदि सतियों की पूजा होती है जिन्होंने अपने पतियों के कारण भीषण कष्ट सहे, इङ्गलैण्ड में उन स्त्रियों की पूजा होती है जिन्होंने पुरुषों से लड़कर अधिकार छीने। भारतीय उन्नति का आधार कष्ट सहन और आत्मबल है पाश्चात्य सभ्यता का पशुबल, यह तो महात्मा गांधी जी के असहयोग आन्दोलन से प्रगट ही है।

इन्हीं कारणों से यूरोपीय महिलाओं के जीवनमें उतने बन्धन नहीं जितने भारतीय महिलाओं के जीवन में हैं, और जो बन्धन हैं भी वे दिन दिन ढीले होते जाते हैं। उनका विकाश व्यैक्तिक स्वतंत्रता की ओर बढ़ रहा है। जहां भारतीय कन्याएं अपने माता पिता द्वारा निश्चित किये हुए पति की सेवा करना अपना धर्म समझती हैं वहां यूरोपीय महिला को अपना पति स्वयं ढूंढना पड़ता है। भारतीय 'सहयोग' प्रमुख सभ्यता के अनुसार एक कुटुम्ब में पुरुषों के और स्त्रियों के भिन्न भिन्न कर्तव्य हैं, स्त्रियां बच्चों के लालन पालन, घर के प्रबन्ध इत्यादि द्वारा कुटुम्ब की सेवा करती हैं और पुरुष अर्थोपार्जन तथा बाहरी प्रबन्ध द्वारा कुटुम्ब की सेवा करते हैं। यूरोपीय 'प्रतिद्वन्दिता' प्रमुख सभ्यता के अनुसार स्त्रियां कहती हैं कि यदि पुरुष अर्थोपार्जन करें तो हम ऐसा क्यों न करें और यह प्रतिद्वन्दिता धीरे धीरे गुणों और दोषों सब ही बातों में आने लगी है। यूरोप में भी कोई जमाना था जब स्त्रियों के सामने पुरुष सिग्रेट तक नहीं पीते थे, आज स्वयं स्त्रियां सिग्रेट पीती हैं। यूरोपीय महायुद्ध के समय, पुरुषों के युद्ध में चलेजाने के कारण, स्त्रियों को उनकी जगह काम चलाना पड़ा इस से पुरुषों और स्त्रियों की प्रतिद्वन्दिता का भाव और भी बढ़ गया। अब प्रत्येक बात में स्त्रियां पुरुषों की समानता करती हैं। जहां भारतीय सभ्यता के अनुसार भाई बहन का एकान्त में बैठना निषेध है, वहां यूरोप में स्त्रियां पुरुषों के साथ ही खेलती हैं कूदती हैं घूमती हैं, नाचती हैं एक ही साथ नदियों में न्हाती हैं। छुट्टियों के दिनों में ग्राम बागों में अथवा समुद्र के किनारे के नगरों में जहां लोग हवा बदली को जाते हैं आप जावें तो देखेंगे कि हजारों पुरुष स्त्रियों के जोड़े लेटे हुए धूप खा रहे हैं। वहां का दृश्य देखकर किसी भी भारतीय के और विशेष कर भारतीय महिलाओं के दिल में धक्का लगे बिना नहीं रह सकता। लेकिन उन देशों की रीति रिवाजों तथा आर्थिक स्थिति के कारण वहां कई बातें, जिनसे हमारे दिल को धक्का पहुंचे, अनिवार्य सी होगई हैं।

कन्याओं को अपने पति स्वयं चुनने पड़ते हैं। जब तक वे पुरुषों में अच्छी तरह हिलें मिलें नहीं तब तक न तो वे किसी से परिचय कर सकती हैं और न किसी के गुण दोष ही जान सकती हैं। वहां के नाच की प्रथा वर कन्या के मिलने का खास उपाय है। माताएं कन्याओं को अपने जान पहचान वालों के नाच उत्सवों में—क्लबों इत्यादि में भेजती हैं। वहां वे पुरुषों से परिचय करती हैं और इस प्रकार परिचय से प्रेम और यदि आर्थिक बाधा न हो तो प्रेम से विवाह हो जाता है। पुरुषों से स्त्रियों की संख्या अधिक होने के कारण पुरुषों को विजय करने में कन्याओं में प्रतिद्वन्दिता रहना स्वभाविक है और वे कोई तो अपने गुणों द्वारा और प्रायः अपने हाव भाव खेल कूद इत्यादि द्वारा पुरुषों के हृदयों को विजय करने की चेष्टा करती हैं। विवाह विच्छेद प्रथा भी इस रिवाज का स्वभाविक परिणाम है।

वैवाहिक जीवन अकेले जीवन की अपेक्षा महंगा भी अधिक होना है तथा उस में खेल कूद नाच तमाशों की स्वतन्त्रता भी कम हो जाती है। बच्चों के लालन पालन इत्यादि के संकट भी बढ़ जाते

हैं इसलिये प्रायः पुरुषों और स्त्रियों की इच्छा विवाह को जितने दिन टाल सकें उतने दिन टालने ही की रहती है।

इन सब उदाहरणों से पाठक समझ सके होंगे कि यूरोपीय सभ्यता का, जिसके प्रतिद्वन्दिता, और स्वतन्त्रता (स्वच्छन्दता ?) मुख्य स्तम्भ हैं, वहां की स्थिति स्वभाविक परिणाम है। इस से यह परिणाम निकालना उचित नहीं होगा कि वहां की स्त्रियां प्रायः सदाचार हीन हो हैं। मगर यह तो मानना पड़ेगा को स्त्री जीवन के यूरोपीय आदर्श भारतीय आदर्शों के बराबर उच्च नहीं हैं। भारतीय सभ्यता के स्तम्भ सहयोग और आत्म संयम हैं। यदि प्रतिद्वन्दिता, सहयोग से उच्चतम सिद्धांत हो, यदि स्वच्छन्दता और स्वार्थ, आत्म संयम और सेवा से उच्च हो सकते हों तो यूरोपीय आदर्श भारतीय आदर्शों से उच्च हो सकते हैं।

जिस ब्रह्मचर्य पर भारतीय सभ्यता में इतना जोर दिया गया है उसके लिये वहाँ की भाषा में कोई शब्द नहीं है। कई विद्वानों के विचारानुसार ब्रह्मचर्य केवल, अनावश्यक मूर्खता हो नहीं, एक असम्भव अप्राकृतिक आदर्श ही नहीं किन्तु शरीर और स्वास्थ्यके लिये भी हानिकारक है। विवाह एक पवित्र संस्कार नहीं है किन्तु एक कन्ट्राक्ट अथवा इकरारनामा है जो दोनों पक्ष की रजामन्दी से विच्छेद हो सकता है। इन भावों के कारण अमेरीका में तो विवाह और विवाह विच्छेद एक खेल के समान होते जाते हैं। वहां की स्थिति देखने से ही जान पड़ सकता है कि पुरुष स्त्री क्यों जहां तक हो विवाह नहीं करना चाहते और यदि विवाह करते हैं तो सन्तान की इच्छा नहीं रखते।

यद्यपि यूरोप आज हमारा विजेता है इसलिये वहां की विवाह पद्धति, वहां की स्वच्छन्दता, वहां की विवाह विच्छेद प्रथा, वहां का ब्रह्मचर्य का आदर्श न मानते हुए बड़ी उमर तक अविवाहित रहना इत्यादि अनेक बातें हमें सुहावनी लगती हैं और उनके अनुसार शिक्षा द्वारा, कानून द्वारा और प्रचार द्वारा हम अपनी समाज का "सुधार और 'उद्धार' करने की चेष्टा करते हैं तथापि इसमें कई सामाजिक रोग अवश्य आजावेंगे जिनकी भीषणता हमारी सामाजिक कुरीतियों से भी अधिक होगी।

अन्य कई बातों में विदेशियों की नकल करके हमने देशकी पराधीनता की बेड़ियां जकड़ी हैं। उनकी फैशनों की नकल करके विदेशी वस्तुओं का प्रचार बढ़ाया और देश की गरीबी बढ़ाई है। इसी प्रकार से हमारी महिलाओं के सामने यूरोपीय आदर्श रख कर हम देश के कल्याण की आशा नहीं कर सकते।

जब हम पाश्चात्य आदर्शों के विषय में यह लिखते हैं तो हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि पाश्चात्य स्त्रियों से हमारी स्त्रियां कुछ भी नहीं सीख सकती और न हमारा यह ही तात्पर्य है कि हमारी स्त्रियों की स्थिति संतोष जनक है।

पाश्चात्य स्त्रियों से स्वास्थ्य और सफाई, बच्चों के लालन पालन सम्बन्धी बातें हमारी स्त्रियां सीख सकती हैं, जो राष्ट्र के उद्धार के लिये बहुत आवश्यक बातें हैं। सच पूछा जाय तो भाषणों और लेखों द्वारा स्त्रियां राष्ट्र की इतनी

उन्नति नहीं कर सकती जितनी घर में अपना कर्त्तव्य पालन द्वारा वे कर सकती हैं। भाषण और लेख तो उन्नति के बहुत हल्के साधन हैं, चाहे इस समय विशेष परिस्थिति के कारण उन्हें अधिक महत्व दे दिया जाय।

हमारी महिलाओं में भी बहुत सुधार की आवश्यकता है पर वह सुधार पाश्चात्य आदर्शों को सामने रखकर कदापि नहीं होना चाहिये। भारतीय सभ्यता और आदर्शों का जो विकाश कई कारणों से (जिन में से अशिक्षा भी एक मुख्य कारण है) रुक गया है उसे फिर चालू करना चाहिये। स्त्रियों को केवल अक्षर ज्ञान ही नहीं पर उच्च शिक्षा देना चाहिये जिस से बुद्धि, हृदय और आत्मा तीनों का विकास हो, गृह प्रबन्ध, समाज, देश और कुटुम्ब सेवा (भाषणों और लीडरी द्वारा नहीं, किन्तु सच्चे त्याग द्वारा) की शिक्षा दी जानी चाहिए।

प्रायः यह तर्क की जाती है कि पुरुष स्वयं तो ऊंचा आदर्श नहीं रखते और महिलाओं से ऊंचे आदर्श की आशा करते हैं। इस तर्क के करनेवाले, पुरुष को स्त्री से अधिक महत्व देते हैं। इस तर्क का यही भाव निकलता है कि क्यों कि पुरुष अधिक महत्वशाली प्राणी है, स्त्री को उसके देखा देखी करना चाहिये। किन्तु बात इससे विपरीत ही है। स्त्री जाति का महत्व पुरुष जाति से अधिक है, माता के रूपमें वह पुरुष की जननी ही नहीं किन्तु प्रथम गुरु है, उसके भविष्य की निर्माता है। इसीसे भारतवर्ष में माता का प्रेम सबसे ऊंचा प्रेम समझा जाता है। प्रत्येक स्त्री को माता और बहिन के सदृश समझने का उपदेश दिया जाता है। यूरोप में इस प्रेम का इतना महत्व नहीं। वहां महत्व है प्रेमी और प्रेमिका के प्रेम का, जिसे कवि कल्पना में चाहे जितना उच्च, सुन्दर, और पवित्र बनादें, वास्तव में विषय ही की ओर जाना है। उसमें वह शान्ति कदापि नहीं आसकती जो मातृ प्रेम में।

इसलिये स्त्रियों के सामने पुरुषों का आदर्श रखकर यह तर्क करना कि पुरुष अमुक काम करते हैं तो स्त्रियोंको क्यों मना किया जाता है, स्त्री जाति के महत्व को घटाना है और माताके उच्च आसन को नष्ट करना है। स्त्री जाति अपने त्याग से अपने उच्चादर्शों से सदा पुरुष जाति को सत्य मार्ग पर लाती रही है, भविष्य में भी वह उसी महत्वपूर्ण आसन पर बैठ कर उसी माता के पवित्र प्रेम द्वारा और अपने त्याग के बल पर पुरुष जाति को सत् पथपर लाती रहे, यही हमारी कामना होनी चाहिये और इसी उद्देश से हमें स्त्री शिक्षा का प्रचार अथवा अन्य 'सुधार' करने चाहिये।

इस स्थानपर हालही में 'जैसोर महिला कानफरेन्स' की सभापति श्रीयुक्ता मोहनी देवीने जो भाषण दिया है उसका एक अंश देना अनुचित न होगा। वे कहती हैं—"हम विदेशी प्रभाव में आकर सब कुछ खो चुके हैं किन्तु हमारी स्त्रीत्व का अकलंक सतीत्व गुण विदेशियों के बुरे हानिकारक प्रभावों का मुकाबला करते हुए भी अभी तक उज्ज्वल है और सारे संसार के आश्चर्य और आदर का पात्र है। कहीं ऐसा न हो कि, अपनी ही मूर्खताके कारण हम उस अनमोल रत्न को खो देवें"। यही हमारा आदर्श होना चाहिये।

—॰—

गृह कलह और उसे दूर करने के उपाय



[लेखिका— एक गृहिणी]

पुराने जमाने की स्त्रियाँ आज कलकी मूर्खा स्त्रियाँ जैसी न थीं। वे ईर्षा द्वेष तथा कलह का नाम तक नहीं जानती थीं। वे घरमें शांति पूर्वक रहा करती थीं। सास ससुर तथा पति इत्यादि की भक्ति पूर्वक सेवा किया करतीं। इस में ही अपने को सुखी मानतीं। घरवालों सब को प्रसन्न रखने के कारण ही लोग उनको गृह लक्ष्मी कहते थे। परन्तु आज स्त्रियाँ कलह प्रिय हो गयी हैं। गृह कलह के कारण आप तो दुखी रहती ही हैं। पर घरवालों को भी चैन नहीं लेने देती हैं। चारों ओर अशांति घेरे रहती है। गृह शांति नष्ट होने के कारण उस घरमें जितने आदमी होते हैं उनमें कोई भी प्रसन्न नहीं रह सकता।

उस घर में धन की भी कमी हो जाती है। मानलो एक घर में दश हजार रुपये हैं। पांच भाई पांच बहुएं हैं, बाल बच्चे हैं, लेकिन कलह के कारण वे अलग अलग हो जांय तो क्या हो? रुपयों की पांती होनेसे दो दो हजार बंट जाते हैं। एक नौकर एक नौकरानी से जहां काम चल रहा था वहां अब पांच पांच की जरूरत हो गई! मतलब यह है कि जहां एक रुपये में काम चलता था उस जगह आज पांच बिना काम नहीं चल सकेगा।

घर में फूट हो जानेसे गृह व्यवस्था बिगड़ जाती है इससे घरकी कोई पूरी साल समाल तक नहीं करता। "तूं ही राणी तूं ही राणी कुण घाले चुल्हे में छानी" इस तरह की दशा हो जाती है। और कभी कभी तो यहाँ तक बात बढ़ जाती है कि घरके आदमी तथा बाल बच्चों के लिये भोजन तक नहीं बनता। उसको तो परवाह ही नहीं करती और घोर कलह मचाये रहती हैं। अगर घर में कोई बीमार हो तो उसको भी वे कोई प्रकार की पूछ ताछ नहीं करतीं। घरमें ४-५ स्त्रियाँ हैं लेकिन ईर्षा के कारण आपस में वह तो जानती है वह करेगी वह जानती है वह करेगी इससे घर की व्यवस्था बहुत खराब हो जाती है। इससे सिवा हानी के कोई लाभ नहीं लेकिन आज कल तो प्रायः घरों में ऐसी ही स्त्रियाँ हैं। सौ में एक दो की बात अलग है। स्त्रियों के कारण ही भाइयों में आपस में फूट पड़ जाती है। कारण वे रात दिन अपने पति का कान भरने लगती हैं और पति उनके फन्द में पड़ जाते हैं। रात दिन कलह कर माता तथा पिता से बैर चला देती हैं। उनसे भी अलग हो जाती हैं। यह बड़े दुःख की बात है कि जो माता पिता अपनी सन्तान को इतने कष्टों से पालते पोसते हैं—जो माता सन्तान को नौ

महीने तो पेट में रखती है फिर अपने सारे सुख गमा कर लालन पालन करती है, कभी कभी तो रात भर जागती है, अपना इससे बढ़ कर और कोई आनन्द नहीं मानती—अहो माता के ऐसे निस्वार्थ प्रेम को वे भूल जाते हैं। खाली पत्नी के फन्द में पड़ जाते हैं। यह स्त्रियों में सब से बड़ा दोष है कि यह अपने पति को माता पिता से अलग करावा देती है। यह बड़े आश्चर्य्य की बात है कि पति तो उनको देवता से भी बढ़ कर लगता है और पति के माता पिता शत्रु के समान लगते हैं। यह कितने दुर्भाग्य की बात है ! यदि पतिको देवता समझती हो तो उनके माता पिता अवश्य देव हैं। कलह से घराणा तथा इज्जत सब नाश हो जाती है। दूसरों को हंसी तथा बात बनाने का सुअवसर मिल जाता है। मनुष्य इसलिए ही स्त्रियों को स्वतंत्र नहीं छोड़ना चाहते क्योंकि जब ऐसी हालत में ही वे कलह मचाये रहती हैं तो स्वतंत्र होने पर तो वे अपना मन माना करने लगेंगी तो सिवाय हानी के लाभ नहीं। अब मैं नीचे गृह कलह के कारण और उसे दूर करने के उपाय बताती हूं।

पहली बात है सासू का कठोर व्यवहार और बहूकी असहनशीलता। सास हमेशा ही बात बात में अपना बड़पण दीखाती है। कहीं कहीं तो देखने में आता है कि बहुएं सासू की आज्ञा अनुसार चलती हैं, रात दिन काम में लगी रहती हैं तो भी सासू उनपर हमेशा कड़ी नजर रखती है। बोलती है तब ही सिरमें डांग की सी लगाती है। ऐसी सासुएं अपनी बहुओं पर प्रेम की दृष्टि से तो कभी नहीं देखती। बहुओं को खाते पीते तथा पहनते और सुखी देखती है तो उनके हृदय में आगसी जल उठती है। अब यदि बहुएं सास के समान हुईं तो उस घरमें रात दिन माथे फूटते रहते हैं। सासू को इतनी कठोरता कभी नहीं करनी चाहिये। उसको यह नहीं समझना चाहिये कि (१) मेरा सब कुछ करने का अधिकार है (२) दूसरों को हर हालत में मेरी आज्ञा पालन करनी चाहिये (३) मेरा दर्जा घरवालों से ऊंचा है। इससे अहंकार होता है। अहंकार के वश में होने से सभी काम अनुचित होते हैं इसी अहंकार से रूखापन आजाता है और फिर अपने नीचे रहनेवालों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं होता यही झगड़े का मूल कारण है। कोई भी मनुष्य अच्छे व्यवहार से वश में हो सकता है कड़ाई अथवा रौब से नहीं। इसलिये सासू को प्रेम न्याय और दया पूर्ण व्यवहार करना चाहिये। सासू को चाहिये कि अपनी बहुओं को बेटी के समान समझे और बहुओं को भी यह चाहिए कि जो कुछ सास कहे वह अनुचित हो तो भी चुप चाप सुनलें। उसके मुंह पर जवाब न दें और यही समझें कि सास मेरी भलाई के लिये ही सब कुछ कह रही है, वह पति की माता है इसलिये मेरी ही माता है। इस तरह का दोनों के मन का भाव रहे तो लड़ाई झगड़े की नौबत कम आवे। सासू को चाहिये कि बड़े प्रेम के साथ बहुओं से काम करावे तथा जहाँ दोष देखे तहाँ उन्हें धीरज और प्रेम के साथ बतला दे। किसी भूल के लिये झीड़कना, डाट डपट करना यह बड़ी भूल है। इससे कलह की जड़ जमती है और भूल भी नहीं सुधरती क्यों कि डाट

ऊपर से दोष करने वाला जिद्दी हो जाता है और अपनी भूल को नहीं सुधारता। कलह दूर रखनेके लिये गृह-स्वामिनी को चाहिये कि वह अपने नीचे सभी को समान भावसे देखे। कोई जिनस देवे तो सबको बराबर दे और कम हो तो अपने पास रखले'। किसी के दोषों पर कुछ न कहना और किसी को बात बात में फटकारना कलह बीज बोना है।

दूसरी बात नौकर नौकरानियों के कारण ही डाह और कलह हुआ करती है। उनका पेट हामला सावला से भरता है। पाँच सात मीठी मीठी बातें इधर में कह दी और आगे जाकर यह कह दिया कि फलानी तो तुम्हारी निन्दा कररही थी इस प्रकार एक दूसरे में बैर भाव होजाता है और लड़ाई झगड़ा शुरू होता है। इसलिये नौकर नौकरानियों की ऐसी २ बातों पर ध्यान नहीं देना चाहिये और वे किसी की निन्दा अथवा प्रशंसा करें तो यह समझ कर कि वे कुछ ठगना चाहती हैं उनकी बातों में नहीं आना चाहिये और उन्हें फटकार देना चाहिये कि जिससे वे फिर ऐसा काम न कर सकें।

तीसरी बात जो कलह कराती है वह यह कि स्त्रियाँ अपने मन के वहम कभी नहीं हटाती। इस पर कान लगाये रहती हैं कि दूसरी क्या कहती है, अगर कोई दूसरी अपनी ही बात क्यों न करे चट उनसे झगड़ा मांड़ देती है और कहती हैं कि यह सब बात मेरे लिये तो कही ही है। जो कलह कारणी स्त्रियाँ हैं वे किसी को भी प्रिय नहीं लगती हैं उनसे मेलप की और झगड़ा मोल लिया! जो कोधिन हैं वे हमेशा कुढ़ती रहती हैं और इससे दूसरेकी अच्छी बातों को भी अपनेही ऊपर घटा समझ कर बुरा मतलब निकाल लेती हैं। इसीसे झगड़ा शुरू होता है। इसलिये कलह दूर करने के लिये मन को शांत और साफ रखना बड़ा आवश्यक है। किसी बात को स्थिर चित्त से सुनकर, धीर मन से विचार कर ही उस पर अपनी राय कायम करनी चाहिये। पहिले से आल गूंथ कर रखने से जो बात सामने आती है वैसी ही लगती है। इससे चित्त चञ्चल और अधीर होता है और आखिर स्वर्ग से घर में कलह फैल जाता है।

चौथी बात यह है स्त्रियों में बहुत बुरी आदत है कि वे हमेशा एक दूसरे के दोष ढूंढ़ती रहती हैं। इससे बहुत कलह होनेका भय है। यदि वे दोषको न देखकर गुणों को ही देखती रहें तो उससे लाभ भी हो और झगड़ा भी बहुत कम हो। लेकिन आज वे स्त्रियाँ कहां हैं ? निन्दा से दूसरों का मन दुखता है और दूसरों को दुःख पहुंचाने से बढ़ कोई पाप नहीं। इसलिये दूसरों की निन्दा कर झगड़ा मोल न लेना चाहिये।

पाचवीं बात स्त्रियों को ऐसा विचार कदापि नहीं रखना चाहिये कि पति की सबसे बढ़कर हित-चिन्तक मैं ही हूं। ऐसा भाव रखने से सासू को अथवा घर की अन्य बड़ी बूढ़ी को जरूर ही असह्य होगा इसलिये सदा सास के ऊपर निर्भर रहो कि वह पति हितचिन्तक है। इन सासु की बदौलत ही आज तुमने इन पतिदेव को पाया है। अतएव यह न सोचो कि सासु पति को प्यार नहीं करती! पति का हितचिन्तन और सुख के लिये चेष्टा करती रहो परन्तु बाहिर से यह न दिखाओ कि यदि पति के लिए तुम कुछ न करोगी तो और कोई करनेवाला ही नहीं है।

छट्ठी बात पति अपनी स्त्री को कोई चीज लाकर देता है तो सासको असहनीय लगती है। वह कहती है कि बेटा अपने मते होगया है। मुझको कौन पूछता है। ऐसेही अनाप सनाप बोलती है तथा दूसरों के आगे उसकी नालायकी दिखाने के लिये ये सब बातें कहती है यह बहुएं नहीं सकती हैं और कलह शुरू हो जाता है। ऐसे समय सासको विचारना चाहिये कि पुत्र और बधू में प्रेम है इसलिए जो कोई चीज उसे ला दी है मेरी लज्जा के कारण ही वह चीज छिपाकर दी गई है। गृह मालकिन को अपने नीचेवालों के सुख में सहानुभूति रखनी चाहिये और मर्यादा पूर्ण स्वतन्त्रता से विचरते देखकर दुखी नहीं होना चाहिये। यह एक तरह की ईर्षा है इस वास्ते इसे छोड़कर सन्तोष रखना चाहिये और बहू को भी ऐसा चाहिये कि वह जो चीज मंगवावे वह या तो पति के द्वारा सासू के हाथ दिलवादे अथवा खुद सासू को दिखादे इससे सास तो राजी रहेगी और कलह भी नहीं होगा।

सातवीं बात कलह होने का मूल कारण तो अशिक्षा ही है। शिक्षित न होने के कारण स्त्रियां कोई बात को नहीं विचारती। छोटी २ बात के लिये झगड़ा करने लग जाती हैं। इस वास्ते स्त्रियों को शिक्षा देना जरूरी है। जो स्त्रियां कलह के फल कुफल जानती हैं तो भी कलह को नहीं छोड़ती वह तो स्वभाव का ही दोष है यह क्या शिक्षित होने से छूट सकता है? मेरी समझ में तो यह दोष छुटना मुस्किल है। ऐसे मौके पर तो केवल सहन शीलता से ही काम लेना होगा। स्त्रियों के निकम्मी रहने के कारण कलह ज्यादा हुआ करती है। वे रातदिन काम में लगी रहें तो कलह कम हो क्योंकि ध्यान काम में लगा रहने से अवसर कम मिलता है लेकिन आजकल की जो स्त्रियां हैं वो प्रायः निकम्मी रहती हैं इससे ही कलह ज्यादा होता है।

आठवीं बात जो गृह स्वामी हैं उनको चाहिये कि हमारे घरमें कोई प्रकारसे कलह नहीं होने पावें। ऐसेही उपाय उनको करने चाहिए। आजकल की जो स्त्रियां हैं उनमें कलह होनेका एक कारण यह भी है कि यदि एक घरमें चार बहुएं हैं उनमें दो के बाल बच्चे हैं दो के नहीं हैं तो जिनके बाल बच्चे नहीं हैं वो सोचती हैं कि हमारे तो अभी कुछ खर्चा नहीं पड़ता है उनके खर्च बहुत पड़ता है। इसलिये वो प्रायः अलग होनेके लिये कलह को बढ़ाती हैं। इस जगह धन की बहुत बरबादी होती है। कहावत भी है कि 'सीरको धन स्यालिया खाय।' डाह के कारण वे अनावश्यक चीजों को ही मंगाकर धनको बरबाद किया करती हैं। इस जगह जो गृहस्वामी हैं उनको बहुत सावधानी रखनी चाहिये। सबका सामिल रहना भी बड़ा मुश्किल होजाता है लेकिन अलग अलग होजाने से ही कोई फायदा नहीं होता सिवाय हानि के। जो माता पिता सबको सामिल रखना चाहते हैं तथा कलह का अन्त करना चाहते हैं तो उनको घरका बन्दोबस्त अवश्य करना चाहिये बन्दोबस्त बिना कलह मिटना मुश्किल है। इसलिए मेरी समझ में तो सबसे अच्छा यही उपाय होना चाहिये कि जो लड़कों की तरफ से खरचा लगे तथा चीज वस्तु मंगाई जावे सो लड़कों के अलग २ नाम माण्ड दिया जावे। इससे यह होवेगा कि प्रथम तो कलह का अन्त होगा। दूसरे धनकी बरबादी नहीं होवेगी। तीसरी बात यह है कि मान लो एक ने तो एक पर हजार रुपये खरच दिए और एक

ने पांच भी नहीं खरचे ऐसा जगह भी झगड़े होनेकी सम्भावना नहीं रहेगी । सामिल के तो सामिल और अलग के अलग इससे लोगों में भी सम्पत दीखेगा । घर में भी कई फायदे होवेंगे । जो स्त्रियां कलह कारिणी है वो कलह करती हैं तब उनको किसी प्रकार का ज्ञान नहीं रहता है सिवाय दूसरे का जी दुखाने के । उस समय उनके जी में आता है कि जितना दूसरों को सताऊं उतनाही मुझे सुख मिलेगा । उस समय सास से तथा देवरानी जिठानी इत्यादि से लड़ते समय उनको छोड़कर उनके माता पिता तथा भाई भौजाई इत्यादि तक चली जाती हैं उनको गालियां बकती हैं तथा अनेक प्रकार को बुरी भाषा बोलती हैं। इस जगह वे आपस में जुटने लग जाती हैं। फिर तो कलहका पारही नहीं रहता है। यह स्त्रियों में बड़ी बुरी आदत है कि जरा जरासी बात में आपस में लड़ती हैं और माता पिता को भांडने लग जाती हैं। इससे कलह और ही ज्यादा बढ़ती है क्यों कि वे माता पिता के अपमान को नहीं सह सकती। ऐसे २ अवसरों पर मन में आता है कि जो मुझे एक शब्द कड़ा कहती है तो मैं उसको पांच कहूं । लेकिन इस जगह कोई विचारने वाली स्त्री को चाहिए कि वह सब बातें सहन कर ले और अपने धर्म की ओर दृष्टि रखे अर्थात अपने हित के लिये ऐसे कुमार्ग को छोड़ कर सुमार्ग पर आवे। जो कलह प्रिया हैं वे नरकगामी हैं जो क्षमावान हैं वो स्वर्गगामिनी है—तुम जो कुछ बनना चाहो उसी रास्ते पर आवो।

हमें क्या करना है !

[श्री० सौ० 'नयन-कान्ता']

(१)

निर्भय बनकर शील कमाकर काम जाति का करना है।
ज्ञान देवी की पूजा कर कर घड़ा ज्ञान का भरना है॥
पारतंत्र्य शृंखला तोड़ हमें अवनति सागर तरना है।
रहीं रहीं अबतक अबला अब सबला बनकर मरना है॥

(२)

ऐहिक सुख के लालच में फंस वतन गमाया जो अपना।
ज्ञान, ध्यान, उत्थान आदि का हुआ हाय ! सारा सपना॥
कार्य कारिणी बन सपने को सत्य सृष्टिमय करना है।
रहीं रहीं अबतक अबला अब सबला बनकर मरना है॥

(३)

झूठी लज्जा, कलह, पुरानी बुरी प्रणाली क्रन्दन कर।
शान्ति, कान्ति, निर्भान्ति गुणोंका ज्ञान शक्तिसे मन्थन कर॥
विनय वती बन गृह देवी का कार्य पूर्ण तम करना है।
रहीं रहीं अबतक अबला अब सबला बनकर मरना है॥

(४)

त्याग शील, रणधीर, वीर बन मर्दानी बाना सजकर।
धडाडी के झण्डे नीचे आ शांति देवता को भजकर॥
राजस्थानी मरु महिला का नाम अमलख भर करना है।
रहीं रहीं अबतक अबला अब सबला बन कर मरना है॥





(कुंडलिया)

जीवन-धन बैकुंठ गये, विधवा बिलखत मौन ।
जाति प्रथा के नाम पर, मिले पञ्च प्रवीन ॥
मिले पञ्च-प्रवीन, कहा, औसर होगा ही ।
कभी टूट सकती नहीं, ये प्रथा पुरानी ॥
कहे पञ्च सरदार, तो करता कौन अवज्ञा ।
ज़र जेवर सब लाय धरो अरु कागज़ पट्टा ॥

"आज़ाद"



धन भगती सरबस गई, भयो हाल बेहाल ।
जाति-प्रथा पैशाचिनी, कियो निपट कंगाल ॥
कियो निपट कंगाल, अन्न को नहीं ठिकाना ।
रोवैं बच्चे तीन भूख से मिलै न दाना ॥
कहा पञ्च सरदार, निवारैं केहि विधि लज्जा ।
बाल फिरें अधनंग नंग न पावें लत्ता ॥

"आजाद"

मातृ-जाति पर अत्याचार

[श्री० कविवर—कन्हैयालालजी जैन, कास्तला]

१—सतत चराचर सृष्टि वीरों की रही रङ्गस्थली।
पद-चिह्न पर उन वीर पुरुषों के सदा से वह चली॥
जो देश, काल, स्वभाव-हित व्यवहार्य्य दिखलाने लगीं।
वे रीति नीति समाज में व्यवहार की जाने लगीं॥
२—जब वीर वे कायर बने निज ध्येय से गिरने लगे।
विपरीत गति में चक्र भारत-भाग्य के फिरने लगे॥
व्यभिचार का व्यापार फैला भव्य भारतवर्ष में।
अति घोर तम-सा छागया इस दिव्य तेज-प्रकर्ष में॥

(बाल-विवाह)

३—यवनादि के द्वारा कुमारी क्लेश जब पाने लगीं।
अल्पायु में ही तब सुतायें ब्याह दी जाने लगीं॥
सम्पत्ति जब अपनी न रक्षित कर सके, खोने लगे।
निश्चिन्त—मानो दूसरों को सौंप तब होने लगे॥
४-यों नित्य बाल-विवाह की जड़रीति जड़ पाने लगी।
बलहीनता 'जननी, जनक में, जन्य में' आने लगी॥
निज ब्रह्मचर्य्य अकाल में ही नित्य हम खोने लगे।
बल, कान्ति, वीर्य्य-विहीन, आयुष-क्षीण शिशु होने लगे॥
५—सौभाग्य से जब मुक्ति पाई अपहरण*के क्लेश से।
दुर्भाग्य से तब मिट चले थे वीर† प्रायः देश से॥
अतएव इस कुप्रथा का फिर से सुधार हुआ नहीं।
प्राचीन सभ्य सुरीतियों का फिर प्रचार हुआ नहीं॥

---

* अपहरण—यवनादि कों द्वारा हरा जाना
† वीर सामाजिक नेता। लेखक

६—जिस भीति से यह रीति फैली नष्ट वह तो हो गई।
पर बालिकाओं, बालकों के नाश की जड़ बोगई॥
दूषित पवन तो बन्द वह बह कर उद्यान में।
रोगाणु पर फैला गया उस के निरोगी प्राण में॥

(प्रभाव)

७—यों जन्म से उत्साह ओज-विहीन हम होते गये।
श्री, बुद्धि, विद्या, कान्ति, बल, साहस सभी खोते गये॥
जागृति, चमत्कृति मिट गई चिर नींद में सोते गये।
बोते गये अघबीज मुख नित अश्रु से धोते गये॥
८—व्यभिचार, 'पापाचार फैला पूत भारतवर्ष में।
अपकर्ष का तम छागया उज्वल प्रखर उत्कर्ष में॥
धारा विषाद प्रमाद की बहने लगी उस हर्ष में।
भारत पतित यों होगया उन्नति-पतन-संघर्ष में॥
९—परिणीत शिशु होने लगे 'सति की प्रथा' मिटती गई।
विधवा स्त्रियों की वृद्धि संख्या में लगी होने नई॥
इस देश में यों मातृ-जाति-दशा-पतन होता रहा।
स्वार्थी पुरुष की जाति करती अनाचार रही महा॥

(पुरुष जाति का अत्याचार)

१०—देकर प्रलोभन सैकड़ों पथ भ्रष्ट नित्य किया उन्हें।
फिर जाति-च्युत करके भयङ्कर क्लेश ताप दिया उन्हें॥
जो जाति पापाचार करती वह न दण्डित हो रही।
जिस पर कि अत्याचार होता दण्ड भी पाती वही॥
११—हे वाचकों! इस अधमतर कृति को तनिक धिक्कारिये।
अपने हृदय पर हाथ रख कर एक बार विचारिये॥
इस जन्म में हम तो असंख्य विवाह सकते नारियां।
गति एक पति तक कर सकेंगी किन्तु वे बेचारियां॥
१२—हम चार जीवित पत्नियों पर चार ला सकते अभी।
पर अन्य का पति हीन हो भी ध्यान वे न करें कभी॥
है आठ की लाता वधू वय वृद्ध की हो साठ की।
पर जन्म भर कामाग्नि में विधवा जलेगी आठ की॥

१३—आदेश है—"वे धर्म्म कर्म्मों में सदा लवलीन हों।
नित शान्ति संयम से रहें, शृङ्गार त्यागें, दीन हों॥
पर सपत्नीक सदैव भी हम पाप कर्म्म किया करें।
वेश्यालयों में थाप दें, निर्भीक मद्य पिया करें॥

१४—लज्जित न होते हम निरत हो घोर अत्याचार में।
चुपचाप सहतीं क्लेश वे इस पापमय व्यापार में॥
इस से अधिक अन्याय होगा और क्या संसार में।
तुम डूब जाओगे किसी दिन आंसुओं की धार में॥

१५—वह बाल-विधवा जन्मभर विरहाग्नि में जलती रहे।
आंसू बहा कर शोक में नित हाथ ही मलती रहे॥
हम वृद्ध होकर भी सदा ऐश्वर्य्य सुख भोगा करें।
विरहाग्नि में वे युवतियां भी किन्तु तिल तिल जल मरें॥

(चेतावनी)

१६—हे पुरुष जाति! नयन खोलो विश्व गति को देख लो।
अपनी पतित अवनत दशा को और मति को देख लो॥
अब भी नहीं तुम ने किया यदि अन्त अत्याचार का।
यदि नित्य बढ़ता ही रहा यह पाप स्वेच्छाचार का॥

१७—तो आज अत्याचार पीड़ित हो रहीं जो बालिका।
होंगी कभी वे देखना दुर्द्धर्ष रण-सञ्चालिका॥
हम खो चुकेंगे शेष जो कुछ है हमारी लालिमा।
अपने करों से ही लगालेंगे मुखों में कालिमा॥

१८—पूजार्चना के योग्य हैं, वे प्रेम की अनुरक्तियां।
श्रद्धेय हैं, वे हैं हमारी देश की नव शक्तियां॥
वीरप्रसू हैं, वीर जननी हैं महा बल शालिनी।
मङ्गलमयी हैं सर्वदा हैं, सृष्टि-सन्तति-पालिनी॥

१९—होता इन्हीं से राष्ट्र देश समाज का निर्माण है।
इन के करों में ही छुपा संहार है, कल्याण है॥
अपमान इनका है नहीं, यह देश का अपमान है।
सम्मान इनका है नहीं, यह देश का सम्मान है॥

२०—भगवन्! अंधेरा छारहा है लुप्त प्राय प्रकाश है।
भगवान्! भारतवर्ष का यह ह्रास है कि विनाश है॥
फिर शान्ति स्नेह सुधामयी शिक्षा सुनाओ देश में।
पूजें स्वजननी जन्मभू निज भाव, भाषा वेश में॥

—:*×*:—

जैन शास्त्र में नारी का स्थान



[श्री० पूरणचन्दजी शामसुखा]

जैन शास्त्रों में नारी का स्थान क्या है इसका सम्यक् निरूपण करने में जितनी गम्भीर गवेषणा की आवश्यकता है उतनी समयाभाव से हो न सकी; तथापि सम्पादक महाशय के अनुरोध से इस विषय पर कुछ लिख रहा हूँ।

जैन धर्म का चरम ध्येय मोक्ष है। जैन धर्मानुयायियों का चरम उद्देश्य यही है कि कर्म पुद्गलका सम्पूर्ण क्षय कर मुक्त होना—उनका जीवन इसी ध्येय को लक्ष्य करके प्रवाहित होता है। इस ध्येय की प्राप्ति एकमात्र मनुष्य जीवन में ही हो सकती है, एवं इसी कारण से मनुष्य को सर्व प्राणियों में श्रेष्ठ गिना गया है। देव योनिमें सामर्थ्य, समृद्धि, भोग आदि मनुष्यों से अधिक हैं, परन्तु मानसिक व आत्मिक उन्नति मनुष्यों में ही चरम विकाश को प्राप्त हो सकती है।

मनुष्य में प्रधानतया नर व नारी दो विभाग हैं। सांसारिक जीवन में नर व नारी सम्मिलित होकर जीवन संग्राममें अवतीर्ण होते हैं और पारस्परिक सहयोगिता से जीवन को सुखमय बनाने की चेष्टा करते हैं। पुरुष में पराक्रम, वीर्य, तेजस्विता का प्राधान्य रहता है व नारी में दया, धैर्य, दाक्षिण्य, वात्सल्यादि गुणों का प्राधान्य है। कठोर व कोमल वृत्तियों के सम्मेलन व सहयोग से सांसारिक जीवन का क्रम विकाश होता है। परन्तु आध्यात्मिक उन्नति के क्षेत्रमें नर व नारी को इस सम्मेलन की आवश्यकता नहीं है। वहां तो प्रत्येक मनुष्य को, चाहे वह पुरुष हो या नारी, अपने अपने वीर्य्य से ही आत्मिक उन्नति के पथ पर अग्रसर होना होगा। कर्म पुद्गल को दूर करने के लिये जिस आत्मिक शक्ति के स्फूरण की आवश्यकता होता है उसमें नर वा नारी का सम्मिलन साधारणतः अनुकूल नहीं होकर प्रतिकूल ही होता है। इसी कारण से आध्यात्मिक क्षेत्र में अग्रसर होनेवाले नर या नारी को पारस्परिक सहायता की आवश्यकता नहीं है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में अग्रसर होते हुए पुरुष जैसे चरम उत्कर्षता को प्राप्त कर सकते हैं, जैन शास्त्र में स्त्री का भी उसी तरह चरम उत्कर्षता प्राप्त करने का अधिकार स्वीकार किया गया है। ज्ञान, चरित्र, तप एवं वीर्य के अपूर्व स्फूरण से जैसे पुरुष कर्ममल को दूर करके सम्पूर्ण निर्मल हो सकते हैं, स्त्रियां भी उसी तरह निर्मल दशा को प्राप्त कर सकती हैं।

जैन शास्त्रों में तीर्थङ्करत्व ही आत्मिक उन्नति का चरम विकाश समझा गया है। वर्त्तमान अवसर्पिणी में चौबीस तीर्थङ्करों में उन्नीसवें तीर्थङ्कर भगवान 'मल्लिनाथ' स्त्री ही थे। स्त्री रूपसे जन्म ग्रहण करने पर भी कर्म मल को सर्वथा दूर करके आत्म स्वभाव के पूर्ण विकाश करने की शक्ति अ-

न्याम्य तीर्थङ्करों के न्याय उनमें भी सम्पूर्ण रूप से थी। सर्वज्ञता प्राप्त करने के बाद चतुर्विध संघ रूप तीर्थ का स्थापन अन्याम्य तीर्थङ्करों की तरह उन्होंने भी किया था और उनके शासन के नीचे पुरुष गणधर व साधु भी आत्मिक विकास के रास्ते में अग्रसर होते थे। स्त्री तीर्थङ्कर के आज्ञाधीन रहने में उन्हें जरासी भी आपत्ति नहीं थी, और संघ का कार्य अन्याम्य तीर्थङ्करों के समय में जैसे निर्वाह होता था वैसेही इनके समय में भी होता था। यहां पुरुषवेद व स्त्री वेद में कोई पार्थक्य स्वीकार नहीं किया गया है—कारण उस अवस्था में पुरुष स्त्री दोनों ही निर्वेदी दशा को प्राप्त होते हैं।

प्रथम तीर्थङ्कर भगवान ऋषभदेव की माता मरु देवी इस अवसर्पिणी में भरतक्षेत्र से मुक्ति जानेवालों में प्रथम स्थान रखती हैं। इस अवसर्पिणी में इस क्षेत्र से मुक्ति का रास्ता एक स्त्री ने ही खोला था यह मातृ जाति के लिये बहुतही गौरव का विषय है। जैन शास्त्रों ने इस विषय का वर्णन करते समय आत्मिक चरम उत्कर्षता लाभ करने में स्त्रियों की भी उतनीही शक्ति दर्शायी है जितनी कि पुरुषों की।

राजिमती ने, भगवान नेमिनाथ के विवाह मण्डप को छोड़कर प्रत्यागमन करने के बाद, सांसारिक सुखों को तिलाञ्जलि देकर संयम ग्रहण किया और कठोर तपस्या करने लगी। इनके असाधारण शारीरिक सौन्दर्य से मुग्ध होकर संयम से भ्रष्ट होते हुए रथनेमि मुनि को राजिमती ने अपने संयम व तपस्या के बल से प्रतिबोध देकर संयम में पुनः स्थापित किया। इस समय राजिमती ने जिस असामान्य संयम और चारित्र की दृढ़ता का प्रदर्शन किया था उसकी तुलना कम ही मिलती है।

भगवान महावीर की शिष्या और उनके सम्पूर्ण साध्वी संघ की प्रमुख आर्या चन्दनबाला का नाम जैन जगत में प्रसिद्ध है। चन्दनबाला व उनकी शिष्या मृगावती और तपस्या से कर्ममल को दूरकर कैवल्य व निर्वाण को प्राप्त हुई थी। भगवान महावीर की पूर्व माता देवानन्दा ब्राह्मणी ने भी अपने पति ऋषभदेव के साथ दीक्षा ग्रहण कर मोक्ष प्राप्त किया था। ऐसे और भी कई दृष्टान्त दिये जा सकते हैं जब कि साध्वियां आत्मिक चरम उत्कर्षता—केवल ज्ञान व मोक्ष को प्राप्त हुई हैं।

स्त्री शिक्षा के विषय में भी जैन शास्त्र अवलोकन करने से प्रतीत होता है कि उस समय स्त्रियों को अच्छी शिक्षा दी जाती थी। साध्वियां एकादश अङ्ग शास्त्रोंका अभ्यास करती थीं। एकादश अङ्गों के ज्ञानको धारण करनेवाली साध्वियों की संख्या भी कम न थी। पुरुषों को जैसे ७२ कला का अभ्यास कराया जाता था वैसे स्त्रियों को भी ६४ कला का अभ्यास कराया जाता था। इन ६४ कला में नृत्य, गीत, ज्ञान, विज्ञान, काव्य, व्याकरण, गृहिणीधर्म, पाक क्रिया, केश बन्धन, आभूषण धारण, वाणिज्य प्रभृति का नाम विशेष उल्लेख योग्य है। स्त्री शिक्षा में कोई तरह की त्रुटी नहीं थी यह साफ मालूम पड़ता है।

दिग्विजयी ब्राह्मण पण्डित हरिभद्र को जैन धर्म में प्रतिबोधित करने का श्रेय 'याकिनी महत्तरा' नाम्नी एक साध्वी को ही है। जैन धर्म अङ्गीकार करने के बाद पण्डित हरिभद्र अपने पाण्डित्य एवं चारित्र गुणों से आचार्य हरिभद्र सूरि नामसे विख्यात हुए। उन साध्वी का आप पर इतना प्रभाव था कि आपने अपने अमूल्य ग्रन्थों में अपना "याकिनी

सुनु" नामसे परिचय दिया है। इतने बड़े विद्वान आचार्य पर एक साध्वी का ऐसा प्रभाव होना उन साध्वी स्त्री के चारित्र एवं आत्मिक उन्नति की उत्कर्षता का परिचय प्रदान कर रहा है। उस काल में एक साध्वी इतने बड़े अन्यमत के पण्डित को भी प्रतिबोध देने में समर्थ थी यह बात साध्वियों में ज्ञानानुशीलन की कितनी उत्कर्षता थी यह साबित करती है।

परदे की अधुना जैसी कठोरता प्रचलित है उस काल में वैसी नहीं थी। तीर्थङ्करों के समोवसरण में या धर्माचार्यों को वन्दन करने को स्त्रियां बिना किसी रुकावट के जाती थीं ऐसी बहुत घटनाओं का वर्णन जैन साहित्य में मिलता है। राजा की रानियां किसी प्रयोजन से सभा मण्डप में उपस्थित होने पर यवनिका के अन्तराल में उपवेशन करती थीं। स्वप्नों का फल श्रवण करने को भगवान महावीर की माता त्रिशला राजसभा में यवनिका के अन्तराल में बैठी थीं। महाराज श्रेणिक की रानी धारिणी देवी भी राजसभा में यवनिका के अन्तराल में बैठी थीं परन्तु दोहद पूर्त्ति के समय श्रेणिक राजा के साथ हाथी पर चढ़ कर नगर के बीच से हो कर जानेका वर्णन भी मिलता है। इससे यह प्रतीत होता है कि परदे की कड़ाई बिलकुल नहीं थी परन्तु साधारण तथा राज परिवार व उच्चकुल की स्त्रियां अन्तःपुरमें ही प्रायः करके रहती थीं। अधुना जैसी प्रचण्ड स्त्री स्वाधीनता पाश्चात्य देशों से आमदनी होकर अपने देशमें प्रचलित होनी आरम्भ हुई है वैसी पुराने जमाने में नहीं थी। पर स्त्री को मानसिक व आत्मिक विकाश करने में कोई रुकावट नहीं थी और पारिपार्श्विक वातावरण भी ऐसा था कि प्रत्येक स्त्री स्वच्छन्दता से अपनी उन्नति कर सकती थी।



श्री जैनबाला विश्राम

[आरा]

[नीचे हम श्रीजैनबालाविश्राम का कुछ परिचय देते हैं। जब कि समाज में स्त्री-शिक्षा का आरम्भ ही हुआ है और जब कि हम अपनी बालिकाओं और महिलाओं को अपनी ही संस्कृति हैं। विधवाओं को धार्मिक शिक्षा देकर सुमार्ग पर लगाने का काम भी ऐसी संस्थाओंसे बहुत आसानी से हो सकता है। अतएव हम सभी धनी मानी सज्जनों से प्रार्थना करते हैं कि हमारी समाज में भी ऐसी ऐसी और आदर्शानुसार शिक्षित कर योग्य गृहिणी और चतुर माता बनाना चाहते हैं तब ऐसी ऐसी संस्थाओं की उपयोगिता को पाठक सहज ही में आंक सकते संस्थाओं को स्थापित कर महिला उत्थान के कार्य्य में सहायभूत हों-- सम्पादिका]

श्रीजैनबालाविश्राम, धर्म्मपुरा, आरा में अवस्थित एक बड़ी उपयोगी दिगम्बर जैन शिक्षा संस्था है। आश्रम का स्थान बड़ा रमणीक, मनोहर और धार्म्मिक शिक्षा के अनुकूल नगर के कोलाहल से दूर है। इसका उद्देश्य विधवाओं को दि० जैन धर्मानुकूल धार्मिक और नैतिक शिक्षा देकर सुयोग्य विदुषी बना सुमार्ग में लगा देना है। कन्याओं तथा वयः प्राप्त स्त्रियों को भी यहां गृह-उपयोगी शिक्षा दी जाती है।

अब तक इस संस्था से १३१ छात्राओं ने विद्या लाभ किया है जिन में से ५६ उपस्थित हैं और और शेष घर चली गईं हैं, जो कि धर्म-सेवन पूर्वक गृहस्थी के कार्य्य करती हैं, तथा कुछ छात्राएं स्त्रीसंस्थाओं में रह कर स्त्री शिक्षा का प्रचार कर रही हैं।

इस समय श्रीजैनबाला-विश्राम में छः कक्षायें हैं—प्रारम्भिक, प्रथमा, मध्यमा, उत्तमा तथा विशारदा, विशारदा कक्षा के चार खण्ड हैं इसलिये इस कक्षा में चार वर्ष की पढ़ाई है। उल्लिखित कक्षाओं में साहित्य, गणित, धर्म, इतिहास, भूगोल, संस्कृत तथा शिल्प, नियमित रूप से पढ़ाये जाते हैं। उत्तमा कक्षा में रजिष्टर बनाना आदि अध्यापन का कार्य भी सिखाया जाता है। कुछ अभिभावकों के इच्छानुसार उनकी लड़कियों को थोड़ी सी अंग्रेजी व्यावहारिक शिक्षादेने का भी सुप्रबन्ध है।

सीने-पिरोने आदि का काम प्रतिदिन एक घंटा सिखाया जाता है। जरी, रेशम के बेल बूटे बनाना, कसीदा काढ़ना, चरखा कातना, बेल बुनना तथा निवार आदि के काम की ओर अधिकतर ध्यान दिया जाता है।

प्रतिदिन शीतकाल में पाँच बजे और ग्रीष्मकाल में ४ बजे प्रातः काल में प्रार्थना की घण्टी बजने

पर सभी छात्रायें बिस्तरे से उठ कर एक जगह (हाला में) इकट्ठी हो जाती हैं, और अपना दैनिक कृत्य सकुशल सम्पन्न होने के लिये एक स्वर से बड़ी भक्तिपूर्वक श्रीजिनेन्द्र-देव की प्रार्थना करती हैं। तत् पश्चात् नियमानुसार स्नानादि कृत्य से निवृत्त हो श्रीजिनेन्द्र-दर्शन कर अपने दैनिक पठन तथा गृह-शिक्षादि कार्यमें लग जाती हैं।

इसकी परीक्षायें नियमानुसार मासिक, षण्-मासिक, और वार्षिक होती हैं।

अध्यापन सुशिक्षित अध्यापिकों द्वारा ही होता है। उच्च कक्षा की छात्राएं तथा अधिष्ठात्री और सञ्चालिका भी समय पर अध्यापन कार्य में भाग लेती रहती हैं।

व्याख्यान देने में, सूत कातने में, रोसई अच्छी बनाने में, सिलाई करने में, हाजिरी अच्छी रहने पर, अभिनय ड्रील आदि करने में, छात्राओं को समय समय पर पारितोषिक दे २ कर उत्साहित किया जाता है।

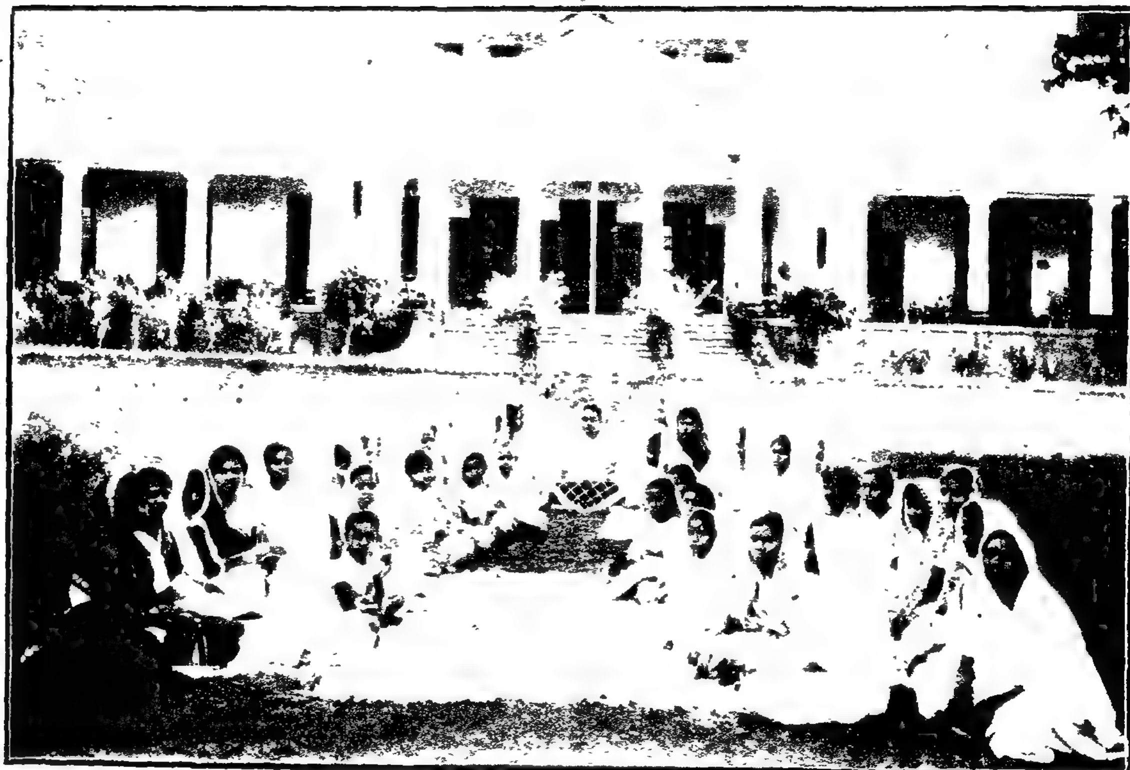
सायं काल में बगीचे में टहलने के अनन्तर व श्रीजिनेन्द्र दर्शन, आरती के पश्चात् नियमित रूप से शास्त्रसभा होती है जिस में धार्मिक तत्वों का विवेचन, पञ्च पापों से बचने का उपदेश और अभक्ष्यादि का त्याग बताया जाता है।

वक्तृत्वशक्ति तथा तर्क वितर्कात्मिका प्रतिभा के विकाश के लिये छात्राएं प्रत्येक प्रति पदा को एक सभा करती हैं, जिसका नाम जैनबालाहित-कारिणी सभा है। इसके लिये नगर से आनेवाली कोई विदुषी महिला सभापति चुन ली जाती हैं या अधिष्ठात्री व अन्य पाठिकाएं सभापति बनाई जाती हैं, जो व्याख्यान दात्री छात्राओं के व्याख्यानों में होने वाली त्रुटियों को समझा देती हैं और उत्तम भाषण की रीति को समझा देती हैं। जिसका भाषण पुरस्कार योग्य होता है इसका निर्णय भी आप करती हैं कभी २ छात्राओं के लिये विषय चुन दिये जाते हैं और कभी वे स्वयं अपनी इच्छानु-सार बोलती हैं।

छात्राओं के रहने सहने तथा खाने पीने का भी यहाँ बड़ा अच्छा प्रबन्ध है। विश्राम के साथ २ एक भव्य छात्रालय भी लगा हुआ है जिसमें अभी ७० छात्राओं तक के रहने का स्थान है। विद्यालय में पढ़ाई निःशुल्क ही होती है। छात्रालय में रहने वाली समर्थ छात्राओं से ८) तथा छोटी कन्याओं से ७) मासिक भोजन खर्च लिया जाता है। छात्रालय में दो बार हाजरी होती है एकबार प्रातःकाल ५ बजे और दूसरी बार सायंकाल ६ बजे। सब छात्राओं के लिए आवश्यक है कि वे प्रातःकाल में दर्शन, सामायिक तथा छुट्टियों में पूजनादि कार्य्यों में भाग लेवें। इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्राम में धार्म्मिक शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जाता छात्रावास में रहने वाली छात्राओं को बड़ी सादगी से रहना पड़ता है दो एक सादे आभूषणों को छोड़कर तड़क भड़क के आभूषणों को पहिनना उनके लिये मना है। भोजन बनाने में भी छात्राओं को क्रमशः सहायता करनी पड़ती है।

ऐसी धारणा होती है कि जैन धर्म्मानुकूल उपयोगी तथा आवश्यक स्त्री शिक्षा का प्रबन्ध कर इस संस्थाने स्त्री-शिक्षा के विरोध में उठने वाले भावों को अनेक अंश में दूर किया होगा। हम इसकी दिनोंदिन उन्नति चाहते हैं।

—०—



श्री जैनबाला विश्राम आरा में श्राविकाएं शास्त्र सभा कर रही है।

गल्प | # पलायन | "स्नेही"

(१)

सेठ रामलालजी के घरमें आज आनन्द की स्रोतस्विनी बह रही है। उनका हृदय जो मरुस्थल की भांति शुष्क था आज नन्दन-कानन के समान लहलहा रहा था। क्योंकि आज उनको परम आदरणीया, स्नेह वारि से सींची हुई कन्या का विवाह सुजानगढ़ के प्रसिद्ध धन कुवेर सेठ मोतीलाल जी के ज्येष्ठ पुत्र कुंवर विलासराय जी के साथ होना निश्चित होगया है।

सेठ रामलाल जी घरमें बैठे अपनी स्त्री कमलावतीसे विवाह की तैयारियों के लिये कह रहे थे कि बाहर से किसी ने पुकारा। रामलालजी ने बाहर आकर देखा तो उनके परम मित्र जगदीश बाबू खड़े थे। उनको देखतेही रामलाल जी का चेहरा और भी खिल उठा। जगदीश बाबू ने भीतर आकर कहा "आज तो बड़े प्रसन्न चित्त हो रहे हो, क्या बात है?"

रामलाल जी उल्लास भरे स्वर में बोले आज चम्पा का विवाह सेठ मोतीलाल जी के ज्येष्ठ पुत्र कुंवर विलासराय के साथ होना ठीक होगया है। ठीक क्या होगया है एकदम सोलहो आने पक्का हो गया है। भाई! इसके विवाह की मुझे बड़ी चिन्ता थी, कितनी ही चेष्टायें कीगई पर कहीं ऐसा घर मिलाही नहीं। यह तो कोई पूर्व जन्म के पुण्य प्रताप से ऐसा सम्बन्ध मिल गया है। जगदीश बाबू यह सुन कर कुछ अप्रतिभ से होगये। उन्होंने कहा यह तुमने क्या किया? इतने लाड़ प्यारसे पाली हुई और हृदय के रक्तसे सींची हुई इस कली को इस लू में क्यों ढकेल रहे हो? तुम्हारी यह धारणा कि लड़की को, धनी कुलमें ब्याही जानेसे, अशेष सुख शान्ति मिलती है नितान्त भ्रम पूर्ण है। रामलाल जी कुछ विस्मय युक्त स्वरमें बोले "यह तुमने कैसे कहा?"

"कैसे? यह भी बतलाना होगा?" जगदीश बाबू ने कहा "प्रथम तो मोतीलाल जी स्वयं ही पाषाण हृदय दूसरे उनकी स्त्री तो "स्त्रियाश्चरित्रं देवो न जानाति कुतो मनुष्यः" प्रवाद को चरितार्थ करने वाली सजीव प्रतिमा हैं और तिसपर लड़का भी तो निरक्षर विवेक बुद्धि शून्य है और जिसकी यौवन कली खिलने के पहिलेही कुप्रवृत्तियों की प्रचण्ड अग्नि से मुरझा चुकी है। भला ऐसी नारकीय कुण्ड में जाकर वह क्या सुख पावेगी। ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में रहकर वह या तो नारी जीवन के आदर्श रत्न को वासना के अनल कुण्ड में फेंककर उन्हीं के सदृश बन जायगी या चिन्ता और दुःख की प्रज्वलित ज्वाला में हृदय को तिल तिल जलाकर सदाके लिये इस असार संसारसे विदा हो जायगी"।

जगदीश बाबू का यह अप्रिय सत्य सुनकर रामलालजी कुछ उत्तेजित होकर कहने लगे "यह सब

फिजूल बात है। हम तो इस वक्त चम्पाको ऐसे घर दे रहे हैं जहां सोने चांदी की तो बात ही क्या हीरे पन्नों के ढेर लगे हुए हैं। आगे उसके भाग्यकी बात है"। जगदीश बाबू ने कहा "और यह तो आप आपके जचे की बात है, मेरे विचार में तो लड़की को कोई अच्छे सद्गृहस्थ के घरमें देते तो इससे कहीं अधिक सुख पाती" इतना कह कर जगदीश बाबू जाने के लिये खड़े होगये।

रामलालजी ने जगदीश बाबू का हाथ पकड़ कर कहा "बैठो अभी जाकर क्या करोगे?" "नहीं इस वक्त तो एक जरूरी काम केलिये जाना है फिर कभी मिलूंगा" कहकर जगदीश बाबू चले गये।

(२)

सेठ रामलालजी के परिवार में केवल तीन प्राणी हैं। एक वे स्वयं, दूसरी उनकी स्त्री कमला वती, तीसरी कन्या चम्पा। और कोई सन्तान न होने के कारण आपका सारा स्नेह इसी चम्पा पर था। इसीके रहने से आपने कभी पुत्र-दुःख का अनुभव नहीं किया। बुढ़ापे में यही जीवन का एकमात्र आधार थी। कन्या क्या थी उनके अन्धकार पूर्ण गृह की आलोक माला थी। घरका सारा काम धन्धा चम्पा ही किया करती थी। चम्पा सीना, पिरोना, रसोई आदि सभी गार्हस्थिक विषयों में प्रवीणी थी। हिन्दी का भी बोध उसने अपनी पड़ोसिन सरलादेवी से कर लिया था अतः कुछ लिख पढ़ भी लेती थी। वास्तव में चम्पामें रूप और लावण्य के साथ २ वे गुण भी थे जो किसी आदर्श हिन्दू गृहिणी में होने चाहियें।

आगामी चैत्र में चम्पा को तेरहवां वर्ष लगेगा। यौवन अङ्कुर प्रस्फुटित होने लग गया था! इसीलिए रामलालजी को चम्पा के विवाह की चिन्ता लगी हुई थी। आर्थिक अवस्था स्वच्छल न होने के कारण यह समस्या और भी जटिल होगई थी। यह कठिनाई इनके सदा से ही चली आती है, सो बात नहीं है, कुछ साल पहले आपने सट्टे का व्यापार किया था तब लक्ष्मी देवी आप पर कुछ प्रसन्न हुई थी पर दुर्भाग्य के कारण वह चपला की चमक की तरह शीघ्रही विलीन होगई। अपनी दुलारी कन्या का सम्बन्ध मोतीलाल जी के यहां कराने के लिये पुरोहित जी को भी अत्यधिक लोभ दिया गया था। पुरोहितजी ने भी अपनी तीक्ष्ण बुद्धिबल से कई तरह के प्रलोभन दिखाकर सेठजी को सहमत कर लिया।

(३)

चम्पाका विवाह होगया। विवाह बड़ी धूम धामसे हुआ था। अब वह ससुराल में ही रहती है। अब उसके मुंह पर वह आनन्द की छटा नहीं दीखती जो विवाह से पहले थी। आठो पहर मुख पर विषाद की गहरी कालिमा छाई हुई रहती है। वह कमल-सा मुख वेदना की उष्ण ज्वाला से मुरझा गया है। ससुराल आनेके बाद एक दिन भी उसे सास का विमल स्नेह प्राप्त नहीं हुआ। नित्य प्रति उसका अपमान होने लगा। सेठजी भी अपनी नव यौवना भार्या की प्रसन्नता के लिये अपनी पुत्रवधू पर अन्याय अत्याचार करने लगे। आये दिन घरमें धमचख मचने लगी। इतने दिन तो चम्पाने सास ससुर की किसी भी उचित अनुचित बातका प्रतिवाद नहीं किया। हृदय पर पत्थर रखले सब सहन करती रही पर सहन शीलता और धैर्य की भी एक सीमा होती है। उसने देख लिया कि अत्याचार को चुप चाप सहन करने से वह और भी प्रबल होता जाता

है। अन्याय का प्रतीकार अवश्य करना चाहिये। अन्याय को अङ्गीकार करना पाप है। चम्पा के मन में इसी तरह की कल्पना का तुमुल युद्ध होरहा था ठीक उसी समय उसकी सास उसके पास आकर खड़ी होगई और कहने लगी "अरी! तू तो अभी तक यहीं बैठी है मैंने कहा न था कि गहने कपड़े पहन ले और मेरे साथ चल"। चम्पाने शान्त भाव से कहा "जब तक मुझे यह न मालुम होजाय कि आप मुझे कहाँ और किस उद्देश्य से ले जा रहे हैं तब तक मैं आपके साथ नहीं जाऊंगी"। चम्पा का यह स्पष्ट उत्तर सासकी क्रोधाग्नि में घृताहुति का काम कर गया। उसने कहा "अरी निर्लज्जा! तेरी इतनी हिम्मत कि तू मेरा सामना करती है, मेरे कहे को टालती है। निकल जा चुड़ैल मेरे घर से, इस घरमें रहेगी तो झखमार कर मेरा कहना मानना पड़ेगा। तुझे पीहर का घमण्ड होगा। वहाँ सूखी रोटी भी नसीब नहीं होगी। तू है किस भरोसे पर? यहां से चली जायगी तो भीख मांगती फिरेगी।" सासकी इस बात पर चम्पा को भी कुछ क्रोध आगया, उसने तड़क कर कहा "सूखी रोटी खा लूंगी, अगर वह भी न मिलेगी तो भीख भी मांग लूंगी पर आपकी तरह नारी जाति के ऊपर कलङ्क की अमिट कालिमा नहीं पोतूंगी"। मैं यहां रूप बेचने के लिये नहीं आई हूं।

पेट्रोल के पीपे पर जलती हुई चिनगारी गिर पड़ी। चम्पाके पतिदेव खड़े २ यह सब दृश्य देख रहे थे। उसकी मां उसकी तरफ झपट कर बोली "क्यों रे! खड़ा खड़ा क्या देखता है? अगर अपना भला चाहता है तो इसे जूतों से पीटकर निकाल दे। यह पापिन तेरे छूने लायक कभी नहीं है। मैं तेरी दूसरी शादी करूंगी।" मातृ भक्ति का परिचय देने के लिये विलास भूखे व्याघ्र की तरह चम्पा पर टूट पड़ा। चम्पा की वह मक्खन सी कोमल देह दानव के भीषण प्रहार से मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। सेठ मोतीलाल जी बाहर से आये तो बहूको पड़ी देखकर बोले "विलास की मां आज बहू को क्या होगया है जो इस तरह से पड़ी है।" विलास की मां आंचल में मुंह छिपाकर रोने लगी। उसको रोते देखकर पत्नी-परायण सेठजी बोले, विलास की मां तुम क्यों रोती हो? भला तुम्हें किस बात का दुःख है? तुम्हें रोती देखकर मेरे जी पर क्या बीतती है सो मैं ही जानता हूं। किसी ने यदि तुम्हें कुछ कहा हो तो बतलाओ उसकी जबान खींचकर निकलवा लूं"।

चम्पा की सास ने देखा तीर निशाने पर लग चुका है। वह आंसू पोंछती हुई कहने लगी "क्या कहूं? मैंने ज़रा बहूको काम के लिए कहा था यही मेरा कसूर है। मेरा नसीब अच्छा था जो विलास आगया जिससे दो चारही लाठी लगी, नहीं तो वह पापिन मुझे आज मारही डालती। अब इस घर में मेरा निर्वाह नहीं होगा। आपही मुझे मारने को आई और अब आपही फैल करके पड़ी हुई है। उलटे चोर कोतवाल को डांटता है, छटी हुई बदमाश है। जब तक यह घरमें रहेगी, मैं तो अन्न जल भी ग्रहण न करूंगी। इसे निकाल कर विलास का दूसरा विवाह न करूं तब तक एक पल भी चैन नहीं।

"बस इसीलिये तुम रंज होरही हो? बहू को तो आजही गाड़ी में बिठाकर उसके पीहर भेज देंगे और विलास की दूसरी शादी करली जायगी। लग जायंगे दस बीस हजार।" —सेठ जी ने कहा

(४)

समाज में धनाढ्य व्यक्तियों के लिये कभी लड़कियों की कमी नहीं हुई। मूर्ख हो, पागल हो, दुराचारी हो, रोगी हो, वृद्ध हो यदि वह धनवान है तो वह एक, दो, तीन, चार, पांच चाहे जितना विवाह कर सकता है। निठुर माता पिता अपने स्वार्थ साधन के लिये सन्तान को जनाजे के पीछे बांधने तक को तय्यार हो जाते हैं।

हजारीबाग निवासी श्री छदमीलालजी ऐसे ही निष्ठुर मनुष्यों में से थे। कन्या विक्रय करना तो आपका स्वभाविक व्यापार था। धूर्तता में भी आप पूरे उस्ताद थे, आपके दो कन्यायें थीं। बड़ी का नाम चमेली और छोटी का नाम कनक था। चमेली को सोलहवां साल लग चुका था और कनक उससे दो साल छोटी थी। चमेली अन्धी थी, जब वह पांच छः साल की थी तब उसे चेचक हुआ था। चेचककी उपयुक्त चिकित्सा के बदले शीतला माता की पूजा की गई। बासीड़ा धोका गया। पर शीतला माता प्रसन्न न हुई और बिचारी चमेली को सदैव के लिये दृष्टि शक्ति से हीन कर दिया। इसीलिये छदमीलालजी चमेलीको कहीं बेच न सके। कनक के विवाह के लिये दो एक जगह बातचीत की पर दाम दस्तूर ठीक सर नहीं उंचा। लालाजी को बीस हजार से कम लेना मंजूर नहीं था। दोनों की कीमत एकही में वसूल करना चाहते थे।

सेठ मोतीलालजी सपरिवार वायु परिवर्त्तन के लिये हजारीबाग पधारे थे और वहीं पर कुंवर विलासराय का दूसरा विवाह करने की कोशिश कर रहे थे। लाला छदमीलाल जी भला ऐसे अवसर को कब चुकनेवाले थे। विवाह की बात सुनतेही झट पुरोहित जी को बुलाया और उनकी मुट्ठी गरम की। पुरोहित जी को अच्छी तरह समझा दिया कि बीस हजार से कममें सोदा न करना। पुरोहितजी में यह जन्म सिद्ध गुण था। वे सेठजी के यहां गये दस पांच चिकनी चुपड़ी बातें बनाने के बाद कनक के ब्याह का सौदा १५ हजार में तय कर लिया। 'शुभस्य शीघ्रम्" के सिद्धान्त को लेकर विवाह भी जल्दी ही सम्पन्न कर दिया गया।

सुहाग रात को जब कुंवर विलासराय ने अपनी नव विवाहिता पत्नी की फीस चुकाकर मुख देखा तो देखतेही उसके ऊपर मानो बिजली गिरपड़ी। काटो तो खून नहीं। उसको स्वप्नमें भी यह आशा नहीं थी कि बहु अन्धी होगी। ज्यों-त्यों करके रात तो उन्होंने वहीं पर बितायी। सुबह होतेही वहांसे सरपट पेर रखकर घरको तरफ दौड़े और आकर माता पिता को यह शुभ सम्वाद सुनाया। सेठजी ने सुनतेही छाती पिटनी शुरू कर दी। छाती पीटने के सिवाय अब ओर हो ही क्या सकता था। आप क्रोध में अधीर होगये। सारा गुस्सा अपनी स्त्री पर उतारते हुए कहने लगे कि तूने ही मेरा सत्यानाश किया है। रुपये भी १५—२० हजार खर्च हुए और बहूभी अन्धी आई और लोगों में मुंह दिखाने लायक भी न रहा।

(५)

सेठ रामलाल जी उदासीन भाव से बैठे अपनी कन्या के भावी जीवन की चिन्ता कर रहे थे, इतने में बाहर से तार वाले ने पुकारा "लालाजी आपका तार है"। तारका नाम सुनते ही सेठजी का हृदय किसी अज्ञात दुःख की आशङ्का से परिपूर्ण होगया।

कांपते हुए हाथ से दस्तखत करके तारका लिफाफा खोला। तार में लिखा था "Bilasray's marriage ceremony performed here" तार हजारी बागमें रहनेवाले उनके किसी आत्मीय का दिया हुआ था। तार को पढ़तेही रामलाल जी कटे हुए वृक्षकी भांति धड़ाम से जमीन पर गिर पड़े। कमलावती भी फूट फूट कर रोने लगी। चम्पा ने जब सुना तो वह भी बलि वेदी पर चढ़नेवाले पशुकी भांति मूक होकर जनक जननी के पास आकर खड़ी होगई। उसकी आंखों में आंसु नहीं थे। दुःख और परिताप की दारुण ज्वाला ने शायद आंसुओं को सुखा दिया था। वह बड़े अनुनय के स्वर में कहने लगी "पिताजी आप क्यों मेरे लिये इतने अधीर होरहे हैं? आपने तो मुझे सुखी करने के लिए कोई कसर उठा नहीं रक्खी पर भाग्य का अमिट विधान तो कोई नहीं मेट सकता। उस रात को सेठ राम लालजी के घरमें चूल्हा भी नहीं जलाया गया। सभी अनाहार सो रहे।

पर निद्रा देवी ऐसे अभागों को जल्दी शरण नहीं देती वह तो सदा सुखकी सहचरी है। राम लाल जी कमलावती को कहने लगे "जगदीश बाबू की बातें अक्षर अक्षर सत्य निकली। उस दिन यदि उनकी बात मान ली जाती तो आज हमें यह दिन क्यों देखना पड़ता पर अब तो बीती बातों को याद कर सिवाय पश्चात्ताप के और हो ही क्या सकता है। ऐसे देव दुर्लभ मित्र की बात न मानने से यही परिणाम होता है। इधर तो ये बातें होरही थी और उधर चम्पा का हृदय शोकोन्माद से विक्षिप्त सा हो रहा था।

चम्पा स्वतः ही कह रही थी "नाश होजाय इस समाज का जिसमें बालक बालिकाओं का जीवन इस प्रकार नष्ट किया जाता है। माता पिता जो सन्तान को शैशव अवस्था में प्राणाधिक प्यार करते हैं कालान्तर में वे ही उनके शत्रु होजाते हैं। आज मेरी तरह न जाने कितनी ही बालिकायें अपने जीवन को नष्ट करके इस समाज में अरण्य रोदन करती होंगी। अविद्या अन्धकार में पड़े हुए माता पिता केवल धन के पीछे अपनी सन्तान को स्वाहा कर देते हैं। समाज के धनी पुरुष अपने धन बल द्वारा चाहे जो अन्याय अत्याचार निर्विघ्नता पूर्वक कर सकते हैं। समाज उनका कुछ नहीं कर सकती। समाज के धनी सूत्रधार खुले आम चोरी, जारी, वेश्या, मदिरा इत्यादि दुर्व्यसनों का सेवन कर सकते हैं कोई उनकी तरफ आंख उठाकर भी नहीं देखता। पर यदि कोई सामाजिक शारीरिक मानसिक नैतिक सुधार के लिये कहीं प्रस्ताव भी कर देता है तो समाज के अग्रगण्यों पर बज्रपात होने लग जाता है। ऐसी समाज में न रहना ही श्रेय है। हे भगवान! इस समाज का पूर्ण रूप से अधःपतन हो चुका है अब इसका उत्थान भी होना चाहिये। संसार में अस्तोदय का अटल नियम है। जब तक इस समाज में परिवर्त्तन नहीं होगा तब तक यहां नहीं रहूंगी। यह विचार आतेही वह उठकर खड़ी होगई। कलम दवात लेकर एक पत्र लिखा और पत्रको वहीं छोड़कर घरसे बाहर निकल गई। प्रकृति निस्तब्ध थी, अन्धकार अपना पूर्ण अधिकार जमाए हुए था। दो एक निशाचर जन्तुओं के अतिरिक्त सभी मनुष्य पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, लता जब प्रकृति की गोद में विश्राम कर रहे थे चम्पा उसी समय उस सूची भद्य अन्धकारको

चीरती हुई किसी अज्ञात प्रदेश की तरफ जारही थी ।

प्रातः काल उठकर देखा तो चम्पा का पता नहीं था । उसके कमरे में केवल एक पत्र पड़ा था । पत्र में लिखा था:—

पूजनीय पिताजी और स्नेहमयी जननी !

मेरेही कारण आपको इतना कष्ट उठाना पड़ा, इसके लिये मैं क्षमा प्रार्थी हूं । मैं कहां जारही हूं ? इसका कुछ पता नहीं है । अत्यन्त दुःख के कारण मैं पागल सी हो रही हूं, जिधर दो आंखें ले जायगी उधरही चली जाऊंगी । मुझे ढूंढ़ने के लिये आप कोई तरह की चेष्टा न कीजियेगा । मैं अपना हाल समय समय पर पत्र द्वारा आपको ज्ञात कराती रहूंगी । मेरे लिये आप तनिक भी चिन्ता व दुःख न करियेगा यही मेरी अन्तिम प्रार्थना है ।

मिती बैशाख शुक्ला पंचमी सं० १९८८ वि० } आपकी दुलारी अभागिनी "चम्पा"

—o—

अय मां व बहनों बेटियों !

[श्री "आजाद", कलकत्ता ।]

अय मां व बहनों बेटियों !
दुनियां की ज़ीनत तुम से है ।
मुल्कों की बस्ती तुम से है,
क़ौमो की इज्जत तुम से है ॥
तुम घर की हो शहज़ादियां,
तुम शहरों की आबादियां ।
ग़म-गीन दिलों की शादियां,
सुख दुख में राहत तुम से है ॥
तुम आशा हो बीमारों की,
तुम ढारस हो बेकारों की ।
तुम दौलत हो मुहताजों की,
घर घर में बरकत तुम से है ॥

तुम देश-भक्त की भक्ती हो,
तुम पस्त-दिलों की शक्ती हो ।
तुम माया हो तुम मुक्ति हो,
सब जाहो हशमत तुमसे है ॥
वीरान पड़ा है बाग़े वतन,
मुद्दत से उजड़ा है ये चमन ।
तुम फिर से खिला दो उसमें सुमन,
दुनियां की हसरत तुम से है ॥
तुम देश की ख़ातिर जेल गईं,
तुम सख्ती सारी झेल गईं ।
तुम जान पर अपने खेल गईं,
हिम्मत की इज्ज़त तुम से है ॥

तुम सुनती हो फ़रियाद वतन,
तुम कर दोगी 'आज़ाद' वतन ।
ताहश्र करेगा याद वतन,
उम्मीद सलामत तुम से है

—*—

स्त्रियां और खद्दर



[श्रीमती हुक्मादेवी छात्रा, हृषिकेश]

वर्त्तमान समय में देश के अन्दर स्वतन्त्रता की जो लहर उठ रही है, उसमें स्वदेशी का प्रश्न एक आवश्यक प्रश्न है, उसमें स्वदेशी के अन्दर भी खद्दर-धारण का प्रश्न बड़ा ही आवश्यक महत्त्वपूर्ण और सर्व-साधारण के जानने योग्य है। अनेक नर-नारी अनेक बार यह प्रश्न कर बैठते हैं कि महात्मा गांधीजी वर्त्तमान समय में खद्दर-प्रचार के लिए इतना भारी उद्योग क्यों कर रहे हैं और प्रत्येक व्यक्ति को यह उपदेश क्यों देते हैं कि इस समय खद्दर पहनना सब धर्मों में सबसे बड़ा धर्म है, और देश को स्वतन्त्र करने का यह अमोघ अस्त्र है, इत्यादि इत्यादि।

जब कोई नवीन आन्दोलन किसी देश में उठता है तो वहां के नर-नारियों को अनेक प्रकार की शङ्कायें होती हैं। शङ्काओं का होना शुभ चिह्न है, क्योंकि यही ज्ञान-वृद्धि का सरल मार्ग है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां उपर्युक्त प्रश्न पर शङ्का करती अधिक देखी गई हैं। अतएव बहनों की शङ्का निवारण करने के लिए मैं इस महत्व पूर्ण प्रश्न का उत्तर देने की इच्छा करती हूं—

(क) विदेशी कपड़ा पहनने से हमारे देश भारतवर्ष का साठ करोड़ से अधिक रुपया विदेशों को चला जाता है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि यह देश महाकङ्गाल हो रहा है और होता जा रहा है। यहाँ के नर-नारी भूखे नंगे होकर मर रहे हैं, और विदेशी आनन्द कर रहे हैं। खद्दर धारण करने से वह रुपया विदेश न जाकर देश में ही रहेगा, कंगाली दूर होगी, भूखों को भोजन और नंगों को वस्त्र प्राप्त होने से देश के लोग सुखी होंगे।

(ख) विदेशों का बना हुआ कपड़ा पहनने से हमारे देश के लोग पराधीन हो गये, यदि विदेशों से कपड़ा न आवे तो नंगे फिरते रहें और हाहाकार मच जाय। इससे यहाँ के रुई धुनने वालों (धुनियों), कातने वालों, कपड़ा बुनने वालों (जुलाहों) और कपड़ा बेचने वालों का व्यवसाय (पेशा) बिलकुल नष्ट हो गया। एक तो बेरोज़गार होकर और भूख की ज्वाला से सन्तप्त होकर 'भूखा मरता क्या न करता ?' कि लोकोक्ति के अनुसार वे अपने ही देश के धनिक और सम्पन्न भाइयों के घरों में लूट-मार, चोरी-डाका आदि डालकर उपद्रव मचाने लगे, जिस से उन्हें जेलखानों में सड़ना पड़ा और दूसरे लोगोंको आर्थिक घाटा हुआ और व्यर्थ की तकलीफें झेलनी पड़ी। इससे समाज में अशान्ति फैली, नैतिक पतन हुआ, और अनेक प्रकार के झगड़े-बखेड़े खड़े होगये, अपने देश भाइयों में फूट का बीज बोया गया। चोरी करके झूठ बोलना सीखा, और अनेक पापों में फंस गये। विपरीत इसके खद्दर पहनने से स्वाधीनता रहती है। किसी देश का मुंह ताकने की

आवश्यकता नहीं होती। यहाँ के कई धुननेवालों, कातने वालों, कपड़ा बुननेवालों और कपड़ा बेचने वालों को रोजगार मिलता है। एक तो सारे दिन काम में लगे रहने से उनका मन बुराई की ओर नहीं जा सकता, दूसरे सायङ्काल घरमें जब मजदूरी का पैसा लेकर आयेंगे और सुख से पेट भरकर भोजन करेंगे और तन ढककर कपड़ा पहनेंगे, तो फिर उन्हें धनिक और सम्पन्न भाइयों की ईर्ष्या करने की आवश्यकता न रहेगी। इस प्रकार जब वे सुखी और सन्तुष्ट रहेंगे, तो लूट, मार, चोरी, डाका आदि कुछ नहीं करेंगे। इससे देश में शान्ति और सुख रहेगा। समाज के लोग अनेक बुराइयों से बच कर अच्छे आचरण करेंगे, जिससे समाज का सुधार होगा।

(ग) विदेशों का बना हुआ रंग बिरंगा अनेक प्रकार का चटकीला, भड़कीला, चमकदार, झमझमाता हुआ कपड़ा पहनने से देश के नर नारियों में बड़ी शौकीनी, नजाकत, नखरा, शेखी और घमण्ड उत्पन्न होगया। धनिक लोग बहुमूल्य वस्त्र धारण कर आसमान से बातें करने लगे, साधारण श्रेणीके मनुष्यों को बड़ी तुच्छ दृष्टि से देखने लगे, और इस प्रकार के घमंड में चूर होकर अत्यन्त विषयासक्त बनगये। बहुमूल्य वस्त्रों से आर्थिक हानि, अनेक प्रकार की शौकीनी, शेखी से मानसिक और घमंडसे देश का सामाजिक पतन हुआ और सब प्रकार से हानि पहुंची! विपरीत इसके शुद्ध सादा और श्वेत खद्दर पहनने से मनमें सादगी, शुद्धता अपने देशी भाई बहनों के प्रति समानता का भाव उत्पन्न होता है। ऊंच नीच की खोटी भावना एवं घमंड नष्ट होता है; सुशीलता, नम्रता, धार्मिक भाव, स्वदेशाभिमान और स्वाधीनता की पवित्र एवं उन्नत करने वाली भावनाएं उत्पन्न होती हैं।

(घ) अनेक देशों का बना हुआ भिन्न भिन्न प्रकार का कपड़ा पहनने से देश के अन्दर समभाव संगठन और एकदेशीयता नहीं रहती, दूसरे देशों के निवासियों की दृष्टि में भारतीयता का कोई विशेष चिह्न दृष्टि गोचर नहीं होता; क्योंकि कोई मखमल कोई नीमजरी, कोई बनात और कोई काश्मीरा पहनता हुआ दृष्टि गोचर होता है। परन्तु खद्दरधारण करने से गरीब अमीर, छोटे बड़े, ऊंच नीच सबही समान दृष्टि गोचर होते हैं। समान-वेष से पवित्र समभाव उत्पन्न होता है, समाज का संगठन होता है, परस्पर प्रेम उत्पन्न होता है, और विदेशियों की दृष्टि में भारतवासियों की विशेषता का चिह्न दिखाई देता है, जिससे उनकी एकता और शक्ति का पता लगता है।

(ङ) रेशमी और ऊनी वस्त्र बहुत गरम होते हैं। अनेक प्रकार की मलमल, डोरिये, जाली, तनजेब, नैनसुख आदि बहुत पतले और शीघ्र फटनेवाले होते हैं। नीमजरी, मखमल, कमख्वाब, जरी के वस्त्र आदि बहुत ही बहुमूल्य और भारी होते हैं, खराब होनेका भी हर समय खटका लगा रहता है। विदेशों में अनेक पशुओं के रक्त, चरबी, अण्डे की सुफेदी, बाल, खाल आदि का मिश्रण करके वस्त्रों पर माँड़ रंग, फूल और रोएं जमाये जाते हैं, जिससे वे सुन्दर और मनको मुग्ध करनेवाले बनते हैं, ऐसे वस्त्र हमारे देश के सात्विक-प्रकृति, धार्मिक, और पवित्र विचार के लोगों के लिये ग्रहण करने के सर्वथा अयोग्य और त्याज्य हैं। विपरीत इसके खद्दर न बहुत भारी, न हलका, न बहुमूल्य, सर्दी में गरम रहता है

गर्मी में पसीना आकर ठण्डा होजाता है, खराब होने पर भारी नुक़सान होनेका भय नहीं रहता,यदि खराब भी हो जाय तो धुलकर शीघ्रही शुद्ध हो सकता है। अन्य वस्त्रों की अपेक्षा बहुत मजबूत और टिकाऊ होता है। अकेला खद्दर का वस्त्र धारण करने से ही शरीर की रक्षा हो सकती है। हर प्रकार का परदा भी रह सकता है। उपर्युक्त विदेशी वस्त्रों की भाँति, मांस-धोवन, चर्बी, अंडेकी सफेदी और रक्त आदि इसमें कुछ नहीं पड़ता। केवल शुद्ध रुई के सूत के तारों से यह बनता है और सख्त करने के लिये कभी कभी चावलों का माँड़ डाल दिया जाता है। धोने पर यह साफभी बहुत जल्दी निकल आता है।

(च) ऊपर जिस प्रकार के वस्त्रों का नाम गिनाया गया है, उनमें से ऊनी और रेशमी वस्त्रों को सन्दूकों में रखने से एक ऋतु बीत जाने पर उन में कीड़ा अवश्य लग जाता है, जिसके कारण एक तो वस्त्र दुर्बल होजाते हैं और दूसरे आर्थिक हानि होती है। रेशमी, ऊनी जरी के और डोरिए आदि जितने भी प्रकार के विदेशी वस्त्र हैं वे सबही पानी पड़ने या धोबी के यहां जाने से खराब होजाते हैं और शोभा बिगड़ जाने से वे बहुत भद्दे लगते हैं, जिससे पहनने वाले के मन में ग्लानी-सी हुआ करती है। इसके अतिरिक्त इन सब प्रकार के वस्त्रों में यह बड़ा भारी दोष है कि किसी की सिर्फ टोपी ही बनती है, किसी का कोट ही बनता है, किसीका कुरता, किसी का जाकेट, किसी का पाजामा, किसी का लहंगा, किसीका ओढ़ना, किसी की कुर्ती, दुपट्टा आदि बनते हैं। इसमें से यदि एक प्रकार का भी वस्त्र प्राप्त न हो सके तो लाचार उसके लिये कष्ट उठाना पड़ता है। कोई भी ऐसा कपड़ा नहीं, जिसमें पूरी पोशाक बन जाय। परन्तु विपरीत इसके खद्दर कई वर्ष तक सन्दूकमें रखने पर अथवा वर्षा ऋतु व्यतीत होने पर भी खराब नहीं होता, पानी पड़ने पर या धोबीके यहाँ धुलने पर वह खराब या भद्दा नहीं होता, बल्कि धुलनेपर गाढ़ा चमकदार और शुद्ध एवं सुन्दर बनता जाता है, जिसको पहन कर मन प्रसन्न होता है। अकेले खद्दर से ही टोपी, कोट, कुरता, पाजामा, जाकेट, ओढ़ना, लहंगा, साड़ी, बन्डो, रूमाल आदि सबही प्रकार की पोशाक बन सकती है और किसी समय यदि धोबी न मिले तो पहननेवाला अपने हाथों ही प्रत्येक वस्त्र धोकर शुद्ध कर सकता है। यही खद्दर की महती विशेषता है।

(छ) हमारे परम पूज्य महात्मा गांधीजी की प्रेरणा से देश में जब से खद्दर का प्रचार हुआ है, यहाँ पर बहुत से बेरोज़गारों को रोजी मिल गई, जिसकी बदौलत वे कुछ रूखा सूखा टुकड़ा खाने लगे, लोग स्वदेश के बने हुए कपड़े का व्यवहार कर स्वाधीन होने लगे, फिजूलखर्ची, शौक़ीनी और घमण्ड बहुत घट गया, देश-प्रेम और भ्रातृ-प्रेम उत्पन्न हो गया। विपरीत इसके विलायत के बहुत से कपड़े के बन्द होने से वहां के कई कारखाने बन्द होगये, स्वदेश के लोग विदेशी कपड़ा पहनना पाप समझने लगे। जब विदेशी कपड़े की बिक्री बहुत घट गयी तो वहां पर (विदेशों में) हाहाकार मचने लगा। संसार में जितना भी कार्य होरहा है वह सब धन के द्वारा चल रहा है, और धन को बढ़ाने का जरिया केवल व्यापार है। यदि इस देश का व्यापार नष्ट न होता तो हम इस प्रकार दाने दाने के मोहताज न होते।

ऊपर जितने भी विदेशी वस्त्रों के दोष और खद्दर के गुणों का वर्णन किया गया है, उनमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं है। अतः मैं अपने देश के महिला मण्डल का ध्यान इस ओर आकर्षित करना परमावश्यक समझती हूं। वर्त्तमान स्थिति को सम्मुख रखते हुए देश-बहनों के लिये खद्दर का प्रश्न एक आवश्यक और विचारणीय प्रश्न है, क्योंकि उक्त समाज देश का अर्धांग है और अर्धांग की सहायता के बिना कोई कार्य्य कैसे सफल हो सकता है? परिवारों के अन्दर विवाह, पुत्र जन्म, और अनेक प्रकार के उत्सव होते हैं, जिनमें वस्त्रों की बहुतसी खरीद हुआ करती है। यदि पुरुषों से उस समय कहा जाय कि स्वदेशी वस्त्र अथवा खद्दरही खरीदना, तो वे उत्तर दिया करते हैं, 'क्या करें भाई, हम तो एक इञ्च भी विदेशी वस्त्र न मोल लें, परन्तु घरकी अमुक-अमुक देवियाँ विवश करती हैं।' इत्यादि। इसलिये हम अपनी बहनों से साग्रह-सादर-सप्रेम निवेदन करती हैं कि वे अपने देश की दशा का ध्यान रखती हुई अपने हृदय से यह दृढ़ प्रतिज्ञा कर लें कि चाहें हमें कितना ही कष्ट क्यों न उठाना पड़े, परन्तु हम कोई भी विदेशी वस्त्र व्यवहार नहीं करेंगी। शौकीनी, टीप-टाप, बनाव-शृंगार और फिजुलखर्ची एवं अधिक धन व्यय करनेके लिये जो महिला-मंडल के मस्तक पर कलंक का टीका लगा हुआ है, उसे मिटाने का यह अवसर है कि महात्मा गान्धी के बताये हुए अमोघ मन्त्रका पालन करते हुए एकमात्र खद्दर का व्यवहार किया जाय। बहनो! यह समय राग रंग उत्सव और आनन्दोल्लास कर धन बर्बाद करने और चैनकी वंशी बजानेका नहीं है। इस समय देश पर महान विपत्ति है। हमारे पूज्य नेताओं और पुरुष वर्ग ने जो स्वतन्त्रता का आन्दोलन उठाया है, और प्राण दे देकर भी उसकी सफलता की चेष्टाकर रहें हैं, वह आपके सहयोग के बिना पूर्ण नहीं हो सकता।

स्त्री समाज खद्दर का व्यवहार शुरू करके पुरुष समाज की बड़ी भारी सहायता कर सकता है। घर घरमें चर्खा चले, कपड़ा बुना जाय और उसी का व्यवहार हो। स्वराज्य कोई गूढ़ अर्थ का शब्द नहीं है, उसके अर्थ तो स्वतन्त्रता के ही हैं। यदि स्त्री समाज इस कठिन अवसर पर पुरुष समाज की सहायता करके देश भक्ति का परिचय देना चाहे तो उसे खद्दर का व्यवहार अवश्य करना चाहिये। यही हमारा बार बार निवेदन है, क्योंकि इसीके द्वारा देश समाज और भारत सन्तान का कल्याण हो सकता है।*

* त्यागभूमि से



ओसवाल नारी समाज



[श्री० मालचन्द जी कोठारी, चुरू ।]

संसार में जितने प्राणी हैं सबका एकही ध्येय और एकही लक्ष मुख्य है। इसी लक्ष प्राप्ति के लिये सब प्रयत्न करते हैं और उस ध्येय तक पहुंचने में मनुष्य अपनी सारी शक्तियां लगा देते हैं। वह लक्ष्य क्या है? "शान्तिमय, संयममय और प्रकाश मय जीवन व्यतीत करना"। यदि पूर्ण रूपसे विचार किया जाय तो मनुष्य का ध्येय इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इन्हीं की प्राप्ति के लिये गृह-निर्माण की आवश्यकता हुई और सारा संसार चक्र इन्हीं पर अवलम्बित है।

इस गृह-निर्माण में नारी का प्रधान स्थान है और साथ ही अपने भिन्न २ रूपों में भिन्न भिन्न कार्य सम्पादन कर समाज की अथवा समाज के कल्याण की निर्माता होती हैं। जैसे नारी रूप में वे कुटुम्ब का विकाश और प्रसार करती हैं वैसेही माता रूप में पालन, आत्म विसर्जन, त्याग, निवृत्ति और समाज विकाश की भावना उत्पन्न करती हैं। अतएव गृह निर्माण अथवा गृह जीवन का विशेष अंश हमारी नारियों पर निर्भर है।

किसी समाज का सच्चा कल्याण तभी होता है जब पुरुष अपने कर्त्तव्य और आदर्श की ओर देखें और स्त्रियां अपने कर्त्तव्य और आदर्श पर ध्यान दें। यदि इनमें से कोई भी च्युत हुआ तो अवश्य मेव वह समाज रसातल को प्राप्त होगी। पुरुष सच्चा पुरुष तभी होगा जब उसमें साहस, क्षमा, धैर्य, गाम्भीर्य, ज्ञान और पराक्रम होगा। इन गुणों से रहित मनुष्य सच्चा मनुष्य कदापि नहीं हो सकता। इसी प्रकार स्त्रियां उस समय तक सच्ची स्त्रियां नहीं हैं जब तक उनमें दया, करुणा, स्नेह शील, ममता, लज्जा, मधुरता और विनय, सरलता, सन्तोष और सेवा की प्रवृति नहीं है। इन गुणों के प्राप्त करने का मुख्य साधन विद्या है। विद्या के के अभाव से न तो स्त्रियां अपने गुणों का प्रसार अथवा प्रकाश कर सकेंगी और साथही उनके अभाव में पुरुष भी पुरुषोचित गुणों से वञ्चित रह जायंगे। क्योंकि पुरुष की उन गुणों की दाता और प्रारम्भिक गुरु स्त्रियां ही हैं। यदि किसी व्यक्तिकी प्रारम्भिक शिक्षा पूर्ण और समुचित रूपसे न हुई तो वह व्यक्ति कदापि भी पूर्णत्व नहीं प्राप्त कर सकता। ठीक यही हिसाब समाज का भी है।

जिस समाजकी नारियां अशिक्षित हैं वही समाज गृह जीवन के सुख से वञ्चित है। इसे सारे संसार ने मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है।

जब हम अपने समाज की ओर ध्यान देते हैं तो हमें स्पष्ट दिखलाई पड़ता है कि हमारे समाज कीसी दुर्दशा शायद ही किसी और समाज की हो। और अबतक कैसे हमारी समाज चल रहो है, मुझे तो यही आश्चर्यमय दीख पड़ता है।

सारा संसार, सारी जातियां अपनी उन्नति की होड़ लगाये बैठी हैं और इसी चेष्टा में हैं कि मैं सबसे अधिक ऊच्च और उन्नतिशील होकर संसार का सच्चा गृह-जीवन सुख-भोग करूं पर जब मैं अपनी समाज की ओर दृष्टि डालता हूं तो देखता हूं कि जैसे अन्य उन्नति की होड़ लगा रहे हैं, उसी प्रकार हम अवनति में होड़ लगाये बैठे हैं और उस की वृद्धि के लिये फूट, द्वेष, कलह को नित्य प्रति बढ़ाते जाते हैं।

अन्य समाज की देखा देखी यदि कुछ उत्साही नवयुवक किञ्चित मात्र शिक्षित होकर समाज की उन्नतिकी ओर अग्रसर होते हैं अथवा होना चाहते हैं तो हमारी स्त्री समाज, सहायता देना तो दूर रहा बीच में रोड़ा अटका कर हमारे उन्नति पथ को ही रोक देती है। इसका मुख्य कारण है अविद्या।

हमारे समाज में इसी अविद्या के कारण किस कदर कुरीतियां बढ़ी हुई हैं और उनका स्त्री समाज पर कितना असर पड़ता है यह कथन से परे है। हमारे समाज की लांछना निन्दा और वेइज्जती इन कुरीतियों के कारण अधिकाधिक होती जाती है पर समाज के कानों पर जूं तक नहीं रेंगती। आप लोग ध्यान देकर विचार करें जिस समय हमारे समाज की स्त्रियां झुण्ड के झुण्ड मेले-तमाशे अथवा पूज्य जी के अथवा साधुओं के दर्शनार्थ जाती हैं तो रेलवे स्टेशनों पर उनकी दुर्दशा और वेइज्जती अकथनीय होती है और साथ लज्जा के पृष्ट पोषक ओसवाल समाज होते हुएभी उस समय वे स्त्रियां लज्जा को तिलांजलि देती हुई दुर्दशा को प्राप्त होती हैं। बिना किसी पुरुष को साथ लिये मनमाना चाहे जहां दर्शनों को चले जाना समाज की मर्यादा को नष्ट करना ही है। यह सब कारण अविद्या का अथवा अपने आदर्श को न जानना ही है।

हमारे समाज की स्त्रियों की दूसरी वीभत्स कुरीतियों का दिग्दर्शन करना हो तो कृपया अपनी समाज की शादी (व्याह) में शरीक होकर देखलें। कितने भद्दे भद्दे गाने स्त्रियों के मुख से निकलते हैं जिनको सुनने से पुरुषों तक को लज्जा आती है। यहाँ तक कि लज्जा भी लज्जा से झुक जाती है। पर खेद समाज की मूर्ख स्त्रियों पर इस का कोई असर नहीं पड़ता। साथही उन गानों का असर उन छोटे २ वर कन्याओं-पर क्या पड़ता है इस पर समाज को ध्यान देना चाहिये। मैं दो एक गानों का उद्धरण इस स्थान पर करूंगा जिससे समाज की आंखें खुले—

बोल मत बनरा न्यारा हो स्याँ
सासू का डेरा परे कर स्याँ
सामला चौबारो खोल ले स्याँ
इत्यादि।

जिस समय वर (दुल्हा) अपने घर आता है तो उसके स्वागत में कैसे अच्छे गाने गाये जाते हैं! इससे समाज का कदापि मुख उज्वल नहीं हो सकता। नमूना देखिये।

"काकी थारी कूतडी, मूते चुल्हैं माँह रे। भूआ थारी भगतिन मोडारे साथ रे।" चारूं भाई चोरटा बहिन चिन्डाल रे"। इत्यादि।

भला पाठकगण बतावें यह कहां की सभ्यता है? जबतक इन कुरीतियों को हमलोग नारी समाज से दूर नहीं करेंगे तबतक कदापि कल्याण नहीं हो सकता। इसके लिये शिक्षा की नितान्त आवश्यकता है। यह तो हुई समाज की बातें।



हाथ पैर हिलें न हिलायें, फिर भी बढ़ता जाता प्यार।
कटि कट जाय नहीं है चिन्ता, गहनों की होवे भरमार॥
तोल तुला पर देखा हमने, भारी है आभूषण-भार।
असह्य भार है कैसे सहता, अजरच होता तन सुकुमार॥

"आजाद"

व्यक्तिगत रूपसे अब विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि हमारे समाज का हरएक व्यक्ति गृह जीवन में दुःखी है। कहीं कलह, कहीं फूट, कहीं शिशु पालन क्रिया का अभाव हरएक व्यक्ति के दुःख को चरम सीमा तक पहुंचा रहा है। इसका क्या कारण है? केवल मात्र अविद्या-अशिक्षा। हमारा भारत कुटुम्बिक अथवा परिवारिक जीवन के लिए प्रसिद्ध था। पर आज आप देखें कि भाई २ की बात तो दूर रहो पिता पुत्र तक पृथक देखे जाते हैं। और पृथक रहने पर भी अथवा पारिवारिक संस्था का छिन्न भिन्न नाश कर देने पर भी व्यक्तिगत जीवन में भी सुखी नहीं है। इसका मूल कारण स्त्रियों की अशिक्षा है!

कुछ लोगों का कहना है और कह सकते हैं कि ओसवाल जाति प्रायः धनी जाति है इसलिये उन्हें किस बात का दुःख है। मैं कहता हूं केवल धन से सुख प्राप्त करना उतना ही कठिन है जितना बच्चे का चाँद पकड़ना।

सच्चा सुख और गृह जीवन का आनन्द स्त्रियों और पुरुषों को एक दूसरे पर सच्चा प्रेम, सच्ची सहानुभूति और अपने आदर्श पर डटे रहने से ही होता है न कि धन से। सच्ची सहानुभूति दोनों को आपस में तभी पैदा होगी जब दोनों ही अपने आदर्श को जानेंगे। आदर्श ज्ञान बिना शिक्षा होना असम्भव है। इस लिये शिक्षा का प्रचार समान रूप से होने ही से हमारी समाज गृह जीवन में सुखी हो सकेगी।

धार्मिक कार्यों में भी हमारे समाज की स्त्रियाँ सर्वथा असमर्थ और पुरुषों के प्रति कूल ही रहती हैं। पति-पत्नी, माता-पुत्र का क्या सम्बन्ध है इस से वे नितान्त अनभिज्ञ हैं। संसारिक भोग विलास अथवा पुत्र-जनन प्रक्रिया के अतिरिक्त वे कुछ भी नहीं जानती। पति-पत्नी के सच्चे प्रेम, माता-पुत्र के सच्चे स्नेह का अंकुर भी इन के नहीं उगने पाते। ये बातें धर्म से ही सम्बन्ध रखने वाली हैं। इसका क्या कुफल परिणाम होता है इसे समाज आँख खोल कर देख ले मुझे कहने की आवश्यकता नहीं है। स्त्रियों को ऐसी शिक्षा देनी चाहिये जिससे उनका गृह जीवन सुखमय शान्तिमय व्यतीत हो। दम्पत्ति में सच्चा प्रेम, माता-पुत्रमें सच्ची ममता प्रेम और सहानुभूति हो। इस प्रकार सन्तोष होने ही से धर्म प्रवृति बढ़ती है। अविद्या के कारण उपदेशों का पूर्ण रूप से अर्थ न समझ कर प्रायः मूर्ख स्त्रियाँ उसका अर्थ का अनर्थ कर बैठती हैं और अन्ध भक्ति के रूप में मान कर अनेक प्रकार के दुष्परिणामों को भोगती हैं साथ ही गृह जीवन को भी दुःखमय बना देती हैं।

अविद्या होने के कारण हमारे समाज की स्त्रियाँ गृहकार्य करने में भी सर्वथा असमर्थ रहा करती हैं।

जिससे बाहर और भीतर दोनों प्रबन्ध पुरुषों को ही करना पड़ता है और सारा बोझ पुरुषों के ही ऊपर रहने से घर की व्यवस्था भी उचित रूप से नहीं होती।

इन में अविद्या के कारण कायरता डरपोक पन इतना अधिक रहता है कि अपनी रक्षा करना ये अपना धर्म ही नहीं समझती अथवा वे समझती हैं कि उनकी रक्षाका उनके ऊपर कोई भार ही नहीं है। और यही कारण है कि प्रायः हमारी समाज

के बालक भी डरपोक, कायर और अकर्मण्य हुआ करते हैं। ये औरतें सदैव अपने नन्हें २ बालकों को अपनी विलास-प्रियता की पूर्ति के लिये सुलाने के उपाय में अनेक प्रकार के झूठे और असत्य भयप्रद बातों को कहकर उनमें डर पैदा कर देती हैं* जिससे वे शीघ्र निद्रागत हो जाँय पर इसका असर सन्तान पर इतना अधिक पड़ता है कि एक तो वे झूठी बातों के आदी हो जाते हैं और दूसरे डरपोक।

मैं ने हरएक विषय को वृहत रूपमें और अधिक स्पष्ट न कहकर समष्टि रूपसे जनता के सामने रखा है। आशा है कि हमारी समाज यदि संसार में अपना अस्तित्व कायम रखना चाहती है तो संसार की गति विधि देखकर संसार के साथ ही चलने का प्रयत्न करेगी। उसी में अपनी भलाई है। पुरानी रूढ़ियों पर ही कायम रहने से अब समाज का कल्याण नहीं है। अतएव स्त्री शिक्षा के लिए ओसवाल समाज को बहुत शीघ्र कटिबद्ध हो जाना चाहिये और साथ ही समाज की इन कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये ताकि हरएक मनुष्य अपना निश्चित ध्येय सुख शान्तिमय जीवन-प्राप्त कर सके।

---

*भय दिखाना तो मामूली बात है। बच्चों को सुलाने के लिये विलासी माता पिता रात्री में अमल देते तक देखे गये हैं।

—सम्पादिका

आत्म-विश्वास

[लेखिका—श्री० रूपकुमारी धाड़ीवाल]

कहा है कि मनुष्य में कोई ऐसी शक्ति है जो पर्वत तक को हिलादे तो वह केवल आत्म-विश्वास ही है। संसार में जो शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं वे केवल आत्म-विश्वास से ही होती हैं। कोई भी बड़ा काम क्यों न हो यदि हम में आत्म-विश्वास है तो हम उसे बड़ी आसानी से कर लेंगे।

सच्च तो यह है कि जिसमें जितना आत्म-विश्वास अधिक होगा वह उतना ही बड़ा और भारी काम कर सकेगा। जिस मनुष्य में आत्म-विश्वास नहीं होता वह पहिले ही से हिम्मत हार जाता है और कोई काम नहीं कर सकता।

समाज की जितनी उन्नति हुई है वह केवल आत्म-विश्वास से ही हुई है। संसार में बड़े काम उन्हीं महापुरुषों ने किये हैं जिनमें अनन्त आत्मा-विश्वास था। रेल, तार, हवाई ज़हाज इत्यादि आविष्कार ऐसे ही लोगों ने किये थे जिन में अनन्त आत्मा-विश्वास था। शिवाजी, महाराणा प्रताप, जमसेदजी नौसेरवानजी ताता, नेपोलियन, जॉर्ज वाशिङ्गटन आदि महापुरुषों की जो कीर्ति आज तक अमर है उसका कारण वही उनका आत्म-विश्वास है। आज भी महात्मा गान्धीजी ने इतनी सफलता और कीर्ति पाई है वह केवल आत्म-विश्वास से ही पाई है। आत्म-विश्वास में अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति, अनन्त गुण है, बिना आत्म-विश्वास के मोक्ष भी नहीं मिल सकता। इसलिए स्त्रियों को भी आत्म-विश्वास का गुण सीखना चाहिए।

* * *

गर्भवती स्त्री के कर्त्तव्य

—०*०—

[लेखिका—श्री० रामकुंवरी देवीजी जैन, वैद्यरत्ना ।]

प्रिय बहिनो—यह बात बहुत ही आश्चर्य पूर्ण मालूम होती है कि वर्त्तमान कालीन हमारी बहिनें ज्ञान हीन होकर अपना सर्वस्व खो बैठी हैं। हमारी समझ में तो आजकल प्रायः सभी स्त्री समाज अनेकों तरह के दुःखोपार्जन करती हुई अपने जीवन को पशुवत व्यतीत कर रही हैं।

पूर्व इतिहास के देखने से पता चलता है कि हमारी सती सीता द्रौपदी आदि सी मातायें पुरुषों के समान अधिकार रखतीं हुई उच्च और आदर्श बनती थीं यह केवल उनकी ज्ञान शक्ति का ही प्रभाव था। पहिले समयमें कभी भी माता पिता की समक्षतामें पुत्रों का मरण नहीं होता था। सन्तान बलवती, दीर्घायु और हृष्ट पुष्ट होती थी। असमय में ही गर्भपात का तो कोई नाम ही नहीं जानते थे। परन्तु वर्त्तमान की दुखित दशा देखकर बार बार अश्रु पात होते हैं कि अनेकों स्त्रियां सन्तान न होने, या गर्भ रहकर गिरजाने तथा संतान होकर मरजाने इत्यादि दुःखों से व्यथित हो रही हैं यह केवल उनकी अज्ञानकारी के ही कारण है। अतएव मैं उपरोक्त विषय को अपनी बहिनों के सामने रखती हूं आशा है कि बहिनें इस को ध्यान पूर्वक पढ़ती हुई उत्तम लाभ उठावेंगी।

प्रिय पाठिकाओं—गर्भ में स्थित बालक की रक्षा स्त्रियों के हाथ में है क्योंकि बच्चा और माता के हृदय का पारस्परिक इतना निकट सम्बन्ध है कि बच्चे का जीवन माता के ऊपर और माता का जीवन बच्चे के ऊपर निर्भर है। इसीलिये प्रायः देखा गया है कि अठमासा बच्चा होने पर जच्चा और बच्चा दोनों का मरण हो जाता है कारण कि उस समय दौहृद की सञ्चालन क्रिया होती है। ऐसी अवस्था बहुत संशयात्मक है। स्त्री की, रसके बहने वाली नाड़ी गर्भ की नाभि नाड़ीके साथ लगी हुई है इस से गर्भवती जैसा भी भोजन करती है उसका रस गर्भ के शरीर में पहुंचता है उसी से गर्भ की वृद्धि होती है। गर्भस्थ बालक को माता का श्वासोच्छवास होने से श्वासोच्छवास और माता के संचलन आदि क्रिया होने से तद्वत् ही क्रियायें होती हैं। सारांश यह है कि माता की तरह ही गर्भ को समस्त चेष्टायें करनी पड़ती हैं। उसका जीवन, स्वास्थ और दीर्घायु होना सब माता के ऊपर ही निर्भर करता है। इसलिये गर्भिनी के योग्य जो कृत्य और अकृत्य हैं उन्हें लिखती हूं।

गर्भ की स्थिति होनेपर समझदार स्त्रियों को प्रायः उसी दिन ज्ञात हो जाता है कि आज मेरे गर्भ धारणा हुआ है। उन्हें उसी दिन से या गर्भ का निश्चय होने पर प्रथम वा द्वितीय मास से शुद्ध श्वेत वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित होकर पवित्रता पूर्वक आनन्द में रहना चाहिये।

ध्यान देने योग्य बातें—

१—अधिकतर मधुर, स्निग्ध, हृदय को प्रिय,पतले, हलके, सुचारु रूप से पके हुए शुद्ध और अग्निदीपन करने वाले पदार्थ सेवन करे। यथा गेहूं या जौ की रोटी, पुराने चावल का भात, उड़द मूंग अरहर की दाल, गाय बकरी का दूध, घी मिश्री शक्कर, आम अनार मुनक्का, अमरूद, आंवला का सेवन करना हितकारी है।

२—गर्भवती को सुबह शाम गौका दूध गर्म करके ठण्डा किया हुआ मिश्री खांड डालकर रोजाना पिलाना चाहिए इस से गर्भ की रक्षा होती है, कब्ज नहीं रहने पाता, कै आने में लाभ दायक होता है।

३—अच्छे मुलायम और साफ वस्त्रों पर रात्रि के १० बजे तक आराम पूर्वक शयन करे।

४—सदैव शुद्ध मनोविनोद पूर्ण कार्यों में समय को बितावे।

५—नित्य सामायिक,स्वाध्याय, देव दर्शन, पठन पाठन आदि शुभ कार्य करे। ऐसा करने से होने वाली सन्तान बहुत ही सुयोग्य धर्मात्मा और निरोगी होती है।

गर्भिणी के लिये वर्जित कर्म—

१—बेसी पुराना अचार, राई, रायता, सिरका, सड़ी छाछ (तक्र), गरम दूध, चाय तथा गर्म पानी, गर्म गर्म भोजन, सूखी अर्थात कठोर रोटी न खावे।

२—कुनाइन तथा कपड़े जारी करनेवाली चीजें तज, कूट, तुलसी, कबाबचीनी, अजमोद वगैरह तेज दवाएं न खावे।

३—कब्ज होने पर दस्तावर दवा न ले, कै होने पर कै रोकने की बहुत दवाएं न करे। कै (वमन) होने से गर्भपात नहीं होने पाता।

४ गर्भवती स्त्री क्रोध न करे, सूने (अकेले) घर में न रहे, शरीर में तेल उबटन न लगावे, सोने की शय्या ऊंची न करे, पेट न मलवावे, बोझा न उठावे, बालक गोद में न बैठावे, बालक गोदमें बैठाने से टक्कर लगने का डर है। चारपाई या पलंग न खींचे, यात्रा व सफर में न जावे, जोर से हिलनेवाले इक्का (तांगा) की सवारी न करे, अनाज ऊखली में न कूटे, ये कार्य गर्भिणी स्त्री को वर्जनीय हैं।

५—गर्भिणी स्त्री को अधिक परिश्रम करना दिन में सोना, रात्रि में जागना, भयानक स्थान में जाना, मल मूत्रादि वेगों को रोकना, उपवास करना, नदी पार करना, एकदम सीधे होकर अधिक समय तक सोना बिलकुल ही मना है।

गर्भिणी स्त्री का खास त्यजनीय कर्म संयम तोड़ना है। दुनियां में समस्त अन्यायों में बड़ा भारी भयङ्कर अन्याय गर्भावस्था में इन्द्रिय निग्रह न करना है। गर्भावस्था में संयम भंग करने से स्त्री और बालक दोनों की हत्या होती है। इसके समान दूसरा अनर्थ नहीं, इस अवस्था में ब्रह्मचर्य पूर्वक न रहने से योनि मुख टेढ़ा हो जाता है, गर्भ का हिस्सा योनिके बाहर आजाता है, प्रसव के समय मरण के समान पीड़ा होती है, बालक पेट में मर जाते हैं। सैकड़ों गर्भ गिर जाते हैं, मैंने अपने ८ वर्ष के अनुभव से पता चलाया है कि ३० फी सदी स्त्रियां और ४४ फी सदी गर्भस्थ बालक गर्भावस्था में अब्रह्मचर्य पूर्वक रहने से मृत्यु के ग्रास बनते हैं।

अतएव इस कर्म को सब से पहिले छोड़ देना चाहिये।

दूसरे गर्भिणी स्त्रियों को कदापि व्रत न करना चाहिये। क्योंकि व्रत करने से माता के दूध नहीं होता। दूध नहीं मिलने से बच्चा कमजोर हो जाता है या गर्भस्थ बालक सूख जाता है। अधिकांश गर्भपात और मृतवत्सा दोष व्रत करनेसे होजाते हैं। इसलिये गर्भावस्थामें व्रतादि करने से बड़ी २ आफतों का सामना करना पड़ता है।

आशा है कि हमारी बहिनें उपर्युक्त गर्भिणी के कर्त्तव्य और वर्जनीय कार्यों को ध्यान पूर्वक देखती हुईं उनके ऊपर अनुकरण करके मेरे परिश्रम को सफल बनावेंगी।

गर्भकाल में दौहृदिनो की इच्छा के सम्बन्ध में अनेकों चरकादि आचार्यों ने माना है कि गर्भावस्था में स्त्री जो कुछ भी इच्छाएं करे उनकी पूर्ति करना अत्यावश्यक है। पूर्ति न होने से बालक लूला, लंगड़ा, अन्धा, काना, बावना आदि कुरूप उत्पन्न होता है और इच्छायें पूर्ण कर देने से सन्तान बुद्धिमान, दीर्घायु, रूपवान, होगी। अतएव हो सकनेवाली इच्छाओं की पूर्ति करना उन के पतिदेवों का मुख्य कर्त्तव्य है।

—o—

उद्बोधन



[श्री० सुरजकुमारीजी जैन, आर्यिका]

(१)
उठो! अब कर लो आत्मसुधार,
सहोगे कबतक बन्धन भार।
बचाओ रही सही अब लाज,
'मानवी' नाम उजलने काज।

(२)
छीन विद्यादेवी का हार,
लुभाया दे सूना उपहार।
बनी अब सांव मूढ़ अज्ञान,
करे अब कलह द्वेष का पान।

(३)
हुआ धुल धान अरे! संसार,
रहा नहीं कोई समझनहार।
बढ़ा है अब तो अत्याचार,
देख लो बहनो! आंख उघार।

(४)
आर्य ललना! अब भी तो जाग,
जरासी छेड़ स्फूर्ति की राग।
अविद्या को करदे हदपार,
मिलाले मानव के अधिकार।

(५)
बहिन! दल बल से हो तैय्यार!
हाथ ले तपस्या की तरवार।
'सुरज' करलेना आत्म सुधार,
यही है मनु जीवन का र।

—:*X*:—

स्त्री-शिक्षा

[१]

[श्री० पूरणचन्द्रजी नाहर, एम० ए० बी० एल० एम० आर० ए० एस०]

मनुष्य मात्र को शिक्षा की आवश्यकता है। हिताहित ज्ञान ही मनुष्य को पशुओं से पृथक् करता है और इस विवेक का केवल शिक्षा से ही विकाश होता है। चाहे आध्यात्मिक विषय हो चाहे वैज्ञानिक हो एकमात्र शिक्षा से ही वह ज्ञान सम्यक् परिस्फुटित हो, सकता है। अतः शिक्षा की आवश्यकता और उपयोगिता सदैव रही है। मनुष्य सृष्टि में पुरुष और स्त्री दोनों का सम्बन्ध अविछिन्न है दोनों के महत्व में भी कोई पार्थक्य नहीं है। अपने जातीय जीवनमें महिलाओंका स्थान भी वैसाही उच्च कोटि का है जैसा कि पुरुषों का। आप संसार के किसी भी देश में जाइये, किसी भी कौम को देखिये बालक बालिकाओं की शिक्षा का कुछ न कुछ प्रबन्ध अवश्य मिलेगा! यदि माताएं सुशिक्षित हों तो उनके बच्चों पर वही प्रभाव पड़ेगा और वह बचपन की शिक्षा उनके जीवन के शेष मुहूर्त्त तक उसी प्रकार अङ्कित रहेगी। जातीय जीवन की उन्नति और अवनति ऐसी शिक्षाओं पर निर्भर है। कोई भी जाति की सच्ची उन्नति उसी समय हो सकती है जब कि उस जाति की महिलाएं सुशिक्षित हों और उनके विचार उच्च कोटि के हों। जब तक ऐसा न होगा तबतक सच्ची और स्थायी उन्नति सम्भव नहीं है। केवल माता ही अपने बच्चे के सुकोमल हृदय में भावी महत्व के बीज लगा सकती है।

खेद का विषय है कि अपने भारतवासियों में खासकर अपने ओसवाल समाज में स्त्री शिक्षा का विशेष अभाव है। यदि मैं यह कहूं कि मेरा यह लेख, जो कि 'महिलाङ्क' के लिये ही लिख रहा हूं, वह अपने समाज की कुछ इनी गिनी स्त्रियों के अतिरिक्त बहिनों की अपेक्षा भाई ही अधिक संख्या में पढ़ेंगे तो असत्य न होगा। परन्तु यदि अपने प्राचीन भारत की स्त्रियों की उन्नत दशा से वर्त्तमान भारत की स्त्रियों की शिक्षा की तुलना की जाय तो हताश होना पड़ता है। चाहे हम भारतीय वैदिक युग को देखें, चाहे जैन युग अथवा बौद्ध युग को देखें, भारत वर्ष में विद्यावती और कलावती स्त्रियां वर्त्तमान थीं।

समाज एक जीती जागती वस्तु है; जैसे जीव देह का कोई अंश अपुष्ट रहे तो उसका प्रभाव और २ अङ्गों पर पड़ता है उसी प्रकार समाज का कोई अङ्ग दुर्बल अथवा अपूर्ण रहे तो उस समाज की उन्नति की आशा करना निरर्थक होगा। पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी समाज का अङ्ग हैं और उनका स्थान भी पुरुष के बराबर है। विद्वानों ने स्त्रियों को अर्द्धाङ्गिनी की आख्या दी है। यदि आधा अंग ही निकम्मा रहे तो कोई भी कार्य्य पूर्ण सफलता से होना सम्भव नहीं है। यद्यपि अपने भारतवासी सभी समाजवाले अपनी २ उन्नति के पथ में और जातीय-जीवन के

सुधार में लगे हैं परन्तु इनमें से इने गिने कुछ समाजों के अतिरिक्त और समाज और खास कर अपना ओसवाल समाज स्त्री शिक्षाके विषय में बहुत पीछे रहा हुआ है। अद्यावधि इस विषय का कोई सराहनीय प्रबन्ध नहीं है और इसी कारण समाज कोई विशेष उल्लेखनीय उन्नति न कर सका है। जिस प्रकार पुरुषों में शिक्षाका आरम्भ हुआ है उसी प्रकार महिलाओं के लिये भी समयानुकूल प्रबन्ध होना चाहिये। खेद है कि अभी तक भारतके किसी प्रान्त में अपने समाज में स्त्री शिक्षा का प्रबन्ध नहीं है। द्रव्य, क्षेत्र और काल की कदापि उपेक्षा करना उचित नहीं। अपने को मर्यादा के नाम पर अथवा हठवाद से, आगे की कुप्रथा अथवा समय विरुद्ध आचार व्यवहार को लकीर के फकीरकी तरह लेकर बैठ रहना नहीं चाहिये परन्तु समय और शक्ति नष्ट नहीं करके समयानुकूल सुधार लेना चाहिये। यदि धर्म की अथवा मर्यादा की दुहाई देकर बैठे रहेंगे तो आगे बढ़ नहीं सकेंगे और दूसरे समाज को प्रतियोगिता में पीछे पड़े रहेंगे।

यद्यपि शिक्षा कार्य बाल्यकाल से आरम्भ होता है, परन्तु मनुष्य का सारा जीवन ही शिक्षा का है। हिन्दू समाज में विशेषतः ओसवाल समाज में बाल विवाह से शिक्षा कार्य पर प्रथम कुठाराघात होता है। परदा प्रथा भी मोटी अन्तराय होजाती है, मैं इन बाधाओं के विषय में अधिक कहना नहीं चाहता इतना ही यथेष्ट होगा कि अब ऐसी २ सामाजिक प्रथाओं का सुधार होना अत्यावश्यक है। मैं पहिले कह आया हूं कि स्त्रियां भी समाज में पुरुषों के ही सदृश स्थान की अधिकारिणी हैं। बाहर का और परिश्रम का कार्य पुरुषों का है। दैनिक गृह कार्य सन्तान पालन व रोगियों की परिचर्यादि कार्य महिलाओं का है, परन्तु इन विषयों की शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं है। आवश्यकता पड़ने पर ठेक कर सीखना अथवा शिक्षा पाकर कार्य में अग्रसर होना इन दोनों का अन्तर बुद्धिमान स्वयं सोच लें। यदि समाज की उन्नति करना हो और अपना गृह सुख शान्ति मय करना चाहें तो समाज के प्रत्येक भाई को स्त्री शिक्षाका महत्व सदैव स्मरण रखना चाहिये।

उच्च शिक्षा के विषय में उल्लेख अनावश्यक है, अपने समाजों में तो स्त्रियों को प्रारम्भिक शिक्षा का ही अभाव है। "कन्याप्येवं पालनीया शिक्षणीयाति यत्नतः।" अपनी कन्याओं को अति यत्नतः शिक्षा देने के स्थान में अल्प यत्नतः भी शिक्षा नहीं देते। यदि इस विषय में कोई भाई उच्च विचार प्रगट करते हैं तो दूसरे भाई का उत्साहित करना तो दूर की बात है वे कह उठेंगे कि लड़कियों को क्या हुण्डी चलानी है। प्रिय पाठक! अब हुण्डी पुर्जों के दिन गये अब तो सब कामही योग्यता पर निर्भर है। यदि स्त्रियां शिक्षित रहे तो सांसारिक जीवन सुख शान्तिमय होता है। पुरुषों को गृह कार्य में उनसे बड़ी सहायता मिलती है। परन्तु अपने तो उनको एक स्थावर सम्पत्ति-सा मान रखा है। न तो अपने महिलाओं के स्वास्थ्य का ख्याल रखते हैं और न उनकी शिक्षा का। व्यायाम, स्वच्छ वायु सेवन, आदि स्वास्थ्यकर व्यवस्था उनके भाग्य में मानों लिखी ही नहीं है। हजारों के लाखों के जेवरों से लाभ नहीं होगा। उपरोक्त कारणों से अपने समाज की प्रायः स्त्रियां अस्वस्थ रहती हैं। क्षयरोग, रक्ताल्पता आदि कठिन व्याधि पीड़ित महिलाओं को

संख्या बढ़ती जाती है। अवशेष में उनका सारा जीवन नष्ट होजाता है। रात दिन वैद्य और डाक्टरों के पीछे अर्थ नाश करना पड़ता है और वे बिचारी कष्ट भोगती हैं और साथही अपना गार्हस्थ्य जीवन दुःखमय होजाता है। अतः समाज का कर्त्तव्य है कि पुरुषों की शिक्षा के साथ २ स्त्री शिक्षा का समयानुकूल प्रबन्ध करे। पुरानी रूढ़ियों को हटावे, स्त्रियों के व्यायाम की ओर शुद्ध आहार विहार और स्वच्छ वायु सेवन आदि की व्यवस्था करे। रोगी चर्या, शिशु पालन, सिवन कार्य्य, पाक प्रणाली, संगीत चर्चा, चित्रकलादि विषयों पर प्रत्येक बड़े २ स्थानों में तथा प्रत्येक घरों में जहां तक संभव हो इस प्रकार अग्रसर होने से थोड़ेही काल में विशेष सफलता होगी। मैंने प्रत्यक्ष अनुभव किया है और सुविज्ञ पाठक भी स्वयं अनुभव किये होंगे कि बालकों की अपेक्षा बालिकाओं की बुद्धि तीव्र होती है। बालक जो कुछ पाठ महीने भर में तैयार करेगा वही कन्या १५—२० दिन में अभ्यास कर सकती है। खेद है कि उनकी शिक्षा पर अपने तनिक भी ध्यान नहीं देते। उनके विवाहादि की मुख्य चिन्ता रखते हैं गहने और कपड़े, अलङ्कार वेष भूषादि केवल बाह्य आडंबर है। शिक्षा ही असली गहना है और उनका सारा जीवन सुखी हो सकता है। कला आदि के अभ्यास से उनको अपने उदर पूर्ति के लिये दूसरों का मुखापेक्षी होना नहीं पड़ेगा। दुःख आने पर विचलित नहीं होंगी। सारांश यह है कि अपने समाज में स्त्री शिक्षा का और उनके आवश्यकीय कलाओं के अभ्यास का शीघ्र प्रबन्ध होना चाहिये ताकि छोटे बड़े धनी निर्धन सब महिलाएं अनायास से शिक्षा का लाभ उठाकर जातीय जीवन:उन्नत कर समाज का मुख उज्ज्वल करें।

—०—

[२]

[श्री घेवरचन्दजी डोसी]

स्त्री और पुरुष की सम्मिलित शक्तियां ही कार्य्य कर मनुष्य जीवन को सुखमय बनाती हैं। जिस प्रकार किसी गाड़ी में दो मजबूत पहियोंकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार दाम्पत्य जीवन में पुरुष और स्त्री दोनों के सुयोग्य होने की नितान्त आवश्यकता है। जिस प्रकार कोईभी गाड़ी एक पहिये के सहारे नहीं चल सकती उसी प्रकार कोई भी विवाहित पुरुष या स्त्री एक दूसरे की सहायता बिना अपने जीवन को सुखमय नहीं बना सकता। इसलिये इस मनुष्य जीवन को आनन्दमय और सुखपूर्ण बनाने के लिये पुरुष और स्त्री के जोड़े का सुयोग्य होना आवश्यक है।

आजकल प्रायः देखा जाता है कि हमारे देश के सभी प्रान्तों में लोग अपने लड़कों की शिक्षा के लिये काफी धन खर्च कर डालते हैं तथापि वैसी समुचित शिक्षा नहीं मिलती, जिसे सन्तोषजनक कहा जा सके। कहीं२ तो इसका बिलकुलही विपरीत प्रभाव देखने में आता है। प्रायः धनियों के लड़के स्वेच्छापूर्वक रहने के कारण चरित्रहीन, विलासी, उदण्ड और कुपथगामी हो जाते हैं। इसका प्रधान कारण उनके बाल्य-जीवन पर किसी योग्य अभिभावक के तत्वावधान का न होनाही है। आरम्भिक जीवन में उन्हें इस प्रकार की शिक्षा ही नहीं दी जाती जिससे वे अपने को सुपथगामी तथा कर्मशील बना सकें। अशिष्ट लाड़ प्यार में ही उनके बाल्य जीवन का अमूल्य समय व्यतीत हो जाता है। जिस समय उनके कोमल मन में पवित्र भाव भरे जाने चाहिये



सती दमयन्ती और व्याध

उस समय उनपर किञ्चित मात्र भी ध्यान नहीं दिया जाता। इसी कारण उनका भविष्य घोर अन्धकार मय बन जाता है। किन्तु यदि उसी अवस्था में उनकी कोमल मतिमें सुविचारों का बीज बपन किया जाय तो जिस उन्नति के लिये सारा देश हाय२ मचाये हुए है, वह सहज हो में प्राप्त होजाय। केवल यौवन कालीन शिक्षा से ही कोई मनुष्य समुन्नत नहीं हो सकता। तत्कालीन शिक्षा से तो पूर्णलाभ तभी होता है जब बाल-जीवन में बालकों को योग्य शिक्षा दी गई हो। यदि आरम्भ में ही जिस समय बालकों के विचारों में भले या बुरे भावों का समावेश नहीं हुआ रहता, इनको सुशिक्षा की ओर लगाया जाय तो निश्चय ही भविष्य समुज्वल चारु चन्द्रिका के समान सुखमय, आनन्द पूर्ण और परोपकार प्रविष्ट हो जाय। किन्तु इन सब बातों के न होने का सर्व प्रधान कारण स्त्री-शिक्षा का अभाव ही मालुम पड़ता है।

बाल्य काल में लड़के प्रायः उस समय तक, जब तक वे अच्छी तरह बोलने चालने नहीं लग जाते, अपनी माता के पासही रहते हैं। वहीं उनमें सुसंस्कार या कुसंस्कार पड़ते हैं। यदि माताएं सुशिक्षिता और सुशीला होती हैं तो उनकी सन्तान भी वैसीही शिक्षित होती है। और यदि वे अपढ़, मूर्ख और असभ्य होती हैं तो उनपर भी वैसाही प्रभाव पड़ता है। कहा भी है कि:—

"Home is the first institution for boys training where mother exercises her own sweet pleasures to educate her children."

वस्तुतः सन्तान के जीवन पर माता का जितना गहरा प्रभाव पड़ता है, उतना किसी अन्य व्यक्ति का नहीं पड़ सकता। बच्चे निरन्तर अपनी माता के पासही रहा करते हैं और माताएं सदाही उन्हें प्रेम पूर्वक भले या बुरे जैसे उनमें स्वयं गुण होते हैं, सिखलाती हैं। यदि वे शिक्षिता रहती हैं तो अपनी सन्तान के सामने भी उच्च आदर्श रखती हैं—सुप्रवृत्ति परायण बनाने की पूर्ण चेष्टा करती हैं। उस समय की प्यार पूर्ण शिक्षा और उपदेश का जो प्रभाव बालकों के कोमल हृदयों पर पड़ता है वह प्रौढ़ावस्था में किसी योग्य से योग्य शिक्षक के द्वारा भी नहीं पड़ सकता। इसलिये मनुष्य के भविष्य को सुखमय बनाने में स्त्रियों का ही अधिक हाथ मानना अनुचित नहीं होगा। यदि हम उन्हेंही शिक्षिता एवं सभ्या बनाने का उद्योग करें तो पुरुष समाज भी सहज ही में सद्गुण-विभूषित एवं सुप्रवृति संलग्न हो जायगा। बिना स्त्रियों की शिक्षा के हमारी उन्नति सर्वथा असम्भव है। यदि पुरुष उच्च कोटि की शिक्षा प्राप्त किए हुए हैं तो उससे क्या हुआ? सन्तान पर तो.. उसका उतना प्रभाव पड़ताही नहीं है जितना स्त्रियों का, जो शिक्षित, गंवार, और फूहड़ हैं। सन्तान पर इन्हीं की मूर्खता, अशिष्टता, गंवारपन और फूहड़पनका प्रभाव पड़ेगा। जिस प्रकार कोमल टहनियों को आदमी जिस ओर चाहे झुका सकता है, उसी प्रकार बालकों को आदमी जैसा बनाना चाहे, बाल्य कालमें ही शिक्षा देकर वैसा बना सकता है, क्योंकि उस समय जो भाव, जो विचार हृदय में जम जाते हैं वे सहसा निकाले नहीं जा सकते। अतएव उन्हें सुन्दर सच्चरित्र, सभ्य बनाने के लिये उनकी माताओं का शिक्षित सभ्य और सुशील होना आवश्यक है।

यही नहीं, यदि कोई पुरुष शिक्षित हो और उस

की पत्नी मूर्खा हो तो यह बात स्पष्ट है कि उन दोनों में विचार विभिन्नता अवश्यही रहेगी। उनमें कभी प्रेम नहीं हो सकता। जिस प्रेम को पुरुष चाहेगा उससे वह सर्वथा अनभिज्ञ रहेगी। जैसा प्रेम वह करना चाहेगी, उससे पुरुष घृणा करेगा। इस प्रकार बात २ में ही गृह कलह होता रहेगा, जिससे दाम्पत्य जीवन सुखमय के बदले महान कण्टकाकीर्ण हो जायगा। उस अवस्था में पुरुष में या स्त्री में अथवा दोनों में अप्रसन्नता के भाव उठने लगेंगे। तब पवित्रतम दाम्पत्य प्रणय कहां रह जायगा ? कहीं २ तो ऐसा भी देखा गया है कि स्त्रियां अपने परम पूज्य पतिदेव को बात बात में झुलसियां लगाया करती हैं और खरी खोटी बातें सुनाकर अपने दिलका अरमान पूरा करती हैं। अपढ़ स्त्रियां अलङ्कारों और आभूषणों के लिये अपने पतियों को नित्यप्रति तङ्ग किया करती हैं। चाहे घरमें भोजन का प्रबन्ध हो या नहीं, चाहे सारा काम काज मिट्टी में मिल जाय, उन्हें तो यदि कोई चिन्ता रहती है, तो बस सुन्दर व रमणीय आभूषणों की। इस प्रकार कभी कभी पतियों को तंग आकर अपना सर्वस्व नष्ट करते, और स्त्रियों को सुखमय गृह को दुखमय और अशान्ति पूर्ण बनाते भी देखा गया है। यह बात प्रत्येक विज्ञ पाठक समझ सकता है कि यदि स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार होता तो ऐसी नौबत कदापि नहीं आती। सभी सभ्य देशों की स्त्रियां इन दुर्गुणों से वञ्चित पाई जाती हैं। हमारे भारतवर्ष में जिस समय शिक्षा का पूर्ण प्रचार था, उस समय नारियां ही गृह स्वामिनियां थी। उन्हीं के ऊपर समस्त गृह कार्य्य का उत्तरदायित्व था, पुरुष तो केवल घर के बाहर अपना काम काज किया करते थे। स्त्रियां ही सुचारु रूप से गृहका प्रबन्ध किया करती थीं। एक वह दिन था जब वे लक्ष्मी और गृह देवियों के नाम से विभूषित की जाती थीं किन्तु इनमें शिक्षाभाव के कारण आज वह दिन आगया है कि हमलोग उन्हें कर्कशा और बच्चा पैदा करनेवाली Machine ही समझ बैठे हैं। यदि उनमें अब भी शिक्षा का प्रचार होजाय, पुरुष समाज पुरुष शिक्षा पर जितना ध्यान देता है उसका कुछ अंश भी स्त्री शिक्षा की ओर लगावे तो मातृ-जाति के वे दिन दूर नहीं दिखाई देंगे।

युवक जिस समय अपनी ललनाओं से सस्नेह मिलते हैं, उस समय आशा अभिलाषा के प्रतिकूल आचरण देखकर बड़ेही लज्जित और लांच्छित हो जाते हैं। उस समय स्त्री शिक्षा की आवश्यकता प्रतीत होती है और उन्हें शिक्षिता बनाने की धुन सवार हो जाती है; फल निरर्थक होता है; क्योंकि परिपक्व विचारों पर नये विचार विजय नहीं पाते। अतः इन बातों से वञ्चित होने के लिए बालकों के शिक्षा की भांति बालिकाओं की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध करना बहुत ही आवश्यक और उचित प्रतीत होता है, क्योंकि स्त्रियों की शिक्षा के बिना पुरुष और स्त्री में उतनाही भेद रहेगा जितना दिन और रात में, जिनका संयोग, जिनमें स्वाभाविक पारस्परिक प्रेम का होना सर्वथा असम्भव है। कुछ लोगों का विचार है कि प्रणय निभानेके लिये सौंदर्य्य ही उपादेय है, किन्तु जो सौन्दर्य्य हीन हो क्या उसे इस संसार में रहने का कोई अधिकार ही नहीं है ? जो लोग ऐसा विचारते हैं, वे भूल करते हैं; क्योंकि सौन्दर्य्य तो क्षणिक नेत्र सुखका देनेवाला है,

किन्तु शिक्षा जनित सद्गुण निरन्तर आनन्द देने वाले होते हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि स्त्रियां पढ़ लिख कर चरित्रहीन हो जाती हैं। ऐसा सोचनेवाले तो सब से अधिक भूल करते हैं। वे यह नहीं जानते कि पातिव्रत को पूर्ण रूप से समझने के लिये उसका ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। जो शिक्षा के बिना कदापि हो ही नहीं सकता। अतएव स्त्री शिक्षा का प्रचार पुरुष शिक्षा के प्रचार से अधिक उपादेय और आवश्यक है।

हमारे ओसवाल समाज की जो हीनावस्था आज दीख पड़ती है, उसका प्रधान कारण स्त्री-शिक्षा का अभाव ही है। सुख सम्पत्ति सम्पन्न होने पर भी हमारे समाज का इतना अधिक अधःपतन हुआ है जिसे देखकर सभ्य संसार में अपना कोई स्थान ही नहीं मालुम पड़ता। बाहर नाना विधि बुद्धिसे काम लेनेवाले पुरुष जब गृह में प्रवेश करते हैं तब अपनी कुल रमणियों की बातें सुनकर किंकर्त्तव्य विमूढ़ होजाते हैं! यदि वे शिक्षिता होतीं तो कब संभव है कि अपने पूज्य पतियों को इस प्रकार की जली भुनी बातें सुना कर दिन भर की परिश्रान्ति के पश्चात् ऐसा पुरस्कार प्रदान करतीं? वे (पुरुष) तो इस आशा से दौड़कर गृह में प्रवेश करते हैं कि उनकी परायणा स्त्रियां सुकोमल कण्ठों से दो मधुर वाक्य प्रदान कर दैनिक परिश्रान्ति को क्षण भर में ही मिटा देगी, किन्तु उनकी आशा पर तुषार पड़ जाता है, आशा-कलिका पल भर में ही कुम्हला जाती है। वे हताश और हतोत्साह होजाते हैं। व्यापारिक सफलता की बातों पर विचार करने के बदले चिन्तामग्न होकर सुखकी नींद सो भी नहीं पाते। भला ऐसी अवस्थामें कोई भी सुविज्ञ व्यक्ति इस प्रकार गृह कलह पीड़ित पुरुष से उन्नति की आशा कैसे कर सकता है? अशिक्षा के कारण ही वे (स्त्रियाँ) अपने सास, ससुर, जेठ आदि गुरुजनों की अवहेलना किया करती हैं। उन्हें उनके माना-पमानकी चिन्ता नहीं रहती, उनको प्रतिष्ठाका ध्यान नहीं रहता, अपने सामने वे किसी को कुछ चीज ही नहीं समझती। अपने को अलंकारों और आभूषणों से अलंकृत करने और अपनी इच्छा को पूर्ण करने के अतिरिक्त उन्हें और कोई कार्य्य ही अच्छा नहीं लगता। वे अपनी सन्तान का लालन पालन भी नहीं करती, उनके स्वास्थ्य पर ध्यान नहीं रखती, उनकी रुग्णावस्था में केवल सिर धुना करती हैं। यदि वे शिक्षिता रहतीं तो सबसे पहले उनके हृदय में अपने गुरुजनों के प्रति सम्मान, अपनी सन्तान के प्रति शुभैषणा के विचारों का ही उदय होता। उस उस शुभैषणा में केवल अभिलाषा ही नहीं रहती, जैसी अशिक्षितावस्था में रहती है, बल्कि उस अभिलाषा को कार्य रूप में परिणित करने की भी शक्ति होती।

प्रायः ऐसी बातें देखने में आई है कि अशिक्षिता स्त्रियों को अपने पतियों के पत्र को पढ़ाने के लिये दर दर ठोकरें खानी पड़ती है। किन्तु तो भी उस पत्र के भाव को समझाने वाला नहीं मिलता। यदि कोई मिला भी तो स्वेच्छा से कुछ बातें गुप्त रख कुछ सुना दिया। इस कारण अर्थ का अनर्थ हो जाता है और बुरा परिणाम होता है।

एक बार किसी युवक पति ने अपनी पत्नी को प्रेम-पत्र लिखा। स्त्री अशिक्षिता होने के कारण पत्र लेकर किसी दूसरे के पास गई। पत्र में पति ने

चिरकाल पश्चात् पत्र लिखने के कारण अपनी स्नेहमयी स्त्री से क्षमा मांगी थी, जिसका पत्र पढ़नेवाले ने विपरीत अर्थ समझा दिया। उसने कह सुनाया, "तुम्हारे पति ने अब तुम्हे क्षमा कर दिया, अब क्या करोगी? तुम कहीं की न रहोगी।" स्त्री व्याकुल हो उठी। उसकी समझ में नहीं आया कि इस क्षमा का क्या तात्पर्य है। मेरे प्राणवल्लभ ने मुझे किस बात पर क्षमा किया। वह व्यग्र हो उठी। हृदय की व्याकुलता को न रोक सकी। इन सब बातोंको देखने से कहना पड़ता है कि प्रत्येक बात में हमारी स्त्रियों का शिक्षित होना आवश्यक है, किन्तु हमारा ओसवाल समाज गाढ़ी मोह निद्रा में पड़कर इस ओर ध्यान ही नहीं देता। यदि अब भी इस ओर ध्यान दिया जाय तो भविष्य में उन्नति की आशा अवश्य की जा सकती है। किसी भी कार्य्य को यदि प्रबल इच्छा शक्ति के साथ किया जाय तो कभी बिलम्ब नहीं होता। स्त्री शिक्षा भी यद्यपि बहुत पिछड़ गई है, पर समुचित रूप से सञ्चालित करने पर समुन्नत हो सकती है।

मेरा प्रत्येक स्त्री-शिक्षा-प्रेमी से हार्दिक अनुरोध है कि इस कार्य्य से कभी विचलित न हो। समाज के सच्चे शुभैषियों को इस अत्यावशक विषय को भुलना नहीं चाहिये, नहीं तो समाज को किसी दिन वह दुर्दिन देखना पड़ेगा जिस समय उठने का किसी प्रकार का प्रयत्न सर्वथा विफल सिद्ध होगा।



वीर हाडी

—✻‡✻‡✻—

[श्री० कविवर कन्हैयालालजी जैन, कस्तला]

देव-वाणी कान में प्रभावती के छागई
म्लेच्छ से स्वरक्षा का उपाय मानो पागई ।

✻ ‡ ✻

उन दिनों शीशोदिया-वंश-अवतंश से,
प्रबल, पराक्रमी, प्रचण्ड वीर, साहसी
राणा राजसिंह थे मेवाड़ मही के पति,
वक्ष पर धार धरा धन्य जिनको हुई ।
ध्यान उनका ही राजनन्दिनी को होगया,
शोक सहसा ही सब दूर हुआ, खो गया ।
पत्रलिखा—"वीरवर ! क्षत्र-कुल-केसरी !
आज एक अबला पै आई घोर आपदा,
अन्धकार छारहा है, आई हूं शरण में
रक्षा हेतु आपकी, न त्राण अन्य है कहीं ।
दिल्लीश्वर म्लेच्छ मुझे छीन ने को आ रहा ;
क्षत्राणी-सतीत्व यवनों की काम-अग्नि में
करने को भस्म, और क्षत्रियों की छाती पै
पदाघात द्वारा जय-चिह्न अङ्कनार्थ ही
चढ़ा है सदल ; किन्तु आपसे नृसिंह के
रहते भी सिंहनी को पायगा शृगाल क्या ?
आशा है, छूपायगा न छाया क्षत्रियाणी की
भस्म होगा क्षत्रियों की भीषण क्रोधाग्नि में ।
आपकी हूं सेविका, अनाथिनी के नाथ हो
रक्षा करो । टेर सुन रुक्मिणी की कृष्ण ज्यों
आये थे, तथैव नाथ ! आओ शीघ्र आप भी,
आके अपना के दासी अपनी सुखी करो ।
म्लेच्छ यदि छाया भी शरीर की छू जायगा
आत्मघात-पाप शीश धारना पड़े मुझे,
क्षत्रियों की कीर्ति में कलङ्क लग जायगा ।
अतएव यवन के आगमन पूर्व ही
दासी बना गौरव अनुग्रह अपना करो-
प्रार्थिनी-भगवान् शरणागता-प्रभावती ।"

✻ + ✻

वीरवृन्द पूर्ण थी मेवाड़ाधीश की सभा
राणा ऊंचे स्वर्ण-सिंहासन पै आसीन थे
चूड़ावत, राणावत, हाडा, परमार से
झाला आदि बड़े बड़े वीर बैठे थे वहां
युद्ध-कला-कौशल-प्रसङ्ग थे छिड़े हुए
मानो रण-रङ्ग की तरङ्गित उमङ्ग थी ।
राणा के पदों में पत्र डाल दिया दूतने,
कौतूहल पूर्वक उठाया, किन्तु बांच कर,
नृपति विचार ग्रस्त एक क्षण को हुए ।
चूड़ावत राणा को विचार ग्रस्त देख के
बोले—"प्रभु ! क्या है ?"
"बांच देखो तुम आप ही"
कह कर पत्र वह दे दिया नृपाल ने ।
पढ़ पत्र चूड़ावत बोले धीर वाणी से—
"इस में विचारणीय बात कुछ है नहीं
वरण किया है-और हुई है सहधर्मिणी
रक्षा करना है कर्तव्य तब आपका ।

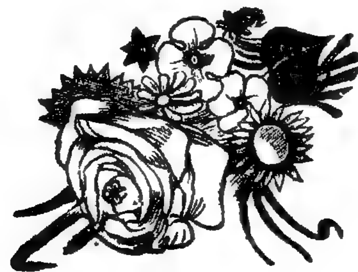
अबला है अभय, न भय है त्रिलोक में
देखे आंख खोल के मेवाड़-राज-रानी को
त्रिजग में ऐसा कोई वीर जन्मा ही नहीं ।
म्लेच्छ की मजाल क्या जो आवे उस ओर को ?
आज्ञा दीजिए तो दिल्ली ध्वंस कर दूं अभी
सोचने की बात नहीं, क्षत्र-कुल-कामिनी
रक्षा न करेंगे तो क्या म्लेच्छ-अङ्क-शायिनी
आप ही करेंगे ? खोके कुल की प्रतिष्ठा को ;
करके निराश उसे, आत्माघात के लिये
विवश करेंगे, निज आश्रिता को आप क्या ?
नाम क्या डुबाइयेगा अमर प्रताप का ?"
"शान्त वीर ! शान्त" राणा राजसिंह ने कहा—
"शान्त हो के सोचिए कर्तव्य है क्या अपना ?
चिन्ता करता हूं नहीं त्यागने की मैं उसे
चिन्ता करता हूं दिल्लीपति अवरोध की
गति रोकनी है उस दल बल की हमें
जिससे कि रानी सकुशल यहां आ सके"
"उसके लिये न चिन्ता आप करें क्षुद्र भी
करिये मेवाड़-वीर-सेना मम साथ में
दुर्जय दुर्लंघ्य बना पथ में प्राचीर, मैं
रोक दूंगा दिल्ली-सैन्य-सागर प्रवाह को"
ओज भरी वाणी गूंज चूड़ावत की उठी
"धन्य धन्य वीर !" शब्द सारी सभा में हुआ
तुष्ट होके राणा ने गम्भीर गिरा से कहा
"वीर ! उक्ति योग्य आपने ही कही
सहस्र पचास वीर ले के रण बांकुरे
करिये प्रस्थान, रोकने को दिल्ली सेना को,
करता हूं कूंच मैं प्रभावती-उद्धार को"
दो सहस्र सेना साथ लेकर नृपाल ने
कूंच किया उधर-इधर समरी सजे
वीररण-वाद्य बजे, क्षत्रि-गण गरजे
योद्धा हुए हर्षित कायर-हिय लरजे
चूड़ावत प्राङ्गण में सैन्यदल उमड़े
समय प्रस्थान का समीप हुआ । वीर की
दृष्टि महलों की ओर दैववश जा पड़ी
नव परिणीता रानी हाडी झांकती हुई
अर्द्ध मुकुलिता स्मिता कलिका सी पुष्प की
देखी, अभी कंकण था कर में बंधा हुआ ।
स्तम्भित विचार ग्रस्त चूड़ावत होगये
अन्तिम मिलन हेतु अन्तःपुर में गये ।
हाडी बोली-"नाथ ! सेना साथ छोड़ आये क्यों ?
युद्ध के प्रस्थान काल क्षुद्र नारी मोह क्यों ?
वीर रण-रंग सने कभी करते नहीं
मोह रमणी का, आर्य्य ! जाओ रणभूमि में
जय-लक्ष्मी जाकर प्राणेश ! प्राप्त कीजिये
अथवा विजय-माल देवियों से स्वर्ग में
पहरी, तो मैं भी साथ बनूं स्वर्ग गामिनी
रहिये निश्चिन्त सर्वथा ही मम ओर से"
"रहूंगा निश्चिन्त ही, विदा दो प्रिये ! दो विदा
जीवन में देखा देखी और अब हो नहीं
जाता हूं सदा को अब", चूड़ावत ने कहा
"प्राणधन ! चिन्ता नहीं हर्षित हो कीजिये
रण को प्रस्थान ।" सुन वीर वाक्य रानी के
चूड़ावत चले, शंका मन से नहीं गई ।
बार बार घूम कर पूछते यही रहे —
"तो रहूं निश्चिन्त अब ।" रानी कहती रही
नाथ ! मेरी शङ्का टुक भी न लावें चित्त में"
उतर सोपान से भी वीर ने वही कहा ।
और दृढ़ स्वर में समुत्तर वही मिला ।

अन्त में प्रस्थान-काल, सेवक सन्देश दे
भेजा महिषीके पास—"तो रहूं निश्चिन्त मैं ?"
सोचा वीर हाडी ने—'न शंका मन की गई,'
बोली · 'सुन ! भेट एक देती हूं मैं नाथ को,
जाकर के देना उन्हें, और कहना यही—
'देखके इसे भी आप होंगे न निश्चिन्त क्या ?
म्लेच्छ मुख कालिमा पराजय की पोतने'
अब भी न शंका त्याग, डंका दे चढ़ेंगे क्या
जाती हूं मैं आगे प्राण पति के प्रबन्ध को'
फिर कह के 'ले भेट लेजा' एक हाथ से
मार के कृपाण·शीश दे दिया उतार के।
सेवक ने हक्का बक्का हो के शीश लेलिया ;
भूमिपर प्राणहीन देह रानी की गिरी ;
अल्पकाल रहा वह सेवक निश्चेष्ट-सा,
पीछे हो सचेत, शीश जा दिया नृपाल को।
देख शीश चूड़ावत विस्मित बड़े हुए
डूबे फिर घोर निराशा के अन्धकार में,
तप्त आह सहसा निकल मुख से गई।
भग्न मनमें अपूर्व वीरता सी छागई।

लेके शीश, केशों के दो भाग वीर ने किये
बांध के गले में, धारा वक्ष पर शीश को ;
रुण्ड-मुण्ड-माला-धारी प्रबल प्रचण्ड वे
रूद्र के समान वर वीर शोभित हुए।
अश्व पर हो आरूढ़, नग्न खड्ग हाथ ले,
रण-मद-मत्त हो प्रस्थान किया युद्ध को।

* * *

जाओ वीर हाडी ! जाओ रानी ! स्वर्गधाम को,
देवियां खड़ी हैं लिये मंगल की आरती
तुम्हारे समान वीर नारियां ही देश की
गौरव हैं, प्राण हैं, सम्पत्ति हैं, विभूति हैं,
करती मुखोज्वल हैं माता मातृ भूमि का।
बार बार जन्में ऐसी वीरमना नारियां
भारत में छवि छटा छाये फिर स्वर्ग की
शान्ति, सौख्य, स्नेहमयी, सुखद स्वतन्त्रता—
वीणा का निनाद गूंज देश भर में उठे
देखें घर घर में स्वदेश अनुरक्तियां
पूजित हों देश में हमारी आद्या शक्तियां।



सुधार का मार्ग

—०*०—

[श्री० सिद्धराजजी ढड्ढा, एम० ए० एल० एल० बी०]

वर्त्तमान युग भारतवर्ष के लिये क्रांति युग है, केवल राजनैतिक क्षेत्र में ही नहीं बरन जीवन के सभी अंगों में क्रान्ति के चिह्न दिखाई पड़ते हैं। धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों में उथल पुथल मची हुई है—जिधर देखते है उधर ही आदर्शों का भीषण संघर्ष दिखाई पड़ता है। यह क्रांति एक युग के अन्त और दूसरे के आरम्भ की सूचक है। परन्तु प्रकृति के अटल नियम के अनुसार इस परिवर्त्तन कालके बाद जब क्रान्ति अपना कार्य पूरा कर चुकेगी—चारों ओर शान्तिका साम्राज्य होगा—और उस समय हमको हमारे छिन्न भिन्न समाज को प्रत्येक दिशा में फिरसे नये आदर्शों की नींव पर खड़ा करना होगा। हम एक ऐसे समय में रह रहे हैं जिसमें भविष्य के इतिहास की नींव डाली जायगी—यह बड़े महत्वका युग है। जिन आदर्शों पर हम हमारे समाज की फिर से रचना करेंगे वही आदर्श भविष्यमें सदियों तक हमारी सन्तान के दुःख अथवा सुख का कारण होंगे। यह तो हमारे सौभाग्य की बात है कि इस नवयुग का निर्माण हमारे ही हाथों से होगा—परन्तु साथही साथ हमारे कार्यों के लिये हमारा उत्तरदायित्व भी बहुत अधिक होगा क्योंकि हमारेही काम हमारे ही पतन अथवा उत्थान के कारण नहीं होंगे बरन सदियों तक आनेवाली भावी भारत सन्तान के भाग्य का निपटारा भी उन्हीं पर निर्भर होगा। अतः हम जीवन के जिस किसी भी क्षेत्र में अग्रसर होकर कार्य्य करें—हमको बहुत संभल कर और दूरदर्शिता से काम लेना होगा और निरन्तर मानव जाति के और हमारे भावी वंशधरों के हित का ध्यान रखकर कार्य करना पड़ेगा।

सौभाग्यवश भारत के स्त्री-संसार में भी अब क्रान्ति का जन्म हो चुका है। पुरानी रूढ़ियों की शृंखलाएं—जिन्होंने भारत की स्त्री जाति को सैकड़ों वर्षों से अपने पाश में अकड़ रक्खा था और उसको इस शोचनीय दशा तक पहुंचाया था—वह शृङ्खलाएं अब एक २ करके टूट रही हैं। पुराने युग का अन्त समीप है—पुरानी रूढ़ियों के पक्षपाती यदि अपनी सारी शक्ति भी लगा दें—तोभी इस परिवर्तन को, इस क्रान्ति के वेग को रोक नहीं सकते। समय प्रगतिशील है—वह कभी स्थिर नहीं रहता। परिवर्तन प्रकृति का अटल नियम है और कोई मानुषी शक्ति इस नियम को बदलने में समर्थ नहीं है।

परन्तु इस समय एक और विचित्र समस्या सामने है। अन्धकार से निकल कर भारत प्रकाश की ओर प्रगति तो कर रहा है परन्तु उसके सामने इस समय दो परस्पर विरोधी मार्ग खुले हुए हैं और इसका कारण है संसार की महान 'सभ्यताओं का संघर्ष'। यों तो यह प्रश्न विश्वव्यापी है-और इसके निराकरण पर सारे संसार की हानि और लाभ की

बाजी लगी हुई है पर भारतवर्ष के लिये यह प्रश्न विशेष महत्वपूर्ण है क्योंकि उन दो सभ्यताओं में एक का प्रतिनिधि स्वयं भारतवर्ष है और सारा संसार नेतृत्व के लिए उसकी ओर टकटकी बांधे हुए देख रहा है। भारतवर्ष की भूमि पर आज दो बलवान सभ्यताओं का भारी युद्ध चल रहा है। पश्चिमी जड़वाद ने भारत की प्राचीन आध्यात्मिक सभ्यता पर हमला किया है और सदियों से सोया हुआ भारत इस हमले से सचत होकर अपनी आत्मा की रक्षा करने में प्राण प्रण से लगा हुआ है। इस बात से भारत के क्रान्ति युगमें एक प्रकार की विचित्रता आगई है-प्रत्येक क्षेत्र में दो मार्ग सामने दिखाई देते हैं और दोनों परस्पर विरोधी हैं। नये युग के निर्माण करनेवालों के सामने यह विकट समस्या उपस्थित है कि किस मार्ग का अवलम्बन करें ?

स्त्री-सुधार के मार्गमें भी यही दुविधा उपस्थित है—सामने दो परस्पर विरोधी आदर्श मौजूद हैं-और उन दोनों में से एक को चुनना यह बहुत कठिन है। परन्तु प्रश्न के कठिन होते हुए भी इसका निराकरण तो करना ही होगा और कठिनाई का सामना करके निश्चय के साथ एक मार्ग पर आगे की ओर बढ़ना होगा। इसके लिये यह आवश्यक है कि हम उन दोनों मार्गों के गुण दोषों से भली भांति जानकार हो जांय जिससे एकबार निश्चय कर लेने पर फिर पछताना न पड़े और पैर पीछे हटाने का अवसर न आ जाय। इसी आशय से मैंने उन्नति के पथ पर अग्रसर होनेवाली बहनों के सामने अपने विचार रखने की धृष्टता की है।

भारतवर्ष की स्त्री जातिने अबतक बहुत अन्याय सहे हैं। भारतवासियों ने "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः" वाले पुराने आदर्श को भुलाकर जो अत्याचार स्त्री जाति पर किया है उसका फल तो उनको मिल चुका है। यह पाप आज उनके समाज के अङ्ग प्रत्यंग से फूट २ कर निकल रहा है। अब वह पुराना जर्जर दुर्ग अधिक दिन तक क्रान्ति की टक्करें नहीं झेल सकता है। शीघ्रही स्त्री जाति सदियों के अत्याचार से मुक्त होगी और अन्धकार से प्रकाश में आकर प्रगति के पथ पर आगे बढ़ेगी।

परन्तु बहनो! आपके सामने इस समय दो मार्ग हैं और उनमें से किसी एक का चुनना आपकी इच्छा पर है। प्रगति दोनों मार्गों में है परन्तु एक में प्रगति पाप की ओर है, दूसरे में धर्म की ओर! एक जड़वाद का पन्थ है, दूसरा अध्यात्मवाद का! एक शरीर की वासनाओं को प्रधानता देता है, दूसरा आत्मा के विकाश को! एक स्वार्थ साधन का मार्ग है, दूसरा परोपकार और परमार्थ का! स्वतन्त्रता दोनों मार्गों में है-परन्तु एक की स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता की पर्यायवाची है और दूसरे में स्वतन्त्रता का अर्थ इन्द्रियों पर आत्मा की विजय है। एक ओर पश्चिमी सभ्यता है तो दूसरी ओर पूर्वीय संस्कृतिका आदर्श।

पश्चिमी सभ्यता में स्त्री जाति का ध्येय पुरुष की समानता है। स्त्री और पुरुष दोनों परस्पर पूरक (Complementary) नहीं वरन् प्रत्येक समाजका एक पूर्ण अंग समझा जाता है। उन दोनों का मिलाप परस्पर प्रेम और सहायता (Mutual devotion and aid) के क्षेत्र पर नहीं होता वरन परस्पर प्रतिस्पर्द्धा (Competition) के आर्थिक क्षेत्रपर होता है। एक दूसरे को अपना सहचर व

सहायता देनेवाला नहीं मानते वरन अपना प्रति स्पर्द्धी समझते हैं। तुच्छ वासनाओं की तृप्ति के लिये क्षणिक मिलाप को छोड़कर उनको स्थायी प्रेम पाश में बंधने की कोई आवश्यकता ही नहीं दिखाई पड़ती। सारांश यह है कि पश्चिम में स्त्रियों ने स्वतन्त्रता को स्वच्छन्दता के रूपमें परिणत करदिया है। पश्चिमी सभ्यता प्रधानतया जड़वादी (Materialistic) है इस कारण से शरीर और इन्द्रियों की क्षणिक वासनाओं के सामने आत्मा के स्थायी गुणों का मूल्य उसकी दृष्टि में कुछ नहीं है। वह पुरुष और स्त्री को केवल इन्द्रियतृप्ति के लिये ही एक दूसरे का पूरक मानती है। उसकी दृष्टि में पुरुष और स्त्री के स्थायी सम्बन्धका कोई मूल्य नहीं है। पश्चिमी सभ्यता ने आज संसार में कितनी सुखी गृहस्थियों के आनन्द को मिट्टी में मिला दिया है—यह यूरोप और अमेरिका आदि देशों के समाज की दशा देखने से विदित होता है। यहां पर विवाह केवल वासनाओं की तृप्ति का साधन है न कि एक आजीवन प्रेम और धर्म का साझा। उन के प्रत्येक परस्पर के व्यवहार में स्वार्थ की बू आती है। स्त्री और पुरुष दोनों अपने २ स्वार्थ के लिये एक दूसरे का लाभ उठाना चाहते हैं परन्तु दोनों की आध्यात्मिक भलाई के लिये परस्पर स्नेह युक्त जीवन और स्वार्थ त्याग कहीं भी नहीं दिखाई पड़ता। स्वतन्त्रता और सभ्यताकी ओट में पाश्चात्य स्त्रियों ने अपने जीवन को कितना स्वच्छन्द निर्लज्ज और विलास पूर्ण बना लिया है। यह भली भांति विदित है। केवल अपने शारीरिक आनन्द और वासनाओं की तृप्ति के लिये उन्होंने प्राचीन और भली भांति आज़माए हुए सिद्धान्तों को तिलाञ्जलि दे दी है—और अपने आपको आर्थिक बातों में भी पुरुष जाति से स्वतन्त्र कर लिया है। स्त्रियों की इस आर्थिक स्वतन्त्रता ने कौटुम्बिक जीवन के संगठन को छिन्न भिन्न कर डाला है और स्त्री व पुरुष को एक दूसरे के सहारे और सहायता की आवश्यकता से मुक्त करके विवाहित जीवन में एक प्रकार की नीरसता उत्पन्न कर दी है। इसीका परिणाम यह हुआ है कि पाश्चात्य देशों में कुछ 'नीम हकीम' अधकचरे विद्वानों ने इस मतका प्रतिपादन किया है कि विवाह —जिस स्थायी बन्धन के रूपमें अब तक होता आया है वह बिलकुल अनावश्यक है इतनाही नहीं, बल्कि समाज के लिये हानिकारक भी है।

इस प्रकार वासनाओं की स्वच्छन्दता से पूर्ति करने के लिये पश्चिमी सभ्यता ने अनेक गुण और सदाचार के जन्मदाता कौटुम्बिक संगठन और गृहस्थ जीवन को तहस नहस कर डाला है। गृहस्थजीवन के भङ्ग होने के भिन्न २ परिणामों का यदि उल्लेख किया जाय तो एक छोटी मोटी पुस्तक लिखी जा सकती है परन्तु संक्षेप में इसके परिणाम के विषय में इतनाही कहना पर्याप्त होगा कि आज संसार में परस्पर प्रेम की वृद्धि होने के बदले बैर भाव और परस्पर सहायता के बदले प्रतिस्पर्द्धा की ही वृद्धि हुई है। स्वार्थ-त्याग, परोपकार और आत्म संयम आदि गुणों का नाश होकर स्वार्थपरता, द्वेष और स्वच्छन्दता का जन्म हुआ है।

दूसरी ओर हमारी प्राचीन अध्यात्मवादी (Spiritual) सभ्यता है। हमारे समाज की नींव डालनेवालों ने क्षणिक वासनाओं को नहीं वरन आत्मा की शान्ति और मुक्ति को ही प्राधान्य दिया है। हमारा पुराना सामाजिक जीवन एक आदर्श

जीवन है और इसकी नींव पर एक सर्वाङ्ग सम्पूर्ण सुदृढ़ समाज का भवन तैयार किया जा सकता है। हमारे प्राचीन सिद्धान्तों के अनुसार स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध क्षणिक वासनाओं की पूर्ति के लिये नहीं है परन्तु वह एक आजीवन पवित्र और सुन्दर प्रेम पाश में बंधे हुए व्यक्तियों का युगल है। स्त्री और पुरुष धर्म और कर्म दोनों में आजीवन साथी हैं। एक दूसरे के दुःख सुख के सदा सहायक हैं। बड़े२ वैज्ञानिकों ने और प्रत्येक युग के महर्षियों ने एक मत से यह कहा है कि स्त्री और पुरुष समाज के दो भिन्न २ और स्वतन्त्र अङ्ग नहीं हैं वे दोनों साथ मिल कर ही समाज को रचना कर सकते हैं—एक के बिना दूसरा अपूर्ण है। केवल भौतिक और इन्द्रिय विषयक बातों में ही नहीं वरन् धार्मिक, सामाजिक आदि सभी कार्यों में स्त्री और पुरुष एक दूसरे के चिर साथी और सहायक हैं और दोनों के बिना कोई भी कार्य पूरा नहीं गिना जा सकता। "धर्म कर्म कछु की जई, सफल तरुनि के साथ" वाले पौराणिक सिद्धान्तने प्रकृति के उस सुन्दर नियम को, जिससे स्त्री और पुरुष स्वाभाविकतया एक दूसरे की ओर आकृष्ट होते हैं—सदाचार के ऊंचे क्षेत्रपर पहुंचा दिया है। आर्य-दम्पति वासनाओं की तृप्ति के तुच्छ विचार से एकत्र हुई दो व्यक्तियाँ नहीं हैं—वरन इन्द्रिय वासना से परे आत्मा के हित-साधन के लिये परस्पर सहकारी दो व्यक्तियों का मधुर मिलन है! कितना सुन्दर आदर्श है! इस में विलासिता और वासनाओं की बू नहीं है बल्कि स्वार्थत्याग का—दूसरे के लिये अपना सर्वस्व निछावर करदेने का—अनुपम चित्रण है। पाश्चत्य लोगों का कहना है कि स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध में यदि कोई स्वाभाविक बात है तो वह इन्द्रिय तृप्ति की इच्छा ही है—अन्य सब बातें वृथा हैं और इस कारण से स्त्री पुरुष का आजीवन साथ होना आवश्यक नहीं है। परन्तु शोक है वे लोग इस बात को भूले हुए हैं कि इन्द्रिय—तृप्ति आत्मा का गुण नहीं है यह तो शरीर का विकार है। आत्मा के गुण इन भौतिक विकारों से कहीं ऊंचे और सुन्दर हैं और मनुष्य जीवन में उन्हीं का विकाश आवश्यक है। शारीरिक विकार तो पशुओं और मनुष्यों में समान हैं—जो वस्तु मनुष्यको पशुओं से ऊपर उठाती है वह है आत्मा की पहचान और उस के गुणों का प्रकाश। आत्माके द्वारा इन्द्रियों का दमन ही सच्ची स्वतन्त्रता का सूचक है। पश्चिम की स्वच्छन्दता में तो इन्द्रियों का दासत्व है—उस में केवल काल्पनिक और क्षणिक स्वतन्त्रता का आभास मात्र है—सच्ची और यथार्थ स्वतन्त्रता तो आत्मा की विजय से ही प्राप्त हो सकती है।

हमारे प्राचीन गृहस्थ जीवन के आदर्श इसी नींव पर खड़े किये गये हैं—स्त्री और पुरुष के अटूट निर्मल सम्बन्ध में परमार्थ का ही प्राधान्य है। हमारा गृहस्थ जीवन हमको स्वार्थ त्याग की अनुपम शिक्षा देता है। विवाह का आदर्श भी हमारा उतना ही उच्च है। जो आनन्द स्त्री और पुरुष के परस्पर प्रेम के आधीन रहने में है वह स्वच्छन्दता पूर्ण जीवन में नहीं है। पश्चिम में स्त्री और पुरुष दोनों आर्थिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्द्धा करते हैं जिससे उनको दाम्पत्य जीवन की मधुरता का नाश हो जाता है। हमारा आदर्श और है—यहां पर स्त्री और पुरुष दोनों के कर्त्तव्य का क्षेत्र

अलग अलग है और सांसारिक कामों में दोनों के कर्त्तव्यों का उचित बंटवारा हो गया है। स्त्री घर की मालकिन है गृहस्थी का प्रबन्ध उसके हाथ में है—पुरुष का सम्बन्ध बाहर के संसारसे है। वह कमाकर लाता है और गृहिणी उससे अपनी गृहस्थी चलाती है। पुरुष और स्त्री की प्राकृतिक भिन्नता के कारण ऐसा श्रमविभाग (Division of Labour) आवश्यक है। पुरुष घर के बाहर जाकर जीवन-संग्राम में तरह २ के दुःख और कष्ट झेलता है—यह सब केवल अपने गृहस्थ जीवन को सुखमय बनाने के लिये—और स्त्री घर में रहकर बच्चों का पालन-पोषण करती है और अपने पति और अन्यकुटुम्बियों के सुख के लिये घर को सदा आनन्दमय और मङ्गलमय बनाने का प्रयत्न करती है। कितना सुन्दर चित्र है—दोनों हो अपना २ स्वार्थ त्याग कर एक दूसरे की सहायता करते हैं और एक दूसरी की अपूर्णता को पूर्ण करते हैं। वास्तव में जीवन का आनन्द ऐसे ही आदर्श दम्पति उठा सकते हैं। स्त्री को सदा पुरुष से अपनी रक्षा और आर्थिक सहायता की आवश्यकता रहती है उसी प्रकार पुरुष को भी स्त्री के प्रेम और सान्त्वना में सदा संसार के दुःखों से शरण मिलती है और दिन प्रतिदिन जीवन संग्राम में पड़ने की शक्ति उत्पन्न होती है। एक, दूसरे की सहायता के बिना संसार में अपूर्ण है— संसार रूपी रथके ये दो चक्र एक दूसरे की सहायता के बिना बिलकुल बेकार हैं। इसी बातको ध्यानमें रखकर हमारे पूर्वजों ने अपने समाज का निर्माण किया है। स्त्री और पुरुष दोनों के कर्त्तव्यों का इस प्रकार विभाजन किया है कि एक की भलाई और सुख दूसरे की सहायता पर निर्भर है और इस प्रकार परस्पर आधीन होने से उनका सम्बन्ध स्थायी और आजीवन होता है, और वासनाओं की तृप्ति के बदले उसमें एक दूसरे के परस्पर सुख की तथा सारे कुटुम्ब के सुख और मंगल की कामना ही प्रधान होती है।

इस प्रकार आज भारतीय स्त्री समाज के सामने दो प्रगति के मार्ग खुले हुए हैं—दोनों मार्ग उसको उसकी वर्त्तमान शोचनीय दशासे निकाल कर प्रगति की ओर ले जांयगे—परन्तु एक में प्रगति मृत्यु की ओर है तथा दूसरे में अमरत्व की ओर। एक पथ पर चलने से समाज के छिन्न भिन्न होजाने का डर है, दूसरे में एक दृढ़ स्थायी और सुन्दर समाज के निर्माण की आशा है। इसमें सन्देह नहीं कि भारत की वर्त्तमान समाज व्यवस्था में एक प्रबल क्रान्तिकी आवश्यकता है—अज्ञान के वश होकर भारतवासी एक सड़े हुए निर्जीव ढांचे को हृदय से लगाये हुए हैं, उसको हटाकर दूर फेंकना होगा! एक नये युग का निर्माण आवश्यक है परन्तु सुधार के आवेश में आकर कहीं हम हमारी प्राचीन सभ्यताकी आत्मा को भी न खो दें, यह डर है। सामने एक विरोधी मार्ग भी मौजूद है, उसमें प्रलोभन भी बहुत हैं, वह बिजली की सी चकाचौंध, वह स्वच्छन्दता का क्षणिक आनन्द, वासनाओं की तृप्ति और झूठी स्वतन्त्रता का अभिमान—यह सब कुछ है, परन्तु वह प्राकृतिक दाम्पत्य जीवन की मधुरता, स्वार्थ त्याग का उत्कृष्ट आदर्श, और इन्द्रिय निग्रह का अनुपम आनन्द, इसमें नहीं है। सारा संसार आज जड़-वाद से घबड़ा उठा है, जो जड़वाद को उसकी



सौ० माणक बहन कन्हैयालाल महेता



श्रीमती पूनमचन्दजी रांका



सौ० केशर बाई अमृतलाल झवेरी



सौ० सुन्दर बहन मणीलाल कोठारी



श्रीमती सज्जनदेवी मुणोत



श्रीमती चम्पाबाई रतनचन्द गगलचन्द

चरम सीमा पर पहुंचाने वाले देश हैं वे भी आज इसके भयानक मृत्यु आलिंगन से बचकर किसी आध्यात्मिक संस्कृति की शरण में आना चाहते हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण महात्मा गान्धी और उनके आदर्शों के प्रति अमेरिका निवासियों की भक्ति हैं। अमेरिका तथा अन्य पश्चिमी देश जड़वाद के कडुए फलों को चख चुके हैं। भारत अभी परिवर्त्तन युग में है, उसको अपने समाज का नये सिरे से संगठन करना है। बुद्धिमानी इसी में है कि वह संसार के अन्य देशों के अनुभवसे शिक्षा ग्रहण करे और अपने मृत:प्राय प्राचीन आदर्शों में फिर जीवन का सञ्चार करके न केवल स्वयं ही मुक्त हो बरन सारे संसार के सामने एक सुन्दर उदाहरण रक्खे। इस नूतन युग के निर्माण की सफलता बहुत अंश में भारतकी स्त्री जाति के हाथों में है—उन्हीं पर भावी समाज का उत्थान वा पतन अवलम्बित है। उन्हीं के इस समय के निश्चय पर सदियों तक की भावी सन्तान का दुःख अथवा सुख निर्भर है। अतः उनसे प्रार्थना है कि जिस मार्ग को वे ग्रहण करना चाहें उस ओर खूब सोच समझ कर अपने कार्यों के उत्तरदायित्व का विचार करके आगे को पैर बढ़ांय।

—:※:—

सहेली की शिक्षा

[रचयिता—रूपचन्दजी सुराना।]

सखियां! धारोरी सद्‌गुण की शिक्षा धार जोरी।
त्यागो खोटे काम तमाम, यह जनम सुधार जोरी ॥टेर॥

(१)

विद्या पढ़ो पढ़ाओ प्यारी,
जिससे सुधरे दशा तुम्हारी।
विद्या है जग में सुखकारी,
बनकर ज्ञानवती सुविनीत यह दशा सुधार जोरी ॥स०॥

(२)

कबहु न कडुआ बचन उचारो,
मीठा सत्य बचन मुख धारो।
गन्दे गीत कुरीत निवारो,
सबसे हिलमिल घरमें रहना फूट निवार जोरी ॥सखियां॥

(३)

त्यागो निर्लज्जता को बहना,
मानो सास ससुर का कहना।
धारो शील धर्म का गहना,
सुधरे इह परलोक विमल यश जग विस्तार जोरी ॥स०॥

(४)

होकर सरल सादगी धारो,
फैशन निर्लज बस्त्र निवारो।
टारो वस्त्र विदेशी टारो,
त्यागो खर्च फिजूल तमाम, दुराग्रह टारजो री ॥सखियां॥

(५)

सजनी खास सीख सुन लेना,
मानो हरदम पतिका कहना।
हिलमिल घरमें सब से रहना,
धारो सदाचार सुविचार ज्ञान विस्तार जोरी ॥ सखियां ॥

यह गायन "बलिहारी ओ सद्‌गुरुजी आपरे ज्ञान की जी। मनड़ो हरख्यो म्हारो देख छटा आख्यान की जी" इस तर्ज में गाया जाता है।

सफल गृहिणी और उसके कर्त्तव्य

[श्री पन्नालाल जी छाजेड़]

नारी घर की स्वामिनी है। गृह की सुख, शान्ति और श्री नारी की सुव्यवस्था पर ही निर्भर करती है। गृहिणी हर कोई स्त्री बनती हैं परन्तु जो घरकी सार सम्हाल, बच्चों की देख रेख बूढ़े बड़ों की मान मर्यादा और पति की सेवा कर घर को सुव्यस्थित, आनन्दमय और यशस्वी बनाती है वही सफल गृहिणी है। आज मैं उन्ही के कर्त्तव्यों पर विचार करूंगा।

सच पूछो तो संसार में पति सेवा के अतिरिक्त स्त्रियों के लिये गृहकार्य ही सर्व प्रथम और प्रधान कार्य है। गृहकार्यों की सीमा और गिनती नहीं होती। उनमें से कुछ प्रधान और आवश्यकीय विषय बतलाये जाते हैं।

सफाई स्त्रियों के गुणों में अपना स्थान बहुत ऊंचा रखती है। फूहड़ स्त्रियां अपने पति का सच्चा और स्थायी प्रेम नहीं प्राप्तकर सकतीं। मनुष्य चाहे स्वयं कितनाही गन्दा रहता हो, चाहे वह अपने शरीर और कपड़ों की सफाई की ओर बिलकुल ही ध्यान न देता हो परन्तु वह अपनी पत्नी में इन सब बातों को कभी भी नहीं देख सकता। यह बात तो ठीक है कि हमारी स्त्रियां जब कहीं बाहर जाती हैं तो बड़ी ही सज-धज और बनाव-श्रृङ्गार से जाती हैं परन्तु मौके आई इस सफाई से पुरुषों को सन्तोष नहीं मिल सकता। वह तो प्रसन्न तभी होंगे जब घर के बाहर व भीतर, रात व दिन में, काम करते समय अथवा रसोई के समय वह हमेशा साफ और सुथरा रहेंगी। इसलिये गृहकार्यों में पहला कार्य स्त्री के लिये सफाई का है। अपने तन, वस्त्र और भोजनादि की स्वच्छता रखते हुए घर को सर्वदा साफ रखना चाहिये। कहीं भी मैला कुचैला, जूठा पानी व रसोई इत्यादि का मैला पानी जमा न होने दें। इस प्रकार घरकी सफाई होने से मक्खियां, मच्छर, कीड़े इत्यादि अपना घर नहीं कर सकते और उनके द्वारा होनेवाली बिमारियां घर में नहीं फैल सकतीं।

पाक विद्या स्त्रियों के लिये पहली विद्या कहनी चाहिये। महिलाओंको पाक शिक्षा दिलाना अत्यन्त आवश्यक है। स्त्री का कर्त्तव्य है कि जिस समय स्वामी बाहर से व्यापारादि कार्य करके आवे तो उसकी सेवा शुश्रूषा और शुद्ध स्वादिष्ट भोजन से दिन भर के परिश्रम को दूर करे। मेरे ख्याल से हमारे समाज में बहुतही कम स्त्रियां ऐसी मिलेंगी जिन्हें पाक विद्या का अच्छी तरह ज्ञान हो और धनी घरों में तो भाग्य ही से कोई ऐसी स्त्री दृष्टि गोचर होगी जो अच्छी तरह रसोई की सामग्रियां तैयार कर सके। हो भी कैसे ? रसोइदारिन तो घरमें रहती ही हैं उनके होते हुए वे बेचारी सौभाग्यवती क्यों ऐसे २ छोटे कार्य करें ?

नारी को गृह स्वामिनी कहा है अतः नारी को घरके प्रत्येक कार्य का ज्ञान उपार्जन करना चाहिये। यदि वे घर के सब कार्य स्वयं न कर सकें तो दास दासी रखनेमें कोई हानि नहीं है। किन्तु सारा घरका धन्धा उन्हीं के ऊपर छोड़ना बुद्धिमानी नहीं। नारी को गृहकार्यों की समुचित रूप से देख भाल करनी चाहिये। दास दासियों के कार्यों को सदैव देखते रहना और किसी प्रकारकी गोलमाल देखने पर उन्हें सचेत कर देना स्त्री का कर्त्तव्य है।

सूत कातना, कपड़े बुनना और कपड़े छांटना सिलाई करना इत्यादि कलाओं का ज्ञान उपार्जन करना नारी जाति के लिए परमावश्यक है।

आकाश की शोभा चन्द्र, सरोवर की शोभा जल, वृक्ष की शोभा फल, स्त्री की शोभा पति और घरकी शोभा सन्तान है। सन्तानोपार्जनके लिएही विवाह करना कहा है। वृद्धावस्था में इन्द्रिय शक्ति दुर्बल होजाती है और उस अवस्था में मानव समाज को पराधीन होना पड़ता है। उस अवस्था में अन्य कोई भी सहायक नहीं होता। पुत्र हो वृद्ध पिता की आन्तरिक प्रेम से भक्ति और सेवा शुश्रूषा करता है, पुत्रका सुपुत्र या कुपुत्र होना हमारी शिक्षा और व्यवहारिक स्वभावों पर निर्भर है अतः सन्तान का लालन पालन बड़ी सावधानी से करना चाहिये।

सन्तान पालन के लिये प्रथम स्त्री समाज को प्रसूति विद्या का बहुत कुछ ज्ञान होना जरूरी है। यहां पर यह कहना अत्युक्ति न होगा कि हमारे समाज की महिलाओं को प्रसूति विद्या का कुछ भी ज्ञान नहीं है। यदि प्रसूति के समय दाई न आ सके या कुछ देरी से आवे तो घरमें ऐसी शिक्षिता स्त्री का मिलना दुष्कर होजाता है जो प्रसूति कार्य को उचित रीति से सम्पन्न कर सके। वे विचारी अबोध कन्यायें जिन्हें प्रसूति सम्बन्ध कोई बात नहीं बताई जाती, क्या बच्चों का पालन कर सकती हैं? दम्पति की अशिक्षा ही तो मुख्य कारण है कि बच्चों का स्वास्थ्य बचपनही से बिगड़ जाता है। केवल सन्तान उत्पन्न होने हीसे गार्हस्थिक सुख नहीं मिलता किन्तु सन्तान का हृष्ट पुष्ट व सच्चरित्र होना सुखका चिन्ह है।

माता पिता के व्यवहार दोष ही से सन्तान के स्वभावादि दूषित होते हैं अतः माता पिता को अपना चरित्र शुद्ध रखना चाहिये। सन्तान चाहे जितनी छोटी या बड़ी हो उसके सामने माता पिता को अश्लील शब्द व्यवहार न करने चाहिये।

एक बात ध्यान में रहे कि जिनके सन्तान हो उन्हेंही नहीं किन्तु जो सन्तान अभिलाषिनी हैं उन्हें भी आत्मोन्नति करना और अपने स्वाभाविक दोषों को दूर करना चाहिये।

बच्चे को स्तन पान या गाय का दूध आदि हलके खाद्य पदार्थ देने चाहिये। यदि दूध अच्छा न मिले तो हलका तरल खाद्य पदार्थ देना अच्छा, किन्तु खराब दूध पिलाना जहर के समान है।

याद रहे कि बच्चों को नींद का आनाही उसके स्वास्थ्यकी सूचना है। बच्चोंको खुली और साफ हवा में लेटाना चाहिये। यह न विचारना चाहिये कि हवा लगनेसे सर्दी लग जायगी। बच्चा जितनी साफ और खुली हवामें श्वास लेगा उतनाही प्रफुल्ल और स्वस्थ होगा।

बच्चों को कीट, पतङ्ग, मच्छर आदि से बचाना चाहिये। उनकी यह स्वभाविक आदत होती है कि कीड़े, मकोड़े, मट्टी, कोयले आदि हानिकारक वस्तुएं

खाजाया करते हैं अतः माता को इनसे सदैव दूर रखना चाहिये।

बच्चों को शीतला का भयङ्कर रोग होजाता है जिससे मृत्यु तक होनेकी सम्भावना होजाती है। इसके लिये बच्चों को चेचक का टीका लगा लेना आवश्यक है।

बच्चों को अधिक मारना व झिड़कना अच्छा नहीं। किन्तु हमारी तरह उनको अधिक लाड़प्यार से रखना और दोष होने पर भी कुछ न कहना अमानुषिकता है। ऐसा प्रेम प्रेम नहीं वरन विष पिलाना है।

माता को चाहिये कि बच्चे को साफ सुथरा रक्खे और शय्या में मल मूत्रादि करने की आदत दूर करावे। सबेरे जल्दी उठने की या वस्त्र व्यवहार की आदत डाले।

बालक के कार्यों में बाधा न डालनी चाहिये। उसके प्रत्येक कार्य की अवहेलना करना अच्छा नहीं यदि सचमुच ही दोष हो तो उसे सदैव उससे दूर रक्खे। बालक को इच्छानुसार कुछ खर्च के लिये दे देना चाहिये। न देने से उसकी इच्छा पूर्ण नहीं होती और इसे पूर्ण करने के लिये उधार लेना चोरी करना आदि बुरे आचरणों का समावेश होजाता है।

बच्चों को बुरी संगति न करने दें और उन्हें झूठ बोलने, चोरी करने, जारी, परनिन्दा आदि कुव्यवहारों से वञ्चित रक्खे। बालक बालिकाओं का विवाह उन्हें शिक्षित करके विवाह योग्य अवस्था होने पर करना चाहिये। आजकल की तरह लम्बोदर ६० वर्ष के वृद्ध सेठ के पीछे १० वर्ष की कन्या को लगादेना तथा १०—१२ वर्ष के अज्ञान बालक के पीछे १३।१४ वर्ष की कन्या को लगा देना अन्याय ही नहीं घोर पापका भागी बनना है। बालक बालिकाओं को सच्चरित्रता, आत्मोन्नति और सच्चे धर्म की शिक्षा से परिपूर्ण करना माता पिता का सच्चा और परम धर्म है।

स्त्री का यह सबसे बड़ा कर्त्तव्य है कि वह चाहे किसी भी परिस्थिति में क्यों न हो व्यर्थ खर्च न कर मितव्ययी बने। गृहिणी को यह बात सदा ध्यान में रखकर खर्च करना चाहिये कि बहुत शीघ्र ही उसके बच्चे बाले होने वाले हैं और उनके भरण पोषण का भार भी उसी के ऊपर आनेवाला है। पुरुष को स्त्री से अपनी आय तथा व्यय का हिसाब अवश्य बताना चाहिये। क्योंकि नारी ही गृहकी स्वामिनी है उसे आय के हिसाब का मालूम होगा तो व्यय सोच समझ कर करेगी।

स्त्रियों में यह स्वाभाविक आदत होती है कि उनके हृदयमें बात रहती नहीं उसी वक्त बाहर निकल आती है। वे घर की, सम्बन्धी की, प्रिय की जिस किसी की अच्छी या बुरी, उचित या अनुचित बात दूसरों के सामने कह डालती हैं। यह उनमें एक प्रधान दोष है। जब कि नारी जाति को गृहकी स्वामिनी बना दिया है तब उस घरकी रहस्यमय बातों का किसी के सामने प्रकाश करना अपने हाथों अपनेही पैरों पर कुल्हाड़ी मारना है अतः स्त्रियों को इधर उधर की बातें न करनी चाहिये और घरके रहस्य को दूसरों को जानने नहीं देना चाहिये।

सृष्टिमें प्राणी मात्र को सुखकी इच्छा रहती है और सुखही के लिये सब काम करते हैं। सुख ही के लिये धन कमाते हैं, सुखही के लिये विद्याध्ययन करते हैं, सुखही के लिये सन्तानोत्पादन करते हैं। किन्तु वास्तविक सुखकी आलोचना करते समय

सच्चरित्र का गठन ही प्राणी मात्र के सुख का मूल कारण मानना पड़ता है। अतः नारी समाज को अपने चरित्र की नित्य प्रति आलोचना करनी चाहिये और यह विचार करना चाहिये कि हमारा आचरण वास्तव में जैसा होना चाहिये वैसाही है या नहीं। सच्चरित्रताही कुल, जाति, समाज व देशोन्नति का मूल कारण है। बिना सच्चरित्रता के नर नारी पशु से भी नीच समझे जाते हैं। क्योंकि हमारी संतान ही समाजकी भावी उन्नति का मूल कर्त्ता है और माता पिता के चरित्र का सन्तान पर पूर्ण असर पड़ता है और सन्तान के दोष गुण माता पिता ही के दोष, गुण, स्वभाव पर निर्भर हैं। अतः महिला समाज को चरित्रवान बने रहना परमावश्यक है। संक्षेप में इतनाही कह देता हूं कि सत्य प्रियता, शिष्टाचार, विनय, परोपकारिता, सतीत्व और आत्म विशुद्धता यही सच्चरित्रता के मुख्य लक्षण हैं। इन्हीं के अन्तर्गत सब गुण समाये हुए हैं। अतः महिला समाज को अपने चरित्र का दिन पर दिन गठन करते हुए समाज और देश की भावी उन्नति में भाग लेना चाहिए।

महिला समाज के लिये केवल गृहकार्य ही नहीं है किन्तु देशरक्षा भी उनके कार्यों का एक अंग है। इस भारत भूमि में बहुतसी वीरांगनाएं ऐसी होगई हैं कि जिन्होंने स्वदेश की रक्षा के लिए अपने आप को बलिदान कर दिया है। संसार के सभी कार्यों में स्त्री पुरूष का भाग है। देश रक्षा किसी का व्यक्तिगत कार्य नहीं किन्तु प्राणी मात्रका कर्त्तव्य है। अतः जिस देश के अन्न जल से पले हैं, जिस देश की गोद में खेलते कूदते और खाते पीते हैं उस देश की रक्षा करना केवल पुरूष का ही नहीं वरन उसकी अर्द्धांगिनी पत्नी का भी एक प्रमुख कर्त्तव्य है। जिस प्रकार अपने कुल जाति और धर्म रक्षाके लिये अनन्त विपत्तियों का सामना करते हुए अपने प्राणों तक को बलिदान कर देना नारी जाति का सांसारिक धर्म है, उसी प्रकार देश रक्षा करने तथा देश को विधर्मियों के पंजे से छुड़ाने में तन मन से सहायता करना भी महिला समाज का सांसारिक धर्म है।

भारत भूमि पर ऐसी वीरांगनाएं उत्पन्न होगई हैं कि जिन्होंने केवल देश रक्षा के लिये तलवार से दुश्मनों का सामना ही नहीं किया किन्तु निर्भयता से कर्त्तव्य पथ पर डटे रहकर अपनी पवित्र आत्मा ओंको देशकी बलिवेदी पर बलिदान कर दिया है। उदाहरणार्थ गढ़मण्डल की वीर क्षत्राणी रानी दुर्गावती को लीजिये जिसने भारत सम्राट अकबर जैसे वीर योद्धा की सेनाका सामना करते हुए अपने प्राण विसर्जन किये। यहां पाठकों के सामने एक रोमाञ्चकारी दृष्टान्त रखता हूं जिसे पढ़कर केवल मनुष्य समाज ही नहीं किन्तु महिला समाज के भी रोंगटे खड़े हो जायंगे।

गढ़मण्डल की रानी दुर्गावती के राज्य में बदन सिंह नामका एक बड़ा जागीरदार था। प्रजा को दुःख देने के कारण रानी ने उसकी जागीरें छीन ली। बदन सिंह इस अपमान को न सह सका। अतः वह बागी होकर रानी के विरुद्ध अकबर की सेना में जा मिला। किन्तु धन्य है उस वीर क्षत्राणी देश सेविका सुमति को जो पति की किञ्चित परवाह न कर देश रक्षा के लिये उद्यत होगई। उसने अपने भाई से कहा—

जिसकी कि धूलसे मैं बनकर खड़ी हुई हूं
जिसका कि अन्न खाकर इतनी बड़ी हुई हूं।
उस देश के लिये तन अपना निसार करना
होना अमर है जग में हरगिज नहीं है मरना।

कैसी दृढ़ आत्मा थी, कैसी साहस की सजीव मूर्ति थी यह उसके शब्दों से जान सकते हैं। जिस समय बदन सिंह युद्ध मैदान में सुमति को देखकर उससे बात करता है तो सुमति उत्तर में कहती है "चल हट दूर हो विश्वासघाती, देशद्रोही, कृतघ्न, नीच। चल अपने रास्ते जा, देशद्रोहके पुतले, अपनी लगाई हुई आग में आपही भस्म होजा।" क्याही हृदय भेदी दृश्य था, क्याही पत्थर की आत्मा थी। शायद पाठकों को वीर क्षत्राणी सुमतिको पति को इस प्रकार फटकारते देख उसे द्रोष भागिनी कहने का अवसर मिल जायगा। किन्तु एक नारी को हृदयग्राही वीरता से परिपूर्ण दृश्य को तथा कर्त्तव्य-परायणता, आत्मनिर्भरता और देश सेवा के अटल प्रेम को देखकर उसे मैं धन्यही कहूंगा।

—०—

मातृरक्षा और शिशुपालन

[श्री बनारसी प्रसादजी केडिया।]

किसी भी राष्ट्र या जाति की उन्नति उसके व्यक्तियोंके स्वास्थ्य पर ही निर्भर करती है--यह एक निर्विवाद सत्य है। हमारा मारवाड़ी समाज भी इस सिद्धान्त से अलग नहीं किया जा सकता। मारवाड़ी समाज के व्यक्तियों का स्वास्थ्य देख कर इसका भविष्य बहुत ही अन्धकारमय प्रतीत होता है। इससे भी अधिक शोचनीय अवस्था तो तब होजाती है जब कि हमारे समाज के शिशु--मनुष्य जाति के भावी धोर मातृगर्भ से निकलने के पहले ही या जन्म के कुछही समय बाद अपनी इहलीला समाप्त कर देते हैं। हमारे पास मारवाड़ी समाज के लिये अलग आंकड़े नहीं हैं इसलिये हम यहां पर कुछ आंकड़े देरहें हैं जो कि सारे हिन्दुस्थान अथवा कुछ प्रान्तों के लिए हैं। इन्हीं के आधार पर हम मारवाड़ी समाज की अवस्था भी जान सकेंगे।

शिशु मृत्यु संख्या कलकत्ते में १९२० से १९२७ तक इस प्रकार रही :—

सन्	प्रति हजार
१९२०	३८६'०
१९२१	३३०'०
१९२६	३९३'०
१९२७	३४०'०

अर्थात प्रत्येक ४ शिशुओं में एक की मौत हो जाती है। भारतवर्ष की समस्त मृत्यु संख्या तथा शिशु मृत्यु संख्या का Ratio इस प्रकार है—

सन् १९२६—२४·६ प्रतिशत
,, १९२७—२३·७ ,,

इसकी तुलना इङ्गलैण्डसे कीजिये जहां पर शिशु मृत्यु संख्या उपरोक्त दो वर्षो में क्रमशः १०·७ तथा ९·५ प्रतिशत थी। इन सद्यः प्रसूत बच्चों की मौतों

में कलकत्ते में ३६·५ प्रतिशत तथा समस्त भारतवर्ष में ३२·१२ प्रतिशत तो उन बच्चों की होती है जो १ वर्ष से कम उम्रके होते हैं— इसलिये इनका कारण प्रसूति के समय असावधानी ही है।

ये आंकड़े हमारी दुर्दशा का सुन्दर परिचय देते हैं। जिस जातिके बच्चोंकी यह दशा है उसका भविष्य कितना अन्धकार मय होगा यह लिखने की आवश्यकता नहीं। इस अवस्था का कारण क्या है? प्रधान कारण है प्रसूति की अनभिज्ञता। इसी अनभिज्ञता के कारण राष्ट्र के भावी युवक और युवतियां ही मरती हैं सो नहीं; प्रसूति के समय अथवा इसके पहले गर्भिणी अवस्था में अथवा प्रसवके बाद उचित प्रबन्ध के न होने के कारण कितनी ही माताएं इस संसार से कूच कर हमारी अनभिज्ञता को प्रकाश करती हुई समाजके मुख पर कलंक कालिमा लगाती हैं। माताओं की क्या अवस्था है उसका दिग्दर्शन निम्नलिखित आंकड़ों से कीजिये।

सन्	इंगलैण्ड	आसाम	बम्बई	मद्रास
१९२५	३·८६	१९·३०	११·८	११·४
१९२६	४·०१	२४·७	८·७	१०·८
१९२७	४·११	२४·०	८·६	१०·६

ये संख्याएं प्रति हजार प्रसव के लिये हैं।

सन् १९२१ में बंगाल में केवल सन्तानोत्पत्ति के कारण ६०००० माताओं की मृत्यु हुई थी।

पाठको एवं पाठिकाओ! यह कितना हृदय विदारक वर्णन है! भारतवर्ष का इतना अच्छा जलवायु होने पर भी यहां की यह दशा क्यों? वर्त्तमान चिकित्सा शास्त्र के आधार पर कहा जा सकता है कि इसके कारण निम्नलिखित है—

(१) दरिद्रता—भारतवर्ष की दरिद्रावस्था के विषय में जितना भी कहा जाय थोड़ा है। इतना गरीब देश तो शायदही पृथ्वी पर अन्य कोई होगा। इसके मिटाने का उपाय तो एक मात्र स्वाधीनता ही है। परन्तु हम दरिद्र हैं इसलिये हमारा कुछ भी सुधार नहीं हो सकता है यह बात नहीं। स्वाधीनता प्राप्त करने के लिये हमें हमारे तमाम दोषों को—कुरीतियोंको दूर करना होगा। दरिद्र रहते हुए भी अगर हम कुरीतियों को आश्रय दें तो हमारा नाश और भी अधिक शीघ्र होगा। हम विवाह, उत्सव, श्राद्धादिक अवसरों पर लाखों का धन नष्ट कर देते हैं। कर्ज लेकर भी हजारों रुपयों का जेवर जिन औरतों को पहनाते हैं उन्हीं की स्वास्थ्य रक्षा के समय गरीबी की दुहाई देकर चुप हो जाना क्या हमारे लिये लज्जाका विषय नहीं है? इस प्रस्तुत लेख का यही उद्देश्य है कि जन साधारण अपनी अज्ञान निद्रा को छोड़ें। दरिद्रता और 'भगवान की मर्जी' कहकर अपने उत्तरदायित्व को न भूलें।

(२) बाल विवाह—इसके भयङ्कर परिणामों को कौन नहीं जानता? बाल विवाह से ही बाल माताएं होती हैं। अफसोस तो इस बातका है कि हमारे समाज की अधिकांश प्रौढ़ माताएं अपनी पुत्रवधुओं को बाल माताएं देखकर खुश होती हैं, आनन्द मनाती हैं। अगर १४ या १५ वर्ष की बालिका के सन्तान हुई तो माता पिताओं का आनन्द उमड़ उठता है परन्तु आनन्द रूपी बाल सूर्य दुःखकी काली घटाओं से छिपा हुआ है यह किसे मालुम! १४ या १५ वर्ष की बालिका स्वयं ही कमज़ोर रहती है देखने में भलेही तन्दुरुस्त हो, उसके अवयव पूर्ण गठित नहीं होते। हमारे शरीर की तमाम हड्डियां २५ वर्ष तक पूर्ण गठित होती हैं। इसलिये इस

अवस्था के पूर्व प्रसूति होने से अगठित अवयवों को भारी धक्का लगता है तथा वे रोगी होजाते हैं। यह तो प्रत्येक माता का अनुभव होगा कि छोटी उम्र में जो सन्तति होती है वह अधिकांश जीवित नहीं रहती तथा उसके बाद माता का स्वास्थ्य भी खराब हो जाता है।

(३) बहुत अधिक सन्तानोत्पत्ति होने से प्रसूति के बीच का समय बहुत थोड़ा होजाता है। इसलिये पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त करनेके पहलेही गर्भिणी होने से माता का ह्रास होने लगता है। इसलिये माता का स्वास्थ्य बिलकुल खराब होजाता है।

(४) सामाजिक कुरीतियां—इसमें सबसे भयंकर पर्दा है। पर्दा के कारणही आज हमारा समाज रोगराज यक्ष्मा (Tuberculosis) तथा "ओष्टियो मैलेशिया" (Osteomalacia) इन दो भयंकर व्याधियों से जर्जरित हो रहा है। यक्ष्माके कारण कितने घर बरबाद होगये हैं तथा हो रहे हैं यह किसी से अविदित नहीं। आजकल तो ऐसा कोई मारवाड़ी परिवार नहीं जिसमें एकाध व्यक्ति यक्ष्मा रूपी कालके कलेवर में न पड़ा हो। किसी के फुसफुस की यक्ष्मा (Pthisis) किसी के पेटकी यक्ष्मा (Intestinal Tuberculosis) तो किसीके अस्थि क्षय (Bone Tuberculosis) किसी न किसी रुप में यक्ष्मा विद्यमान है ही। बड़े २ वैज्ञानिकों का मत है कि जिस समाज में पर्दा अधिक रक्खा जाता है उसी में यह बिमारी भी अधिक है। क्षयी के संतान तो होती है परन्तु किस प्रकार-चाहे तो स्वयं मरी हुई अथवा माता को मारकर। क्षय के समान ही भयंकर व्याधि है "ओष्टियो मैलेशिया"। यह व्याधि स्त्रियों के ही होती है। इसमें तमाम शरीर की हड्डियां—विशेषतः कमर की नष्ट होने लगती हैं। हड्डियों के नष्ट होने से प्रसव मार्ग सङ्कुचित होजाता है, सन्तान बहुत कष्ट से होती है और कष्ट से होनेवाली सन्तान की आयु भी कम होती है। कुछ ही दिनों के बाद ही यह सन्तान मर जाती है। धीरे २ इस व्याधि से प्रसव मार्ग इतना संकुचित हो जाता है कि बच्चे को पेट चीरकर निकालना पड़ता है। स्त्री रोगों के बड़े विद्वानों का यह मत है कि भारतवर्ष में यह बिमारी उन्हीं समाजों में पायी जाती हैं जो पर्दा रखते हैं। कलकत्ता मेडिकल कालेज के प्रोफेसर कर्नल ग्रीन आर्मीटेज अपनी पुस्तक ट्रौपिकल मिडवाईफरी में लिखते हैं "यह बिमारी उत्तरीय भारत में प्रधानतः मारवाड़ियों या मुसलमानों में पायी जाती है जो कि पर्दा रखते हैं" इसका कारण यह है कि यह बिमारी हमारे शरीर में (Vitamin D) के अभाव से होती है। सूर्य की किरणें हमारे शरीर के चर्म के ऊपर पड़नेसे इस सञ्जीवन पदार्थ की उत्पत्ति होती है—जो प्रचुर परिमाण में हमारे शरीर में प्रवेश करता है। परन्तु पर्दानसीन औरतें अन्दर महलों में रक्खी जाती हैं जहां उन्हें सूर्य की किरणें नहीं मिल सकतीं। इसी कारण उनमें इस पदार्थ (Vitamin D) का अभाव होजाता है परिणाम स्वरूप Osteo malacia का शिकार होना पड़ता है।

(५) प्रसूति सम्बन्धी ज्ञान का अभाव—शिशु मृत्यु तथा प्रसूति में मातृ मृत्यु का यह एक सब से बड़ा कारण है। प्रसूति सम्बन्धी अधिकांश बिमारियां रोकी जा सकती हैं यदि हमें इस विषय का साधारण सा ज्ञान हो। गर्भाधान से लेकर प्रसव होने तथा

उसके उपरान्त के समय को हम इन ३ भागों में बांट सकते हैं—

(क) गर्भाधान से प्रसूति तक (Antenatal period)

(ख) प्रसूति काल (Natal period)

(ग) प्रसूति के उपरांत (Post-natal period)

(क) गर्भाधान से प्रसूति काल तक

इस समय की गलती से बहुत सी भयङ्कर व्याधियां उत्पन्न होजाती हैं यथा गर्भिणी को अधिक वमन होना, गर्भिणी को मूर्च्छा होना, मूत्रके साथ ओज पदार्थ का निकलना, प्रसव काल अधिक होना, प्रसूति के समय ज्वर होना, सूतिका (Puerperal Diarrhea) प्रसूति की रक्तहीनता, प्रसूति के समय अधिक रक्तस्राव होना आदि प्रायः सभी विमारियां रोकी जा सकती हैं यदि पहले से कुछ सावधानी रक्खी जाय। इस विषय पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है परन्तु हम समझते हैं कि यदि हमारी गर्भिणी माताएं एवं बहनें निम्नलिखित कुछ बातों पर ध्यान देंगी तो उपरोक्त कई व्याधियों से बच सकेंगी।

(१) दांतों की सफाई रखना। दांत गन्दे रहने से ज्वरादिक की सम्भावना रहती है।

(२) प्रातःकाल सूर्योदय के समय खुले मैदान में अथवा मकानकी छत पर टहलना, इससे दो लाभ होंगे एक तो शरीर में (Vitamin D) का प्रवेश होगा! दूसरे साधारण व्यायाम होगा जिससे पेट की नसें बलिष्ठ रहेंगी तथा प्रसव सरल होगा। एक बात ध्यान में रहे प्रखर सूर्य के तेज में हरगिज न बैठे या घूमे नहीं तो नुकसान होगा।

(३) पेट को साफ रक्खे—कोष्टबद्धता रहने से ही वमन और मूर्छा तथा अल्बुमिन्युरिया की विमारियां होती हैं। अगर पेट साफ न रहता हो तो अंगूर, सेव, अञ्जीर, टोमेटो, नीम्बू, हरे २ शाक जैसे मेथी,पोदीना,पालक,चौलाई आदि खावे। इसपर भी काम न चले तो हलकी जुलाब जैसे Cascara, Agarol, Nuzol अञ्जीर का सिरका, पंचसकार चूर्ण आदि ले। सावधान, कड़ी जुलाब हरगिज न ले नहीं तो गर्भस्राव की सम्भावना रहेगी।

(४) घरका काम काज साधारण भाव से करती रहे परन्तु भारी बोझ कभी भ उठावे नहीं तो गर्भस्राव की सम्भावना रहेगी।

(५) कपड़े बहुत तंग नहीं होने चाहिये।

(६) भोजन सम्बन्धी निम्नलिखित नियमों का पालन करे।

(अ) अधिक चरपरे, या मसालेदार पित्तवर्द्धक पदार्थ न खाय।

(ब) फल और दूध का सेवन अवश्य करे, फलों से सञ्जीवन पदार्थ मिलेंगे तथा दूध से पुष्टि के साथ Calcium मिलेगा जो हृदय तथा गर्भाशय की रगों को ताकत देगा। फल स्वरूप सरल प्रसव होगा तथा प्रसव कालीन रक्तस्राव तुरन्त बन्द होगा।

(स) गर्भ काल समाप्त होने के कुछ दिन पहले से मधु, ईख का रस glucose तथा lactose खाय। इससे ताकत बनी रहेगी।

(द) अधिक भोजन कभी न करे।

(७) इस समय में अत्यधिक मानसिक चिन्ता

या श्रम न करे। क्योंकि मनके विचारों का असर गर्भस्थ बालक पर बहुत पड़ता है।

(८) धार्मिक ग्रन्थों का मनन करे।

(९) अत्यधिक परिश्रम न करे।

(१०) मट्टी खाना, नाखून काटना आदि बुरी आदतें न लगावे।

(११) गर्भाधान के पूर्व के ऋतु के दिन को नोट कर रक्खे तथा जहां तक हो सके अपने शरीर के भागों का किसी स्त्री डाक्टर से माप करा ले।

(ख) प्रसूति काल—

अभी तक हमलोगों में ऐसी अन्ध परम्परायें हैं कि जिनके कारण अचिन्तनीय कष्ट होते हैं। प्रसूति को हमलोग इतना बुरा समझते हैं कि प्रसूति गृह मकान के एक सड़े हुए कोने में बनाते हैं—जहां न सूर्य का प्रवेश हो और न हवा का आवागमन। फिर चारों तरफ से कमरे की खिड़कियों तथा दरवाजों को बन्द कर देते हैं। इससे भी सन्तोष नहीं, कहीं सर्दी न लग जाय, इसलिये जेठ की गर्मी में भी अङ्गीठी जला देते हैं। ऐसी अवस्था में एक साधारण स्वस्थ व्यक्ति को रक्खा जाय तो वह भी हाल बेहाल हो जायगा! फिर बिचारी प्रसव पीड़ित बाल माता तथा सुकुमार शिशु की क्या अवस्था होती होगी वह तो परमात्मा ही जाने! प्रसूति के समय जो दाई आती है वह तो मानो पूतना राक्षसी ही हो। मैले कुचैले कपड़े, अंगुलियों में छल्ले आदि, मोर्चा लगा हुआ चाकू मानों बाबा आदम के जमाने का हो। इस बीभत्स काण्ड के बाद भी यदि प्रसव विपाक न हो तो क्या हो? इस दोष से न मालुम कितने बालक धनुष्टङ्कार (Tetanus neouatorum) से मरते हैं। परन्तु हम तो कह बैठते हैं "डाकन नाड़ तोड़ दी" "दैवी का कोप होगया" आदि। यह नहीं समझते कि कोप है हमारी बुद्धि का। वास्तव में होता है यह कि दाई के अपरिष्कृत छल्ले आदि में रास्ते की गन्दी मट्टी लगी रहती है जिसमें प्रायः इस बीमारी के कीटाणु (Tetanus bacilli) रहते हैं। ये "नाड़ा" काटने पर रक्तमार्ग द्वारा शरीर में प्रवेश कर यह बीमारी पैदा करते हैं। इसलिये निम्नलिखित बातें ध्यान में रक्खें।

(१) प्रसूति गृह बिलकुल खुले कमरे में हो जहां कि सूर्य का प्रकाश तथा स्वच्छ वायु प्रचुर मिल सकें।

(२) दाई शिक्षित हो। अगर शिक्षित न मिले तो निम्नलिखित कार्य करें।

(अ) प्रसव वेदना आरम्भ होतेही गर्भिणी को कैस्टर आयेल २॥ तोला (एक आउन्स) दें अथवा डूस के द्वारा मलाशय साफ कर दें।

(ब) पेशाव करने के लिये गर्भिणी को प्रोत्साहन दें। मलाशय और मूत्राशय भरे रहने से प्रसव बहुत कठिन और प्रसव काल बहुत अधिक होता है।

(स) रोगीके कपड़े, बिछौने वगैरह साफ हों।

(द) दाई के लिये निम्नलिखित नियम अवश्य पाले जांय।

(१) हाथ के नाखून बढ़े हुए न हों।

(२) अङ्गुली या हाथ में पहुंचे तक कोई गहने न हों।

(३) हाथ साबुन से खूब साफ किये जांय ब्रूससे रगड़ कर धोये जांय।

(४) दाई के कपड़े खूब साफ हों।

(५) कैंची, सूता वगैरह साफ हों तथा काममें

लाने के पहले कमसे कम १५ मिनट तक उबलते हुए पानीमें रक्खे रहें।

(६) प्रसव के समय दाईके हाथ पर टिञ्चर (Tr. Iodine) लगा दी जाय।

(७) प्रसव होते ही शिशु की आंख पोंछ कर "सिल्वर नाईट्रेट" १% डाल दिया जाय। इस भूलसे ही न मालूम कितने जन्मान्ध होते हैं।

ग—प्रसव के बाद।

इस समय की गलतीसे पीछे बहुत सी बिमारियां हो जाती हैं—जैसे बन्ध्यात्व, गर्भाशय अपने स्थानसे हट जाना, शिशु की भी पूरी हिफाजत रक्खे बिना न्यूमोनिया, रिकेटस (Rickets) आदि बिमारियां हो जाती हैं। हमलोगों के यहां माताको ऐसा बुरा भोजन दिया जाता है कि जिससे बदहजमी वगैरह की शिकायत हो जाती है। गरम रखनेके लिए अंगीठी जला देते हैं जिसके धुएं से माता और बच्चे दोनों घुट जाते हैं। कई बार ममता के कारण माता बच्चे को कम्बल आदिसे इस तरह ढक कर सुला देती है कि बच्चा घुट कर मर जाता है, इसलिए निम्नलिखित नियम पालन किये जांय।

(१) अंगीठी कमरेमें न रक्खी जाय। अधिक जाड़ेमें अथवा आगकी जरुरत होनेसे अंगीठी लायी जा सकती है परन्तु बाहरसे सुलगा कर लायी जाय ताकि धुंआ कमरे में कतई न हो।

(२) माता का भोजन हलका, सुपथ्य तथा पौष्टिक हो।

(३) कमरे में हवा और रोशनी का प्रवेश हो।

(४) ठण्ढ लगने से शरीर को कम्बल वगैरह से ढक ले परन्तु मुंह न ढके। अधिक ठण्ढ लगे तो सिर को ढांक ले परन्तु मुंह अवश्य खुला रहे। बच्चे के लिए भी यही बात हो।

(५) माता को एक महीने तक पूर्ण विश्राम मिलना चाहिये नहीं तो गर्भाशय स्थान च्युत हो सकता है और पीछे बन्ध्यात्व भी हो सकता है।

(६) शिशु को मातृ दुग्ध ही पिलाया जाय। मातृ दुग्ध न हो तो स्वस्थ धाई का दूध अथवा जल मिश्रित गो दुग्ध किंवा बकरी का दूध दिया जा सकता है। बाजारू पेटेण्ट दूध हरगिज न दिया जावे क्योंकि इनमें Vitamin D नहीं रहती इसलिये ऐसे दूध के पीने से बच्चों को Rickets की बीमारी हो जाती है।

पाठिकाओ! यह विषय इतना महत्वपूर्ण एवं विस्तृत है कि इस पर कई पुस्तकें लिखी जा सकती है इसलिये यहां हमने संक्षेप में केवल उन्हीं बातों का समावेश किया है जो परमावश्यकीय हैं तथा जो आपलोग अपने घरों में आसानी से कर सकते हैं। इस त्रुटि की वास्तविक पूर्ति तो तभी हो सकेगी जब कि यहां पर भी पश्चिमीय देशों के जैसे मातृ रक्षक तथा शिशु मङ्गल संस्थायें (Maternity homes and childwelfare centres) खुलें जहां पर कि गर्भिणी माताओं एवं बहनों को इस विषय पर उपदेश मिले। गरीब माताओं को अच्छी खुराक तथा बच्चों को दूध मिले। प्रसव काल में इन संस्थाओं की ओर से शिक्षित दाई मिले इत्यादि। परन्तु यह तभी सम्भव होगा जब समाज के धनी मानी व्यक्ति अपनी धन लिप्सा छोड़कर इस कार्य्य को हाथ में लें और जब कि इस देश में राष्ट्रीय सरकार हो जिससे हमारी दरिद्रता दूर हो। परमात्मा करे वह दिन शीघ्र ही आवे। अन्त में दो शब्द हम अपने समाज के वयोवृद्ध गुरुजनों से भी कहेंगे कि वे झूठे धर्म के मोह को छोड़े—समाज में बढ़ती हुई कुरीतियों को दूर करें—फिजूल खर्चों को मिटावें तथा अपनी पुत्रियों को सूर्य्य का प्रकाश तथा प्रकृति देवी के साधनों का उपयोग करने दें और इस मातृ हत्या तथा शिशु हत्या के महापाप से बच कर वास्तविक धर्म की रक्षा करते हुए समाज का मुखोज्वल करें।

—•—

शिशु पालनमें उपयोगी बातें

[श्रीमती हीरा कुमारी ओसवाल, व्याकरण तीर्थ,]

कन्या, पत्नी तथा माता इन तीन रूप में नारी का जीवन अतिवाहित होता है। इन तीनों में माता होने से ही नारी जीवन पूर्णत्व को प्राप्त करता है। वास्तव में मातृत्व ही नारी के सच्चे गुणों को प्रगट और विकाश करनेवाला होता है। सन्तान होने पर वही उसकी आशा और आकांक्षाओं का केन्द्र होजाता है। सन्तान के लिये नाना प्रकार के कष्ट उठाती है। जब सन्तान अस्वस्थ होजाती है वह रात रात भर जागकर उसकी सेवा शुश्रूषा करती है। निजमें भूखीरहकर संतान को खिलाती है। सन्तान को देखकर उसे जो खुशी होती है शायद ही किसी अन्य चीज से उतनी होती हो। स्नेह से, प्रेम से, अपनी सन्तान को पालन करने में ही वह अपने जीवन को सार्थक समझती है। सन्तान के धन से वह अपने को धनी, सन्तान के यश से अपने को यशस्विनी मानती है। सन्तान के ऐश्वर्य के साथ अपने ऐश्वर्य को मिला देती है। सन्तान का होकर मरजाना अथवा बुरा निकल जाना पिताको जितना दुःख नहीं पहुंचाता है माता को इससे कई गुणा अधिक पहुंचाता है। बड़ी होकर यदि सन्तान माता की अवज्ञा करती है तब माताकी मर्म वेदना कौन समझ सकता है ? परन्तु अधिकांश लड़कों के बिगड़ जाने का कारण माता में शिक्षा का अभाव ही होता है। माता जो कष्ट उठाती है उनका मोल उन कष्टों के कारण ही नहीं है क्योंकि कष्ट तो पशु पक्षी तक उठाते हैं परन्तु उनका असली मोल तो इसीमें है कि जिससे सन्तान सुयोग्य, चरित्रवान और कुल का नाम उजागर करनेवाली हो। इसलिए सन्तान के स्वभाव और चरित्र गठन की ओर ध्यान देना, उसके हृदय को उन्नत करना, उसके स्वास्थ्य के प्रति लक्ष रखना माता का बड़ा भारी कर्त्तव्य है।

शिशु का बहुतसा मंगलामंगल माता के ऊपर निर्भर करता है इसलिये सन्तान पालन में माता का दायित्व अति गुरुतर है और इस दायित्व को निभाने के लिये कठोर परिश्रम, शिक्षा और धैर्य की आवश्यकता है। बच्चों के लालन पालन के सम्बन्ध में नीचे कुछ बातें बतायी जाती हैं:—

पहिली बात है माता को अपनी सन्तान के सामने अच्छे २ आदर्श रखने चाहिये। बहुतसी माताएं बात बात में क्रोध, डाह और चिड़चिड़ाने का उदाहरण सामने रखती हैं इससे सन्तान भी तुनुक मिजाज और क्रोधी स्वभाव वाली होजाती है। बहुतसी माताएं बच्चों पर क्रोध कर मारती रहती हैं या २।३ घण्टों तक लगातार रुलाती रहती हैं इससे वह दुष्ट स्वभाववाली होजाती है। सब समय रोनेका अभ्यास होजाता है। माताको चाहिये

कि शिशु को डर लगने की बात नहीं सुनावे इससे उसका साहस टूट जाता है और मन दुर्बल होजाता है। उसको कभी ठगना या झूठी बात नहीं सिखाना चाहिये। शिशु के सामने जो-सो बात नहीं कहनी चाहिये क्योंकि शिशु सहजही में सब बात विश्वास कर लेता है और उसी माफिक उसके चित्तका गठन होजाता है। शिशुओं को कभी भी झिड़कना नहीं चाहिये। उनको निन्दायुक्त बात नहीं कहनी चाहिये इससे वह अपने को वैसाही समझने लग जाता है।

यह भी देखा जाता है कि बच्चे यदि दौड़ते खेलते वा जोर से हंसते हैं तो उनके अभिभावक इसे पसन्द नहीं करते बल्कि यही चाहते हैं कि वे चुप चाप शान्त भाव से बैठे रहें। कभी कभी तो ऐसे अवसर भी देखने में आते हैं कि जब बच्चे खेलते दौड़ते हैं तो माता पिता इनको बकते हैं और शान्त-भावसे बैठे रहने के लिये बाध्य करते हैं। इससे उनके अंग प्रत्यंग उचित परिचालन के अभाव से पुष्ट और सबल नहीं होते—चिल्लाने तथा जोरसे हंसने के अभाव से छाती का जोर नहीं बढ़ता और यही कारण है कि बच्चे स्फूर्ति-हीन, जीर्णशीर्ण और रोग से पीड़ित दीखते हैं।

बाल-बुद्धि के कारण यदि बच्चे किसी बातको नहीं सुनते और रोते अथवा चिल्लाते हैं तो माता पिता उनलोगों को बहुत तरह के भय दिखाते हैं इस के फलस्वरूप क्या होता है? बच्चोंका मन डरपोक और संकुचित होजाता है। वे बात बात में डरते हैं कोई भी कार्य्य करते हैं तो हिचकिचाते रहते हैं तब मन की यह अवस्था बड़े होने पर भी नहीं मिटती। अन्धेरे में इन्हें भूत का भय लगता है एक पैर भी साहस कर आगे नहीं बढ़ा सकते और अकेले नहीं रह सकते।

यह मत करो वह मत करो कह कर प्रतिपद पर बाधा देने से उसका मन भीरू होजाता है। बड़े होने पर निर्भय होकर वह कोई काम नहीं कर सकता। किसी के सहारे बिना, किसीके परामर्श बिना अपनी बुद्धि से काम करना उसके लिये असम्भव हो जाता है।

शिशु का मन प्रफुल्ल रहे, वह हंसता खेलता और कूदता रहे इस ओर माता को सचेष्ट रहना चाहिये। मारने से या झिड़कने से शिशु वश में नहीं हो सकता परन्तु मार का डर चला जाता है और वह जिद्दी बन जाता है। प्रीति के साथ कोई बात कहने से वह खुशी से सुनता है। अच्छी बात कहने से खुश हो उठता है और डाटने डपटने से रो देता है। प्रेम से ही शिशु वश में होता है इसलिये माता को चाहिये कि वह अपने बच्चे को स्नेह से प्रेम से उच्च अच्छी २ बात सुनावे, अच्छी चीजों के प्रति शिशु की रुचि आकर्षित करे। इससे शिशु माता पिता की भक्ति और श्रद्धा करता है और माता पिता के प्रेम से बहुत पतन से बच जाता है।

परन्तु प्रधानतः खाद्य पदार्थों पर ही शिशु समाज की शारीरिक उन्नति निर्भर करती है। माता पिता को ठीक समय पर शिशुओं को उपयोगी खाद्य पदार्थ देना चाहिये। परन्तु विशेष कर यह देखा जाता है कि शिशु जब भूख लगने के कारण रोने लगता है अथवा वह स्वयं ही भूख लगने पर मांगता है तभी माता वा पिता इसे शान्त करने के लिये हाथ में भोजन पदार्थ दे देते हैं। सन्तान के प्रति माता के इस व्यवहार में यह असावधानी कहां तक उचित है और उनके स्वास्थ्य एवं मन पर इसका क्या असर पड़ता है यह स्वयं ही विचारा जा सकता है।

बहुतों की यह भी आदत है कि खाने के समय यदि छोटे बालक इनके पास आजाते हैं तो वे जबरदस्ती उन्हें ज्यादा खिला देते हैं परन्तु इससे उनका स्वास्थ सुधरता नहीं बल्कि नष्ट होजाता है। शिशुओं के अनुपयुक्त खाने के पदार्थ उनके शरीर के लिये फायदे के बदले खराबी ही करते हैं। बच्चों की जितनी खूराक रहे, उसी के अनुसार उन्हें खिलाना चाहिये परन्तु बहुत से माता पिता स्नेह और प्रेम वश हो कर उन्हें ज्यादा खिला देते हैं। इसका परिणाम क्या होगा? इनके खाद्य पदार्थ को पचाने के पथ को विश्राम नहीं मिलेगा और न खाया हुआ ही ठीक से हजम हो सकेगा।

एक बात जो माताओं के लिए कह देनी अत्यावश्यक है वह यह है कि माताओं को हर समय साफ सुथरा रहना चाहिये और बालकों को भी साफ सुथरा रखना चाहिये। बालक जमीन पर लौटते हैं, धूल और कीचड़ में हाथ देते हैं, उसी हाथ को मुंह में डाल लेते हैं, कपड़ों में भी लगा लेते हैं इस लिये यदि हाथ, शरीर साफ नहीं रहे तो उनके साथ रोग के कीट पेट में चले जाते हैं और फिर पेट की बिमारी होजाती है।

माताओं को अपने बिछौने एवं कपड़े भी साफ रखने चाहिये। बिछौने, कपड़े तथा शरीर के मैले रहने से अपना और बच्चों का स्वास्थ्य नष्ट होजाता है घर में धूल और चीज—वस्तु के इधर उधर पड़े रहने से घर देखने में अच्छा नहीं लगता और ऐसा होना स्वास्थ्य रक्षा के नियम के प्रतिकूल भी है।

माता पिता को अपनी लड़कियों को अन्यान्य शिक्षाओं के साथ साथ शिशु—पालन की शिक्षा भी देनी चाहिये नहीं तो दिन दिन जाति दुर्बल और हीन होती जायगी। माता यदि व्यर्थ के कार्यों एवं असार बातों का करना छोड़, घर गृहस्थी की ओर ध्यान दे तो इसके बच्चे स्वस्थ और सबल होंगे और स्वयं भी सुखी रहने लगेगी।

—*—

सच्चा-प्रेम

जो प्रेम सिर से पैर तक—आदि से अन्त तक—पवित्रता में सना हुआ नहीं है, वह प्रेम कुछ भी नहीं है—उसका मूल्य फूटी कौड़ी भी नहीं है।

शुद्ध और सच्चे प्रेम की प्राप्ति हो जाने पर काम मोह दूर भागते हैं। शरीर के द्वारा जो प्रेम—क्रीड़ा की जाती है, वह प्रेम सच्चा प्रेम नहीं, मोह है।

प्रेम का आश्रय स्थल आत्मा है, शरीर नहीं जहां हड्डी, चमड़े, मांस तथा रुधिर का ही कारोबार है, वहां प्रेम नहीं रहता।

जो प्रेम मनुष्य को उच्च नहीं बनाता, वह प्रेम नहीं है। दो हृदयों के सच्चे प्रेम की परीक्षा यह है कि, वे दोनों क्रमशः उच्च हो रहे हैं या नहीं? पारस्परिक मिलन से दोनों का चरित्र निर्मल हो रहा है या नहीं? उनका कर्त्तव्य ज्ञान बढ़ रहा है या नहीं? उनकी आध्यात्मिक चिन्तना दिनों दिन मधुरतर होती जाती है या नहीं? यदि नहीं तो यह मानना पड़ेगा कि वह प्रेम नहीं अवनति का सोपान है।

—*—

जीमनवार

[श्री जेठमलजी भन्साली]

गरमी के दिन थे। विवाहों की धूम थी। कहीं न कहीं का न्योता आही जाता था। "मुलायजा" सब का रखना ही पड़ता था।

बाजार से लौटा ही था कि खबर मिली कि 'ज़ान' में 'पुरसगारी' करने का न्योता आया है। सोहन लालजी पारख के घर पर। कड़ाके की गरमी। साढ़े ग्यारह का वक्त। फिर भी पुरसगारी करनी। मैंने माथा आदि दुखनेका बहाना कर पिण्ड छुड़ाने के लिये घरवालों से बहुत जिद्द की परन्तु और कोई घर में था भी नहीं जो मेरे बदले में जाता आखिर मेरेही सिर यह भार पड़ा।

पड़ोसी मित्र हनूत भी चद्दर पगड़ी डाट घरसे निकला ही था। हम दोनों साथ हो लिये।

इधर उधर की गप्पें हांकते चले। इतनी गरमी होने पर भी सकुशल Destination पहुंच ही गये। अन्यान्य 'पुरसगारे' पहले ही से डटे थे। हमें देखते ही उनमें से कई उछल पड़े, बोले—गांधीजी का भगत तो अबही आया है। मैंने कहा—समूची दुनियां ही गान्धीजी का प्रभुत्व मानती है फिर मेरी और आप की तो बात ही क्या? वे चुप होगये। हमने भी अपनी जबान के ताला लगा लिया।

बाजे की ध्वनि सुनाई दी। सिगनल था। रण भेरी थी। सब पुरसगारे इधर उधर दौड़ने लगे। अपनी करामात दिखाने लगे। कोई जाजम बिछाने लगा। कोई "बाजोट पाटा" सजाने लगा। कोई 'बीन का भाणा' सजाने लगा। पुरसगारों में कौन "लीडर" था, इनक्वायरी करने परभी पता न लगा। सब अपनी मनमानी करते थे। हनूत भी जो मनमें जचा करने लगा। मेरी तो अक्ल ही मारी गयी थी। क्या करूं क्या न करूं कुछ समझ ही में न आता था। यहां तो सब की अपनी अपनी डफली और अपना अपना राग।

"जानी" यानी बराती अन्दर घुस आये। पधारो-सा, पधारो-सा, बिराजो-सा, बिराजो-सा आदि की चारों ओर से आवाजें आने लगीं। जो चालाक थे फुरतीबाज़ थे, हुशियार थे अच्छी जगह बैठ गये, बाकी जो बिचारे भोले भाले थे, उनको जैसी जगह मिली उसीमें सन्तोष किया।

बीन का बाप मय अपने Assistants के चुप चाप एक ओर खड़ा होगया। उनमें से एक के पास लाल रंगकी थैली थी। बिना 'मनुहार' ये लोग कैसे बैठते? इनका कायदा सब से ऊंचा था। मुझे इन पर बड़ी दया आयी। परन्तु कर क्या सकता था? सगोजी पधारे। बीनणी के बाप। स्वागत

करने के लिये। उनके साथ में था एक मैले कुचैले कपड़े पहने नाई। उसके हाथ में थी एक थाली, थाली के अन्दर थी कुछ 'छाछ'। थाली एक बाजोट के पास रख दी गई। बीन का बाप उस बाजोट पर Attention के Position में खड़ा हो गया। लाल थैली के इनचार्ज ने थैली का मुंह खोला। इधर बीनणी का बाप, बीन के बाप का उस छाछ से पैर धोने लगा रगड़ रगड़ कर। नाई मददगार बना। थैली के रुपये गिन गिन कर उस छाछ वाली थाली में गिराये जाने लगे। लोगों के पूछने पर बीनणी के बापने कहा--२०१) रुपला चलाया है—। मैंने हनूत से पूछा—यह क्या बला? कोई 'टैक्स' तो नहीं चुकाई जारही है? हनूत बोला—यह रकम नाई को मिलेगी। मैंने कहा नाई को इतनी मोटी रकम? २०१) रुपये? इस मंहगीके जमाने में? ऐसे Trade Depresssion के समय में? हनूत बोला यही तो इस समाज की विशेषता है। नाईही तो इस समाज के सर्व सर्वा हैं, कर्ता धर्त्ता हैं। गुड्डे गुड्डियों की सगाई करानेवाले पञ्च हैं। पचास वरस के बूढ़ों को चौदह वरस की खूब सूरत बिनणी ला देनेवाले देव हैं। नाई ही तो बढ़िया बढ़िया पकवान बनाते हैं। तुम्हारी हजामत बनाते हैं, तुम्हारी जूठी थालियां मांजते हैं। इतनी सेवाओं के लिये २०१) रु० क्या चीज है? मैंने ठण्ढी आह ली। बोला—तब तो इस समाज का नाई होना भी बड़े गौरव की बात है, हनूत बोला—नाई क्या नायण होने में और भी फायदा है। एक बार माथा गूंथने की मजूरी ॥) १) रुपया से कम नहीं चार्ज करतीं। मजा यह है कि Cash नहीं लेती परन्तु बेल बूटेदार कनारी वाली "कांचली" की भेंट स्वीकार करती हैं। इससे कम में नायण देवी प्रसन्न नहीं होती। फिर होली दिवाली आदि मौकों पर तो उनकी भेंट का कहनाही क्या? भई! धनवानों की बात छोड़ दो बिचारे गरीबों को भी इसी तरह पीसना पड़ता है। नायण देवी के रुष्ट हो जाने से उनका माथा कौन गूंथे? मैंने कहा—वाह नाइयों ने तो अपना अच्छा हक जमा रखा है।

टैक्स (नाई का) चुकाने के बाद बीन के बाप को जीमने की इजाजत मिली। थाल परोसा गया चांदी का। चांदी की कटोरियों एवं ग्लासों के साथ।

उधर स्त्रियों ने अपने पञ्चम स्वर से गाना शुरू किया। क्या गाया क्या न गाया सो तो परमात्मा जाने। परन्तु गाने को सुनतेही पुरसगारे चिल्लाने लगे—सगोजो! भाणो छुड़ावो, फेरुं जीमो। बिचारे सगोजी (बीन के बाप) पर फिर आफत। भोजन यानी 'भाणे' को बांधा किसने? स्त्रियों के गाने ने। समूची जान बिना भाणा छुड़ाये जीमे कैसे? सभी कायर नहीं होते। एक १८ वर्षीय युवक ने बरातियों की ओर से इस 'चैलेञ्ज' को स्वीकार किया और मुंह को चद्दर से ढक गुनगुनाने लगा। शायद यह 'भात' छुड़ाने का कोई श्लोक आदि हो।

जनेत का जीमनवार शुरु हुआ हम भी थाली लेकर पुरसगारी करने लगे।

बड़े आदमी जब जीमने बैठते हैं तो गायन वाद्य हुआ करता है। इससे खाने में लुफ्त आता है। रुचि बढ़ती है। यहां पर भी इसका पूरा इन्तजाम किया था। भले भले घरों की स्त्रियों को इसके लिये निमन्त्रण दिया गया था। ये अश्लील एवं

भद्दी गालियाँ देने लगीं, गायन के रूप में। जनेतियों को, जीमनेवालों को, और मजा यह कि जनेती भी इन गालियों को सुन सुन कर आनन्दित होरहे थे। भले भले घरों की स्त्रियों से गालियां सुननेका मौका भी तो बार बार नहीं मिलता!

गाने का Chorus अच्छा था। सब स्त्रियां प्रश्न पूछतीं एक उनका जवाब देती थी—

प्रश्न—मालवे की मिमली तूं क्यों रूसी ए?
मालवे की मिमली तूं क्यों रूसी ए?
जवाब—रुसूं नी के करूं गहणो थोड़ो ही घाल्यो ए।
प्रश्न—मालवे··· ··· ···
जवाब—रुसूं नी के करूं जानी सै काला ही काला ए।

इसी तरह के प्रश्नोत्तर होते थे। हम पुरसगारी तो कर रहे थे परन्तु ध्यान इधर गाने की तरफ था।

एक वृद्ध सज्जन ने पकौड़ी लाने को मुझे अन्दर भेजा-आंगन में। "भण्डार" आंगनके ही एक कमरे में था। बीन महोदय मय अपनी "वानर" सेना यहीं विराज रहे थे। थाल खूब सजावटके साथ परोसा गया था। परन्तु सब चुपचाप बैठे थे। कोई 'कोआ' भी न लेता था। हनूत ही बीन राजा की पुरसगारी के इन-चार्ज में था। मैं तुरंत ही बोल उठा क्यों भई हनूत! बीन राजा जीमते क्यों नहीं? क्या तबियत गोलमाल है? जान तो आधी से ज्यादा जीम चुकी। हनूत बोला—मैं क्या करूं? बीन के सुसरो जी एक गिन्नी एवं पांच रुपया तो "धाम" चुके फिर भी राजी नहीं होते। मैंने बीन से, कान में कहा "क्यों जी! यह तो आप बड़ा जुल्म कर रहे हैं। अपनी १३ वर्ष तक पाली पोसी सुन्दर लड़की भेंट कर चुके फिर भी आप नाराज? क्या समूचा धन ही आपको सौंप दें। बीन धीरेसे बोला—बिना "नकारे" ऐसी रुपया नहीं मिलता। मैंने कहा--यह ठीक, तब तो अबतक समूचा धन न देदें तब तक हां ही क्यों किया जाय!

बीन के सुसरोजी पधारे। अब की बड़ी भेंट लाये थे। एक अंगूठी एक गिन्नी एवं पांच रुपये थामे। बीन राजी होगया और जीमने लगा!

बीन की सूरत शक्ल काबिल देखने के थी। अच्छे से अच्छा बहुरूपिया भी ऐसा स्वांग न रच सकता था। महादेव जी के अर्द्ध-नारीश्वर के रूप से भी यह रूप ज्यादा जटिल था। राजसी ठाठ, नवाबी ठाठ स्त्री भेष-सबका मिक्सचर था। न मालुम ब्राह्मण पण्डितों ने क्या सोच समझ कर इस भयङ्कर पोशाक की अनुमति दी।

मैं पकौड़ी लेकर बाहर चला आया। जीमने वालों की अजीब हालत थी। एक २ 'कोए' को कम से कम ८।१० बार तो चबाना ही पड़ता था। बड़े २ पहलवानों के पसीना आजाय। ये तो बिचारे किस बाग की मूली थे।

लोगों का जोर बादाम की कतलियों पर विशेष रूप से था। पेट तो भर चुका था परन्तु मन न भरा, पुरसगारों ने 'कोए" देने शुरु किये। मैं तो समझा शायद जनेती हाथ से कोए लेते लेते थक गये हैं इस लिये पुरसगारे मदद कर रहे हैं, ताकि सिर्फ दांतों को ही मिहनत करनी पड़े। हाथों की शक्ति Reserve रहे। चारों ओर से बस "कोओं" ही "कोओं" की बौछार होने लगी। राजी खुशी ले लेते तब तो ठीक नहीं तो जबर्दस्ती ही उनके मुंह में ठेल

दिये जाते थे। दस पन्द्रह मिनट तक यों ही होता रहा। जीमनेवालों में इसमें Competition होती थी। जो ज्यादा कोवा ले वही वीर बहादुर गिना जाय। खैर, सीमा भी तो कोई चीज होती है।

जीम चुके, चुल्लू किया। सगोजी ने टनटनाते हुए जूठी थाली में कई रुपये डाले। ये भी नाई महाराज को ही भेंट किये गये थे।

अब छोटे २ चुटकलों से जनैतियों पर गालियों की बौछार होने लगी। दोनों ओर से Finishing Competition होरही थी। किसकी जीत हुई परमात्मा ही जाने। जानियों ने अपने अपने घरका रास्ता नापा।

जूठी थालियां उठायी गयी। बाजोट पाटे हटाये गये, जाजम आदि भड़काये गये, जगह साफ कर दी गयी। हम भी अपनी २ मण्डली में गप्पें हांकने लगे।

मीठी मधुर गानेकी ध्वनि सुनाई दी। सब कहने लगे—तैयार हो जावो, "सग्यां" आती है। सब इधर उधर दौड़ने लगे। हम चार पांच जनों ने जाजमें बिछाई, पाटे सजाये। एक वृद्ध सज्जन जो पीछे मालूम पड़ा, पञ्च था, बोला—इता दिनां तांई तो लुगायां ने आजम पाटा कदेइ कोनी दीनां, अबै थे अंगरेजी पढ़योड़ा नुंई नुंई रीत चलाबो हो। मैं उस वृद्ध से तो कुछ न बोला। कौन जान बूझकर लड़ाई मोल ले परन्तु हनूत से बोला—स्त्रियों का कायदा इतना नीचा क्यों? जो बिचारी २५०) २५०) रुपयों का घाघरा ओढ़णा पहन कर आती हैं, जो बिचारी दस दस हजार का गहना पहन कर आती हैं, उनको तो इस मैली मिट्टी में बिठाया जाय और इन पुरुषों को गद्दे पाटे दिये जांय। क्या इनके कपड़े इस मिट्टी से खराब न होंगे? बलिहारी है इस समाज की।

हमलोगों ने वृद्ध आदेश से पाटे जाजम हटा दिये। खड़े होगये।

गानेका मधुर शब्द नजदीक आने लगा—डरपो मत। डरपो मत। रोटी तो म्हें खाय कर आया, पाणी तो म्हे जाय पीस्यां, डरपो मत। घर घर की म्हें तो एक लुगायां, न्योतो देय बुलाया, डरपो मत।

सब अन्दर चली आयीं। कुछ आंगण में चली गयीं, कुछ वहीं बालू पर "भाणा" कर बैठ गयीं।

बालू पर बैठने का ढंग भी बड़ा विचित्र था। जो एकबार देखले जन्म भर न भूले। मालूम पड़ता था स्त्रियों को अपनी जूतियों से बड़ा प्रेम है। कारण प्रायः सभी अपनी अपनी जूतियां अपने घाघरे के नीचे दाब कर बैठी थीं। दृश्य देखने लायक था, कई तो अपने "घाघरे" के Circle को काफी Enlarge कर बैठी थीं। बिना Enlarge किये उस के कनारी के बेल बूटों पर लोगों की दृष्टि कैसे पड़े? और दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि घाघरा नीचे दाब कर बैठने से कनारी के 'सल' भी तो पड़ जावें। उसकी समूची शोभा ही मारी जावे। जूतियां नीचे दाबने का रहस्य कुछ मेरी समझ में न आया। परमात्मा जाने यह भी कोई रिवाज होगो! एक एक भाणों में चार चार पांच पांच स्त्रियां थीं।

हनूत बोला—देखते क्या हो? पुरसगारी क्यों नहीं करते? मेरा स्वप्न मानो भंग होगया। मैं बोला, तो क्या पुरुष इन स्त्रियों को जिमावेंगे? ये तो बिचारी यों ही मारे शरम के दबी जारही हैं। तीन तीन हाथ का घूंघट निकाले हुए हैं। भई ऐसी

हालत में पुरुष क्यों जबरदस्ती पुरसगारी करें ? हनूत बोला—अरे ! मेरे बहुत पापड़ बेले हुए हैं। मैं सैकड़ों ऐसी जानों को जिमा चुका। सभी जगह यह काम पुरुषों ही को करना पड़ता है। खैर, जब रिवाज ही ऐसी है तो उसका पालन करना भी पुरसगारों का फर्ज है।

आंगण में जाने वाली स्त्रियों में "सगीजी" एवं उनकी 'लाई लागती, हो थीं। संख्या २५।३० के करीब होगी। मैं भी भाग जोग से किसी बहाने अन्दर चला गया था। भण्डार आंगण ही में था। सगियों की पग चम्पी होरही थी। सिर्फ पैरों का Message होरहा था। मजा यह कि यह काम बिनणी की घरवालियों को ही खुद करना पड़ता था। असली सेवा इसी का नाम है, बिचारी दो बजे की कड़ाके की धूपमें भी तो कितनी दूर से आयी थीं तीन तीन सेर पैरों की 'जोड़' का वजन, डेढ़ डेढ़ सेर हाथों की 'बङ्गड़ियों एवं चूड़ियों का वजन, आध सेर सिर में 'तारा' 'सकरपारा, 'टिड्डी भलका' एवं 'बोर' का वजन, पांच सेर 'घाघरा, ओढ़ेना आदि खुदरा कपड़ों का वजन, और कम से कम डेढ़ मन शरीर का वजन। बताइये दो मन वजन और उस को घसीट कर लाना, इस गरमी में। पुरुषों को यदि इतना भार दे दिया जाय तो वो दुनियां भर में शोर मचा दें। अत्याचार अत्याचार का डङ्का पीट दें। यह तो बिचारी स्त्रियों की ही सहन शीलता है जो इतना होने पर भी कभी चूं तक नहीं करतीं और सहर्ष इससे भी ज्यादा वजन ढोने को तैयार रहती हैं। सोते जागते, उठते बैठते, हरवक्त तैयार ! खैर, 'पग चम्पी' के बाद छाछ से पैर धोये गये। रुपये धुलाये गये। यह भी थी भई भाई महाराज की भेंट। जीमने बैठीं, वो जबरदस्त 'भाणे, हुए।

दोनों ओर से गाने की कम्पिटिशन होने लगी। कौन अधिक भद्दा एवं अश्लील गाना गा सकती है ! जीमना और गाना, दोनों काम एक साथ। फिर भोजन के समय गालियां निकालना वीरों का ही काम है। मेरी तरह अन्यान्य पुरसगारे भी इस Competition को देखने आंगन में आगये थे। जो स्त्रियां यह दावा करती हैं कि हम सुसरे से नहीं बोलतीं, सासु से नहीं बोलतीं, जेठ से बात नहीं करतीं वो यहां ऐसी भद्दी भद्दी गालियां कैसे निकाल सकती हैं ! शायद नीच से नीच जाति की स्त्री भी ऐसा करने में संकोच करे, फिर जहां पुरुषों का जमघट हो।

मैं ने तो दो चार लाइने सुनी फिर न सुन सका क्षोभ हुआ दुःख हुआ—क्या तीन तीन दफै दिन में जैन मुनियों के उपदेश सुनने वाली ये ही स्त्रियां ऐसे ऐसे अपशब्द बोल सकती हैं ? अपने को परम सती होने का दावा करने वालीं किस प्रकार ऐसे गाने गा सकती हैं। तीन तीन हाथ का घूंघट निकालनेवालीं, शरम के मारे दबी जाने वालीं कैसे इतनी पतित हो सकती हैं ? मैंने मनको बहुत समझाया कि आंखे धोखा दे रही हैं, कान विश्वासघात कर रहे हैं परन्तु बात ऐसी नहीं थी। जो था सब ठीक था, सोलहो आने ठीक था।

खोस लीनी ओढ़णी मरोड़ लीना गाल
बादल बरणी ओढ़णी रे लाल।
कुण थारो रसियो कुण थारो यार
बादल बरणी ओढ़णी रे लाल।

मैं वहां ठहर न सका, बाहर चला आया। बाहर की स्त्रियां बेचारी शान्ति से जीम रही थीं। अपने

मुंह को अपवित्र नहीं कर रही थीं। मैं यहां पुरसगारी करने लगा, मेरे थामे में गरमागरम चावल थे, चावल को देखतेही सबका ध्यान मेरी ओर आकर्षित हुआ। कोई मेरी धोती का पल्ला खींचने लगी, कोई मेरे कमीज को टालने लगी, कोई मेरे हाथ को ही खींचने लगी, कोई मुंह से तो कुछ नहीं बोली केवल "टिचकारी" देने लगीं। मानों मैं कोई गूंगा आदमी था और वे मुझे 'सैन' से समझाने की चेष्टा कर रहीं हो। मैं बड़ी मुसीबत में पड़ गया। किस किस से मैं अपना पिण्ड छुड़ाऊं, बस 'भई गति सांप छुछुन्दर केरी'। हनूत भी चावल लिये आ पहुंचा। डूबते को तिनके का सहारा मिल गया, उसका भी वही हाल हुआ जो मेरा हुआ। परन्तु वह अनुभवी था, चालाक था, "मसखरी" करता जाता और पुरसता जाता। मैं तो मौका पाकर वहां से निकल भागा।

स्त्रियां जीम लीं, चली गईं। गातेही आईं और गातेही चली गईं, अपना खेल दिखा गईं। हमारे दिमाग पर एक चित्र अङ्कित कर गयीं।

थालियों की तरफ नजर गयी। हरएक थाली में जूठका ढेर लगा था, इतनी जूठ डालने से मतलब? फायदा? मैंने हनूतको बुलाया तो वहां पर और भी पांच सात जने इकट्ठे हो गये। मैंने कहा—हनूत! तुमलोगों को पुरसगारी करने की Training लेनी चाहिए। इतना जूठा क्यों छोड़ा गया? सिर्फ तुम्हारी असावधानी से। जरा सी भी सावधानी से पुरसगारी करते तो यह नौबत ही क्यों आती? सोचो—विचारो—एक तरफ तो तुम्हारी समाज के गरीब लोग अन्न अन्न चिल्ला रहे हैं और दूसरी ओर तुम लोग जान बूझकर व्यर्थ अन्न को नष्ट कर रहे हो। दूसरी बात और हैं कि कल तुम्हारे घर ही पर काम पड़ा तो लोग तुम्हारे सामने भी इसी तरह का आचरण करेंगे। मिठाई बरबाद करेंगे। क्या तुम इसे सहन कर लोगे? लोग कहने लगे कि बात तो ठीकही है पण बड़ेरां की आ ही रीत चलायोड़ी है। आप कोई उपाय बताय देवो तो बहोत चोखो काम होवे। मैंने कहा उपाय एक नहीं, बीसों हैं। कोई करने वाला भी तो सामने आवे। ऐसा कोई काम नहीं जो मनुष्य नहीं कर सकता। लगन चाहिए, हिम्मत चाहिये, साहस चाहिये। सुरपुरे में जावो, डुङ्गरपुरे में जावो, नाहरगढ़ में जावो और वहां की पुरसगारी देखो। क्या ही अच्छा इन्तजाम है। वहां पुरसगारी संस्थाएं है, सभाएं हैं काफी स्वयं सेवक सेविकाएं है। जिसको दरकार हो संस्था को खबर कर देता है, बस सब इन्तजाम तैयार। घरवाले को बिल्कुल तकलीफ नहीं, बिल्कुल झंझट नहीं कितना आराम है। स्त्रियों के लिये स्त्रियां, पुरुषों के लिये पुरुष। क्या तुमलोग मनुष्य नहीं? क्या तुमलोग नवयुवक नहीं? क्या तुम में ताकत नहीं! फिर क्यों नहीं ऐसा कर सकते। सोचो, समझो। एक सज्जन ने कहा--आपणे गांव में तो इसो होणो बड़ो टेढ़ो काम है? हनूत बोला, टेढ़ा तो है पण टेढ़े काम भी तो मनुष्य ही किया करते हैं। मैंने कहा—एक बार Experiment ही कीजिये।

इधर हमारी गप्पें होरही थीं। उधर पुरसगारों के जीमने का इन्तजाम होरहा था। हमारी Call हुई। हुक्म की तामील करनी पड़ी।

पुरसगारे करीब तीस थे। उनकी भी एक छोटी मोटी "जान" ही समझिये। इन बेचारों के लिए न गाने बजानेका इन्तजाम था न मधुर गालियों का। जैसे तैसे पेट भरा। मैं भी इन्हीं अभागों में शुमार था।

—०—

हिन्दू समाज में विधवाओंका स्थान

[श्री० गोपीकृष्णजी मोहता बी० काम]

आज हिन्दू समाज में विधवाओं की दशा अत्यन्त करुणाजनक और भयावह है। यदि निकट भविष्य में उनका सुधार नहीं हुआ तो उससे भारी अहित होनेकी आशङ्का है। यह बात मानने में किसी भी धर्म का विचारवान पुरुष आना कानी नहीं करता है। समाज में सभी उमर की लड़कियां एवं स्त्रियां विधवाएं हैं। छोटी छोटी पांच पांच वर्ष की दुधमुंही बालिकाओं से लेकर साठ वर्ष की स्त्रियां तक इस दुःख को भोग रही हैं। उनमें सब सच्चरित्र नहीं हैं। बहुतसी कुपथगामिनी होकर अपने कुटुम्ब, जाति एवं हिन्दू समाज का मुख कलङ्कित कर रही हैं। कुछ विधवाएं सच्चरित्र रहकर भी सुख से दिन नहीं काट रही हैं। यदि हम उन विधवाओं की परवाह भी न करें जो कठिन से कठिन आपत्ति में पड़कर सच्चरित्र और धर्मनिष्ठ रह सकती हैं ; यदि हम उनके दुःखों पर दो आँसू बहाकर दया न दिखलावें ; तो भी उन विधवाओं का ख्याल तो करनाही पड़ेगा जो वर्त्तमान वातावरण में अपने चरित्र को पवित्र और अपने शीलको उज्ज्वल नहीं रख सकतीं! नतीजा यह होता है कि या तो वे समाजके भयसे गर्भस्राव या भ्रूणहत्याएं करती हैं या खुल्लमखुल्ला किसी गुण्डों या मुसलमानों के पीछे होजाती हैं। इनमें जो बिलकुलही बेहया होती हैं, वे वेश्यावृत्ति ग्रहण कर लेती हैं और अपनी अन्य सुहागिन बहनों को मानों ताना मारती हैं कि जो युवक गण फिर रहे हैं, इनके संग भोग विलास की सिर्फ तुमही एकमात्र अधिकारिणी नहीं हो हमारा भी भाग है। विधवाएं क्यों नहीं पवित्र रह सकतीं? उनके पतित होनेका क्या कारण है ?

यह बात तो स्पष्ट है कि स्त्रियां अपने आप पतित नहीं हो सकतीं इनको मार्ग भ्रष्ट करने का बहुत-सा दोष पुरुषों को है। हिन्दू समाज और विशेष कर मारवाड़ी समाज में क्वांरों और जवान विधुर पुरुषों की संख्या बहुत ज्यादा है। वे प्रायः गरीब घराने के होते हैं। बेटीवाले बापको मुंह मांगे हजारों रुपये देकर तो ये उसकी लड़की खरीद नहीं सकते। वे समाज को कोसते रहते हैं! इनमें आजन्म ब्रह्मचारी रहनेवाले तो माई के लाल थोड़े ही रहते हैं। धनाभाव के कारण वेश्याओं से अपनी काम पिपासा सर्वदा शान्त नहीं कर सकते। ये ही विधवाएं इनका सुलभ्य शिकार होती हैं। भौजाई के नाते मीठी मीठी मजाकें कर इनकी कामाग्नि उत्तेजित कर देते हैं। सुअवसर की शान्ति गर्भ का कारण होजाती है। तब ये ही लोग या तो गर्भस्राव की कोशिश करते हैं, यदि उसमें सफल नहीं हुए तो विधवा को घरसे निकाल कर किसी मुसलमान की शरण में छोड़ देते हैं।

उनके पतित जीवन का दोष वातावरण, माता पिता और कुटुम्बियों पर है। विधवा को उसके कुटुम्ब वाले अत्यन्त घृणाकी दृष्टि से देखते हैं। उस

को किसी शुभकार्य में भाग नहीं लेने देते, दिन भर कलहके मध्य गृहकार्यों से थककर शामको वह सोती है तो उसकी दुःख सुख की कोई सुनने वाला नहीं रहता और समय कुसमय पर उसका तिरस्कार उसके चित्त को टूक २ कर देता है और वह अपने भाग्यको कोसने लगती है।

तीसरा कारण विधवाओं के माता पिता और सास ससुर का असंयम जीवन है। घर में लड़के की बहू या लड़की विधवा होगई है पर माता पिता या सास ससुर संयमी नहीं रह सकते। वो विधवाओं के गृह में उपस्थित रहते हुए भी अपनी स्त्री से काम पिपासा शान्त करते हैं। उस समय वातावरण अत्यन्त दूषित होजाता है, जब विधवा बेटी या विधवा बेटे की बहू के होते हुए बाप या ससुर नई नवेली लाता है। अल्प वयस्क विधवाओं के हृदय में सहसा यह विचार उठता है कि जब हमारे बाप या ससुर प्रौढ़ावस्था में ब्रह्मचारी नहीं रह सकते तो इस यौवनावस्था में हमारे से वे ब्रह्मचर्य की क्यों आशा रखते हैं?

चौथा कारण हमारी विधवओं के पतित होने का नौकरों पर अधिक विश्वास है। ये सुहागिन स्त्रियों के आगेही काम नहीं करते, परन्तु विधवाओं के पास भी एकान्त में आ सकते हैं। कलकत्ते इत्यादि बड़े २ शहरों में मारवाड़ी महिलाओं को ये ही ससुराल पीहर लाते ले जाते हैं। अवसर प्राप्त होते ही वे पतिता होजाती हैं।

गरीब विधवाओंके पतित होनेका कारण एक और विशेष है। वो प्रायः उदर पोषण करने के लिये पैसे के लोभ में पड़कर पापवृत्ति की ओर प्रवृत्त होजाती हैं और जब अपने पाप कर्मों को समाज से छिपा नहीं सकतीं तो वेश्या वृत्ति को अंगीकार कर लेती हैं। इन बातों को मानने से कोई भी इन्कार नहीं करेगा। उपरोक्त बातों पर सन्देह वालों को हम एकह प्रश्न पूछते हैं कि भारतवर्ष में ये विधवाएं कहां से आयीं? क्या ये देवराज पुरी से उतरी हुई हैं? इनमें से अस्सी प्रतिशत पतित विधवाएं हैं!

रोग के निदान में तो सिर्फ नाम मात्र का मत भेद है परन्तु चिकित्सा की प्रणाली पृथक पृथक है। नवीन विचार के पुरुष तो उनकी एकही औषधि बतलाते हैं, वह है पुनर्विवाह। समाज में इसी पुनर्विवाह के प्रश्न को लेकर भीषण संघर्ष होरहा है। सुधारक लोग यह भी जानने लग गये हैं कि धर्म भीरू लोग और तो सुधार सहन करलें पर पुनर्विवाह को वे कदापि ग्रहण नहीं कर सकते। क्या पुनर्विवाह हिन्दू जातिका कल्याण कर सकेगा? क्या यह विधवाओं के दुःख दूर कर देगा? यदि धर्म शास्त्रों की तरफ नजर भी उठाकर न देखें तो यह मानने के लिये हम तैयार हैं कि पुनर्विवाह वर्त्तमान विधवाओं के दुःख दूर कर देगा। पर साथ २ प्रश्न यह उठता है कि समाज के ऊपर इसका क्या असर पड़ेगा। हां, हिन्दुओं की संख्या बढ़ जायगी? तीन करोड़ विधवाओं में यदि एक करोड़ ने ही विवाह कर लिया और प्रत्येक स्त्री के औसत में तीन सन्तानें हुईं तो दस वर्ष में तीन करोड़ हिन्दू ज्यादा हो जायगे। हिन्दू विधवा स्त्रियां मुसलमानों एवं ईसाइयों के हाथों न लगने से उनकी संख्या का भी नियन्त्रण होगा। हिन्दू क्वारों का प्रश्न भी हल हो जायगा। इतना लाभ तो जरूर होगा पर पुनर्विवाह अपने साथ में हानियों को भी लायगा। समाज में व्यभिचार बढ़ जायगा जिससे हिन्दू जाति दिन पर

दिन निर्बल होती जायगी। पति पत्नी में प्रेम की मात्रा कम हो जायगी। पत्नी अपने पति को सर्वस्व न समझ कर उसको जीवन रूपी फर्म चलाने केलिये एक साझेदार Partner समझेगी जिसकी मृत्यु होते ही वे दूसरे सीरवाली की खोज करेगी और यदि जीवन समय में दोनों के नहीं बनेगी तो तलाक की नौबत आ जायगी। इसका यूरोप (Europe) प्रत्यक्ष उदाहरण है। गार्हस्थ्य के सुख काफूर हो जायंगे, ऋषियों के उच्च आदर्श मटियामेट हो जायंगे हमारा सतीत्व घमण्ड चूर्ण हो जायगा। हिन्दुओं की संख्या यदि बढ़ भी जाय तो उससे विशेष लाभ नहीं होगा, देश की दृष्टि से विचार करें तो भी जन संख्या वृद्धि की आवश्यकता नहीं। ३५ करोड़ तो पहले से ही हो चुके हैं, एक तिहाई लोग प्रति दिन इसी अवस्था में ही भूखे सोते हैं। फिर बढ़ती हुई संख्या के लिये भोजन का क्या प्रबन्ध होगा? देश की संख्या वृद्धि की जरा भी आवश्यकता नहीं पर ऐसे सच्चरित्र व्यक्तियोंकी आवश्यकता है जो आजन्म ब्रह्मचारी रहकर भारत माता के दुःख दूर करने में प्रवृत्त हों।

क्या बढ़ी हुई संख्या देश के नहीं तो हिन्दू जाति के संकट दूर कर देगी? क्या हिन्दू अब भी भारतवर्ष में मुसलमानों से त्रिगुणा अधिक नहीं हैं? फिर वे क्यों गांव गांव और गली गली में मार खाते हैं। जहां कहीं दंगा होता है तो मृतकों और घायलों में हिन्दुओं की संख्या अधिक रहती है। उनके स्थान स्थान पर सार्वजनिक अधिकार छीने जारहे हैं। हमारी तीन गुणी अधिक संख्या मुसलमानों से क्यों नहीं हमारी रक्षा कर सकती? मालुम पड़ता है कि हिन्दुओं को संख्या वृद्धि की इतनी आवश्यकता नहीं जितनी उनमें बल, पुरुषार्थ, वीरता और साहस की है! विधवा विवाह से तो व्यभिचार बढ़ेगा जो हमारे रहे सहे बल वीर्य को और नष्ट कर देगा।

पुनर्विवाह हानिकर है पर विधवाओं को इस दशामें छोड़ना अधिक हानिकर है। जब पुनर्विवाह की औषधि समाज से वैधव्य रोग के कष्ट बिना किसी हानिके दूर नहीं कर सकती, तो रोगको किसी अन्य औषधि से मिटाना चाहिये।

समाज के क्वांरों का प्रश्न बहुत जटिल है और जबतक यह सुलझाया नहीं जायगा तबतक विधवाएं पाक नहीं रह सकती। समाज में पुरुषों का क्वांरा रहना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि हिन्दू समाज में विवाह योग्य लड़कियों की संख्या पुरुषों से कम है फिर वही प्रश्न सामने आता है कि इनका विधवाओं के संग विवाह करदिया जाय तो फिर भी वही बीमारी। समाज येन केन प्रकारेण बाल एवं वृद्ध विवाहों को रोके जिससे एक तरफ तो विधवाएं कम होवे और दूसरी ओर क्वांरें और योग्य विधुरों को पत्नियां प्राप्त हो जिससे वे क्वांरे रहकर अन्य विधवाओं के सतीत्व का खतरा न रहें।

विधवा के माता पिता और सास ससुर चाहे वे किसी अवस्थामें क्यों न हो, अपना अगला जीवन संयम से बिताकर पूर्ण ब्रह्मचारी रहें। वे अपनी काम पिपासा को मारकर सन्तानोत्पत्ति की आशा ही छोड़ दें। पीहर में विधवा स्त्री को उसकी मां अपने पास, ससुराल में उसकी सास या दोनों में से कोई नहीं होवे तो घर की बड़ी बूढ़ी पास में लेकर सोवे और जब कि घरकी और स्त्रियां अपने पतियों के संग प्रेमालाप में मग्न रहे तो वे उस विधवा के

साथ ईश्वर चिन्तन एवं ज्ञानचर्चा करें। सोते समय युवा विधवाओं को अकेली छोड़ना ही उनको अपने विचार दूषित करने का अवसर देना है और जिनके विचार दूषित हो जाते है तो वे काम के वशीभूत हो कर अपने जीवन को पवित्र बहुत कठिनता से रख सकती हैं।

माता पिता का ब्रह्मचर्य लड़की के लिये और सास ससुर का ब्रह्मचर्य पुत्रवधू के लिये आदर्श बन जाता है। यदि किसी पुरुष की स्त्री मर जाय तो विधवा बेटी या बेटे की बहू के रहते हुए विवाह न करे। घरका सारा भार विधवा पर छोड़ दे। नहीं तो विधवा के चित्त में यह तर्क उठती है कि वृद्ध पिता या ससुर को प्रथमावस्था में दूसरी स्त्री लाने का अधिकार है तो हमें दूसरा पति लाने का अधिकार क्यों नहीं ? दूसरी बात, विमाता अपने पति की पहली संतानों के साथ स्वभाविक प्रेम न रहने से उचित वर्ताव नहीं कर सकती। दूसरी लड़कियाँ और लड़के तो सयाने होकर उससे अलग होजाते हैं पर असहाय विधवाएं उनकी यन्त्रणाओं से तंग हो जाती हैं और आखिर घरबार छोड़कर भागना चाहती हैं।

विधवाओं को हम इतनी तिरस्कार दृष्टि से न देखें। उनका वैधव्य उनके वश की बात नहीं। पर यह दैवकृत दुःख एवं समाज की कुप्रथाओं का फल है। उनका खूब आदर करें क्योंकि वे असहाय हैं। उनको प्रत्येक शुभकार्य करने का अधिकार दें; क्योंकि वे महिला समाज में सब से ज्यादा पवित्र हैं। वे भोग विलास को त्यागे हुए हैं। तपस्विनी हैं, ब्रह्मचारिणी हैं, पूज्या हैं। घर के छोटे बड़े सब प्रत्येक कार्य में उनकी सलाह लेवें। प्रौढ़ विधवा हो तो गृह कार्य का सारा भार उनपर छोड़ दें। सम्मिलित परिवार में वह ईश्वर प्रदत्त न्यायाधीश हैं क्योंकि उनकी खुदकी सन्तान न होने से दूसरे सब लोगों की सन्तान उसके लिये समान है। घर में किसी प्रकार का झगड़ा एवं मनोमालिन्य पैदा होने पर आशा की जाती है कि वह सबके हिताहित का समान रूप से ख्याल करके शुद्ध और पक्षपात रहित न्याय करेगी। इतना उच्च आदर, अधिकार पद पाकर उसके मन में कभी भी कुभावनाएं उत्पन्न नहीं होगी।

विधवाओं को भरसक पवित्र वातावरणमें रखें। बाल एवं युवती विधवाओं को नौकर चाकर एवं सन्दिग्ध पुरुषों से दूर रखें। इसके साथ २ कुटिला स्त्रियों के फन्दे में भी उनको न आने दें। जबतक किसी स्त्री को जान न लें उसके समीप न आने दें। विवाह शादी के मौकों पर कामोद्दीपन के गीत एवं दूसरे कार्य्य करने का उनको अवसर ही न दें। उनके खान पान में विशेष नियन्त्रण की आवश्यकता नहीं भोजन हमेशा सादा रहे, कपड़े साफ परन्तु बिलकुल सादे रहे। आभूषण बिलकुल व्यवहार न हो। तेल उबटन आदि कोई भी सुगन्धित पदार्थ का व्यवहार न करें जो कामोद्दीपन में सहायता करें। उपवास उनसे विशेष कराये जांय।

गरीब एवं अनाथ विधवाएं इन सब गुणों के रहते हुए भी धनाभाव से उदर पोषण नहीं कर सकती है और उसके लिये ही वे पाप प्रवृति अङ्गीकार कर लेती हैं। ऐसी अनाथ एवं गरीब विधवाओं को घर पर रहते हुए सहायता पहुंचाना सराहनीय अवश्य है पर सर्वोत्तम नहीं। उनको जीवन भर धन

वालों की थैली पर निर्भर रखना उचित नहीं। न मालूम कब उनकी सहायता बन्द होजाय और फिर उनको फाकेकसी का सामना करना पड़े। दूसरे यदि अनाथ विधवा को बगर पैर हिलाये किसी धनो मानी से भरण पोषण के लिये प्रत्यक्ष में सहायता मिल रही है तो एक तो यदि वह उच्च कुल की हुई तो अपनी जाति वालोंकी दृष्टिमें हेय समझी जायगी। यदि उसको कहीं प्राइवेट सहायता मिल रही है तो लोग उसके आचरणों पर सन्देह करने लग जांयगे। फिर वह सारे दिन निकम्मी बैठी रहकर क्या करेगी? यदि वे सारे दिन कार्यहोन रहकर आलस्यमें दिन काटेंगी तो और भी खराब होगा। कारण शरीर तो सुस्त रह सकता है पर मस्तिष्क कभी भी सुस्त नहीं रहेगा। अच्छी बातें नहीं तो बुरी सोचेंगी और ये कुभावनाएं उनको कुमार्ग की ओर प्रवृत्त करेंगी।

उनको भरण पोषण के लिये स्वतन्त्र बनादो। उनको छोटे मोटे उद्योग धन्धे जैसे सूत कातना, सिलाई, बुनाई, बेल बूंटे निकालना, टोकरी बनाना, उत्तम खाद्य पदार्थ तैयार करना आदि सिखा दिये जांय। इन बातों के लिये प्रत्येक गांव या शहर में छोटे मोटे उद्योग धन्धों के बालिका स्कूल खोल दिये जांय जहां पर विधवाओं को विशेष सुविधा दी जाय उन की मासिक छात्रवृत्तियां बांध दी जांय जिससे वे इस काम को बगैर कष्ट के सीख जांय। यदि कोई विधवा अनाथ हुई तो अपने कुटुम्बियों की और भी प्रिय हो जायगी। अपने कुटुम्ब पर वे भार स्वरूप न होकर उल्टा उनकी सहायता करेंगी।

इन सब के पहिले उनको पढ़ना लिखना अच्छी तरह से सीखा देना चाहिये। पाठशालाओं में विधवाओं के लिये धनी मानी सज्जन छात्रवृत्तियां बांध दें जिससे गरीब विधवाएं लाभ उठावें। शिक्षितों का सारा कार्य विधवाओं को सौंपा जाय। क्योंकि वे उसको बहुत सुचारु रूपसे कर सकती हैं। स्त्रियों के सिवाय यदि वे छोटे बच्चों को भी पढ़ावें तो उसमें कोई हानि नही है। भारतीय स्त्रीगण बहुत अशिक्षित हैं पर शिक्षा की चाट इसको लग गई है। यदि विधवा बहिनें गृहस्थियों के घरों पर जाकर पर्दाशीन स्त्रियों को और बालक बालिकाओं को पढ़ाना शुरू कर दें तो हमारा अनुभव है कि हजारों लाखों विधवाओं का सिर्फ इस एकही कार्य से भरण पोषण होजाय। इससे विधवाओं में ज्ञान वृद्धि और सारे स्त्री समाज में अन्धकार दूर हो जायगा जिससे समाज को कितना भारी लाभ होनेकी आशा है। विधवा बहनों की शिक्षा होते समय पूरा ध्यान रखना चाहिये। उनको पूर्ण धार्मिक शिक्षा मिलनी चाहिए। यदि आजकल की दूषित प्रणाली में वे शिक्षित हुईं तो उससे समाज की भारी हानि होगी।

रोगी सेवा (नर्स) का कार्य स्त्रियां जितनी सुन्दरतासे कर सकती हैं उतनी सुन्दरतासे पुरुष नहीं कर सकते। इसलिये आधुनिक अस्पतालों में नर्सों की बहुतायत रहती है। पर हम विधवा स्त्रियों को सिर्फ रोगिणी स्त्रियों की सेवा करने का ही उपदेश देंगे। विधवा स्त्रियां वैज्ञानिक ढंगसे दाई (प्रसव कारिणो) का कार्य्य सीखें। इस विषयमें निपुण एवं शिक्षित स्त्रियों की अत्यन्त आवश्यकता है।

अन्तमें कहना यह है कि विधवा स्त्रियां देश और हिन्दु समाज की जितनी सेवा कर सकती हैं, उतनी सुहागिन स्त्रियां नहीं कर सकतीं। यदि विधवा बहिनों को सुशिक्षा देकर सुमार्ग पर लगाया जाय तो वे जाति की अमूल्य रत्न हो सकती हैं।

सुधार से ही उद्धार

—०※०—

[श्रीमती रूपकुंवर कोठारी, केसरगंज अजमेर]

यह समय भारतोत्थान का है। देशकी प्रायः सारी ही जातियां अपनी २ उन्नतिमें यत्नशील हैं। ओसवाल समाज उन्नति पथ पर अग्रसर है या नहीं अथवा वह कहां तक सफल प्रयत्न हुआ है, इसका निश्चय करना मेरे लिये कठिन है। हां, इतना मैं कह सकती हूं कि ओसवाल जाति के विचारशील नेताओं के सन्मुख भी इस जाति के उद्धार का प्रश्न अवश्य है परन्तु किसी देश व जाति को उन्नति करने के लिये आवश्यक है कि उसके व्यक्तियों का, शिक्षा के प्रचार द्वारा सुधार किया जाय। शिक्षा से ही जातिमें फैली हुई कुप्रथायें, कुरीतियां और कुसंस्कार दूर हो सकते हैं। और तभी जाति उन्नति की ओर अग्रसर हो सकती है। जिस प्रकार जाति सुधार के लिये पुरुष शिक्षा आवश्यक है, उसी प्रकार बल्कि उससे भी अधिक स्त्री शिक्षा की ओर ध्यान देना आवश्यक है। स्त्रियां ही जातिकी भावी सन्तान की जननी हैं, और जाति का भविष्य भावी सन्तति पर ही निर्भर होता है। शिक्षिता और सुधरी हुई मातायें ही योग्य सन्तान बना सकती हैं अर्थात् मातायें ही जाति की उन्नति का आधार हैं। इस ही कारण शास्त्रों में माता का दर्जा बहुत ऊंचा माना गया है; जैसे कि "उपाध्यान्दशाचार्य, आचार्याणां शतं पिता। सहस्रन्तु पितृन माता, गौरवेणाति रिच्यते"।

"अर्थात् उपाध्याय से दश गुणा आचार्य का, आचार्य से दश गुणा पिता का, पिता से हजार गुणा माता का गौरव अधिक है"

यदि माता को ही मनुष्य का आदि गुरु कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी क्यों कि प्राचीन काल में ब्रह्मा से लेकर भगवान् बुद्ध, महावीर स्वामी, और महाऋषि दयानन्द तथा इस समय महात्मा गान्धी आदि जितने भी महापुरुष संसार में उत्पन्न हुए हैं वे सब के सब इन्हीं माताओं की गोदमें पले हैं, इसी लिये माता को प्रथम गुरु कहा है।

मेरे ऊपरोक्त निवेदन का अभिप्राय यही है कि ओसवाल जाति के विचारशील सज्जनों का कर्तव्य है कि अपनी जाति की उन्नति के लिये स्त्री शिक्षा की ओर शीघ्र पूरा २ ध्यान दें। इस समय जहां तक मुझे ज्ञात है ओसवाल समाज में स्त्री शिक्षा की ओर बहुत ही कम ध्यान है, और कोई भी विशेष प्रयत्न होता हुआ दिखाई नहीं देता। कहीं २ कन्या पाठशालायें हैं, परन्तु वे काफी नहीं हैं और न उनमें स्त्री उपयोगी शिक्षण का पूरा प्रबन्ध है। जाति में स्त्री शिक्षा का शीघ्र प्रचार करने के लिये आवश्यक है कि कन्या पाठशालाओं की संख्या बढ़ाई जाय और उनमें पाठ्यक्रम और पठन पुस्तकें ऐसी रक्खी जांय कि जिनसे थोड़े समय में ही अधिक लाभ हो सके, शिक्षा प्राप्ति-

का साधारण काल आठ वर्ष का रक्खा जाय, और ऐसी व्यवस्था की जावे कि उतने समय में ही स्त्री धर्मोपयोगी सर्वाङ्गपूर्ण शिक्षा प्राप्त हो सके।

पाठशालाओं के अलावा गृह शिक्षण प्रथा भी जारी होनी चाहिये क्यों कि पाठशालाओं में कन्याओं के अलावा विवाहिता स्त्रियां व वयस्क स्त्रियां बहुत कम जा सकती हैं, और केवल कन्या पाठशालाओं के द्वारा जाति में शीघ्र स्त्री शिक्षा का प्रचार नहीं हो सकता। गृह शिक्षण के द्वारा थोड़े समयमें ही स्त्री वर्ग का अधिक भाग शिक्षित बनाया जा सकता है। गृह शिक्षण से मेरा अभिप्राय यह है कि अवकाश के समय उन स्त्रियों को जो शालाओं में न जा सकें घर पर ही स्वतन्त्र रूपसे पढ़ाने का प्रबन्ध किया जाय। पति, भाई पिता आदि स्वयं पढ़ाय या पढ़ाने का अन्य उचित प्रबन्ध करें। मेरे विचारमें पुरुषों में यदि लग्न हो तो इस कार्य के लिये प्रतिदिन घण्टा आध घण्टा लगाना कोई मुशकिल नहीं है और स्त्रियां भी समझाने से पढ़ने के लिये सहमत हो सकती हैं।

गृह शिक्षण प्रथा के प्रचार और प्रोत्साहन के लिये बड़ा ही अच्छा हो कि एक सार्वदेशिक ओसवाल महिला विद्यापीठ स्थापित किया जाय जो स्वतन्त्र रूप से घरों में पढ़ने वाली स्त्रियों की समय २ पर परीक्षा लिया करे और उत्तीर्ण महिलाओं को पारितोषिक व पदवी प्रदान आदिसे सत्कार करके उत्साह वर्द्धन किया करे, ऊपरोक्त परीक्षाओं के लिये उपयोगी पाठ्य विधि और पठन पुस्तकों का निश्चय भी वही महिला विद्यापीठ ही करे।

यदि दश बीस जाति हितैषी नवयुवक और अनुभवी विद्वान् सज्जन इस कार्य में लग जावें तो सफलता हो सकती है और पांच सात वर्ष में ही ओसवाल समाज में स्त्री शिक्षा का प्रशंसनीय कार्य्य हो सकता है।

शिक्षा के अभाव के अलावा प्रचलित कुरीतियां भी ओसवाल जाति के उद्धार में अत्यन्त बाधक हैं। इसलिये सुविधा अनुसार स्थान २ पर व्याख्यानों द्वारा भी स्त्री शिक्षा और सुधार का प्रयत्न होना चाहिये, क्यों कि स्त्री सुधार ही जाति उद्धार का मूल है। मूल को पुष्ट करने से ही जाति रूपी वृक्ष शीघ्र हरा भरा होकर उत्तम फल पुष्पादिसे भरा पूरा दृष्टि गोचर हो सकता है।

अन्त में विचार शील जाति हितैषी सज्जन सरदारों से और शिक्षित और सुविचार वाली महिला वर्ग से भी मेरा नम्र निवेदन है कि यदि आप के दिलमें जाति के लिये दर्द है और उसको उन्नत अवस्थामें देखना चाहती हैं, तो स्त्रियों की शिक्षा और सुधार का कार्य शीघ्र हाथ में लीजिये। उन के सुधार से ही उद्धार होना संभव है।



मातृ-हृदय

[श्री "नन्दिनी-हृदय"]

चाहिये !

ऐसा हृदय जिसके सेवा-भाव में स्वार्थ का समावेश न हो,
जिसका अंतःकरण आनन्द से ओतप्रोत हो,
जिसकी विनयता और विशुद्धता विशाल हो।
जो सरलता की सुन्दरी, प्रेम की प्रतिमा और औदार्य की आभा हो,
जिसकी आंखों में चारित्र की तेजस्विता और चेहरे पर भोलापन की छाप हो,
जिसका दर्शन दुनियां के दुःखों को भुला कर मनको आह्लादित कर देता हो।

ऐ मेरे प्रभु !

दगल बाज दुनियां के बेरहमी बाजार में ऐसा हृदय,
मुझे कहां मिलेगा ? क्रोधादिक षट्रिपु से घेरे हुए,
मानवी-मुल्क में ऐसे पवित्र जिगर की प्राप्ति मुझे कहां होवेगी ?

वत्स !

वह देख ! स्नेह-सरोवर के भव्य तट पर बैठी हुई, विश्व-प्रेम की
बांसुरी बजाकर, अलख को आमोदमय करनेवाली उस देवी के पास जा।
इसी उमङ्ग से, इसी उत्कण्ठित जिगर से जा !
और दृढ़ालिंगन के साथ उसकी नजर में समाजा !

ऐ मेरे नाथ !

मैं आपकी इस कृपा से अत्यन्त सुखी हूं
दया करके और इतनी सी बात बता दें
कि उस देवी का, स्नेहमयी सुन्दरी का
हर्ष-दाता हृदय का नाम क्या है ?

वत्स !

उस देवी का, सुन्दरी का नाम है **जगज्जननी**
उस हृदय का नाम है **मातृ-हृदय !**

नारी-गौरव और हमारा कर्तव्य



[श्री छोगमलजी चोपड़ा, बी० ए० बी० एल०]

संसार में नारी जाति के उत्थान के लिये आवाज उठ रही है। ओसवाल समाज संसार की उस आवाज की उपेक्षा नहीं कर सकता। इसी उद्देश्य से आज "ओसवाल नवयुवक" के विशेषांक-महिलांक का आयोजन किया गया है। संसार में, राष्ट्र में, समाज में व गृह में नारी का स्थान कौनसा है इस विषय पर मतभेद होना स्वाभाविक है। कुछ लोग ऐसे हैं जो नारी को अन्तःपुर के निभृत कोण में ही आबद्ध रखना उचित समझते हैं और कुछ लोग नारी जाति को पुरुषों के समान सर्वत्र अबाधित गति से देखना चाहते हैं। सब लोगों की रुचि एकसी नहीं होती —"भिन्नरुचिर्हि लोकः" अतः नारी जाति के सम्बन्ध में पुरुषों में इतना भारी मतभेद होना अस्वभाविक नहीं कह सकते। इस विषय में मैं भी कुछ आलोचना करने के लिये उद्यत हुआ हूं। यह आलोचना निरपेक्ष नहीं कह सकते।

पुरुष व स्त्री का संसार में परस्पर घनिष्ट संबन्ध है और वे एक दूसरे पर आश्रयी हैं। एक के सहारे बिना दूसरा नहीं रह सकता। मनुष्य व तीर्य्यञ्च समस्त जगह यह प्रकृति पुरुष, स्त्री-पुरुष की घनिष्टता स्पष्ट प्रतीयमान है। इतने घनिष्ट सम्बन्ध में परस्पर के अधिकारों के लिये संघर्ष होना उचित नहीं। संघर्ष व वैमनस्य वहां ही स्वाभाविक है जहां एकके स्वार्थ का दूसरे के स्वार्थ से विरोध रहे पर जहां एक के स्वार्थ से दूसरे के स्वार्थ का विरोध होना उभय के लिये अनिष्टकर है वहां परस्पर में मेलही स्वाभाविक है और विरोध अस्वभाविक।

आज अनुकरण प्रवृत्ति वाले लोग पाश्चात्य सभ्यता के मोह में पड़ कहने लगे हैं कि नारी को पुरुष के समान अधिकार देना चाहिये। पर वो इतना नहीं विचारते कि आर्य्य सभ्यता के केन्द्रस्थल इस भारत भूमि में नारी को कितना उच्चासन दिया गया था। आज हमलोग नारी मात्रको अपने (पुरुषों के) समान अधिकार देनेको आन्दोलन करते हैं पर भूल जाते हैं कि नारी का आसन हमारे से नीचा था या ऊंचा? अगर उच्च आसन से उन्हें उतार कर पुरुषों के समान आसन देते हैं तब तो हम उनको अवनति के रास्ते पर डालते हैं और यदि नीचे स्थान से उठाकर हम उन्हें अपने समान स्थान देते हैं तो अवश्य हम उन्हें उन्नति पथ-पर आरूढ़ करते हैं।

नारी में मातृत्व के रूपको देखने ही का भाव हमारे देशमें अधिक है! "मातृवत्पर दारेषु" यह नीति हमारे हृदय में बालकाल से बद्धमूल है। जिस नारी को मातृवत् विचारने का भाव हम इतने दिनों से धारण करते आये हैं उसे हम अपने ही समान आसन देना चाहें यह उसका अपमान नहीं तो क्या है? माता—स्नेहमयी, वात्सल्यमयी, पालनकर्त्री, कठिन संकट में त्राणकर्त्री, जननी रूपिणी है। माता

को हम भक्ति श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। जिनके असीम कष्ट सहन के फल से हम संसार में उत्पन्न हुए, लालित पालित हुए, उन्हें भक्ति के आसन से बराबरी के आसन में बैठाकर उनका अपमान कैसे करें! बाल्यकाल में जो हमारी लालन पालनकर्त्री शिक्षादात्री हैं, वयः प्राप्त होकर संसार में पड़ने से जो हमारी परामर्शदाता हैं उन्हें हम क्या उन्नत करेंगे, वे तो स्वयं उन्नत हैं। हमारा दृष्टि कोण बदल गया है इसीलिये हम मातृत्व के गौरव को भुलाकर मातृजाति को वैषयिक भोग वासना परितृप्तिका साधन मात्र अथवा अर्थोपार्जन व व्यापारादि में सहकर्मी करना चाहते हैं।

नारी आज कहां है? आज नारियां अशिक्षिता कुशिक्षिता कुसंस्कार पूर्ण और मूर्खों से भी अधम हैं—ऐसी नारियों को हम कैसे मातृ रूप में देखें! बहुत ठीक, ऐसा प्रश्न आज स्वाभाविक है। शिक्षा केवल वह ही शिक्षा नहीं है जिसे पाश्चात्य जातियों ने स्वीकार अथवा अनुमोदित किया हो। प्राकृत शिक्षा वह शिक्षा है जिससे हृदय की विशालता व आत्मिक उन्नति में सहायता मिलती हो। आज हमारी नारी जातिमें जो क्षमा, त्याग, संयम, तपस्या का बीज अन्तर्हित है वह पाश्चात्य शिक्षित कहलाने वाली नारियों के हृदय में सामान्य मात्र भी नहीं दिखाई देता। नारियां जो आज लाञ्छिता, पद-दलिता, अपढ़ हैं वह पुरुषों के सहचर्य का फल है। पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त या पाश्चात्य सभ्यता के मोह में डूबे हुए पुरुषने आज अनार्य भाव, आसुरी प्रकृति और भोग विलास के दृष्टान्त को सामने रख कन्या, भगिनी, सहधर्मिणी व माताओं को किंकर्त्तव्य विमूढ़ बना दिया है। पुरुष बीज रूप है और नारी क्षेत्ररूपिणी। जब बीजही विकृत होगया है तो क्षेत्र को दोष देने से क्या होगा? आत्मोन्नति के जो सब प्रकृष्ट साधन हैं पुरुष की अपेक्षा नारीमें उनका विकाश शीघ्र होता है। पुरुष का कर्त्तव्य है कि वो नारी मात्र को आदर्श माता बनाने के लिये सदा उत्सुक रहें। उन्हें विलास वैभव के मोह में डाल कर "विलासनी स्त्री" न बनाकर सन्तान प्रतिपालिका, जगज्जननी, शान्तिमूर्त्ति, त्याग संयम की धारिका आदर्श "माता" के रूपमें देखने की उत्सुकता रक्खें। आदर्श माता होनेसे ही वे भावी संतान को योग्य बनाने में सहायक होंगी। माता का आदर्श उच्च होनेसे सन्तान भी उच्च आदर्शमय होगी।

नारी तीन रूप में हमारे सामने आती है। कन्या, भार्या, व माता। जो आज कन्या है, कुछ कालान्तर में वह किसी की "भार्या" और सन्तानोत्पत्ति होने से 'माता' होगी। पर तीनों रूप में नारी में मातृत्व के सद्गुण भरे हुए रहते हैं। स्वाभाविक प्राकृतिक नियम से माता प्रत्येक सन्तान के लिये समान कष्ट सहिष्णु और उसकी उन्नति के लिए समान इच्छुक रहती हैं। निःस्वार्थ भावसे सेवा करना जिनका स्वभाव है वह कैसे सामान्य हो सकती है? हम पुरुषों में स्वार्थ भाव, कुटिलता भरी हुई है। पर नारी स्वभावतः कोमल, दयालु, निःस्वार्थ सेविका होती है। इन नियमों का व्यतिक्रम नहीं होता ऐसा नहीं कहते। परन्तु व्यतिक्रम कम और साधारणतः उन के सद्गुण का परिचय अधिक मिलता है। हमारी समझ में नारी जाति की शिक्षा दिक्षा और रहन सहन तीनों रूप में ऐसा होना चाहिये जिसमें मातृत्व का पूर्ण विकाश हो सके। हम उन्हें पुरुषके बराबर

समान अधिकार पाने से भी अधिक बहुमूल्य वस्तु देना चाहते हैं। हम उन्हें पुरुष के आदरणीय सम्माननीय मातृत्व के उच्च पद पर आसीन देखना चाहते हैं। इसलिये उचित है कि उन्हें धर्म परायणा, सत्यवादिनी, दयालु, निर्भीक और सरल हृदया बनाने के लिये बाल्य-काल से ही उन्हें उसी तरह की शिक्षा और भावनाओं में तल्लीन रक्खा जाय। माता जैसे बालकों को स्नेहपूर्ण हृदय से ताड़न करती हुई उन्हें सुमार्ग में परिचालित कर लालन पालन परिवर्द्धन करती है। वैसेही वह पुरुषों के दोष को दूर करती हुई उन्हें कुमार्ग से सु-मार्ग में लाती हुई दृढ़ प्रतिज्ञ, सत्यवादी, जितेन्द्रिय बनाने में सहायक हो सकती है। इसलिये नारी मात्रको सम्पूर्ण सादगी का जीवन बिताने में समर्थ होना चाहिये। विलासिता, उच्छृङ्खलता, इन्द्रिय पर-तन्त्रता आदि दुर्गुणों से उन्हें सदा दूर रहना चाहिये कठोर संयममय जीवन बिताने के लिये उन्हें बाल्या-वस्था से ही शिक्षा मिलनी चाहिये। जैन शास्त्र में जिन १६ सतियों का नाम प्रातःस्मरणीय बतला कर उनकी स्तुति की गई है। उनकी जीवनी का अगर एक एक का विश्लेषण किया जाय तो यह साफ जाहिर होता है कि ऐश्वर्य्य में लालित पालित हो कर भी दुःसमय में कठिन से कठिन आपदाओं में भी उन्होंने कितने धैर्य, कितने साहस, कितनी तेज-स्विता का परिचय दिया है।

मनुष्य मात्र की परीक्षा आपदों में ही होती है। जो कष्ट पड़ने पर भी अपने मार्ग पर दृढ़ रह सके वही सच्चा शूर वीर है। हमें आज ऐसी माताओं की आवश्यकता है जो अपनी सन्तान को वीर्यशाली धर्म प्रेमी, सत्यवादी, और कर्त्तव्यशील बना सके। माताका दृष्टान्त, माताका उपदेश बालक के हृदय पर जितना असर कर सकता है उतना दूसरे किसी का नहीं। पौराणिक अतीत काल की बात छोड़ दीजिये वर्त्तमान की ऐतिहासिक घटनाओं पर दृष्टि पात कीजिये। अधिकांश देश विख्यात कर्मवीरों के बाल्य जीवन में उनकी माताओं के सदुपदेश की गहरी छाप इनके हृदय पर पड़ी हुई कही जाती है। अतः माताएं योग्य होने से सन्तान भी योग्य होगी इसमें सन्देह नहीं हो सकता।

अब विचारने की बात यह है कि मातायें योग्य कैसे बनें? हमारी समझ में यदि पुरुष नारी जाति को सम्मान की दृष्टि से देखें—यदि उन्हें तुच्छ, नीच न समझ कर पूजनीया व मातृस्थानीया भाव से देखें तो सहज में ही नारीत्व का विकाश संभव पर हो। पर्दा प्रथा के मूलमें यही भाव है कि नारी दुर्बल है इसे किसी के सामने तक नहीं आने देना चाहिये। हरदम यही भाव नारी के मन में रहने के सबब वे भी समझती हैं कि हम हेय पदार्थ मात्र हैं, आत्मरक्षा में असमर्थ हैं और इसी मनोभाव से वे दुर्बल प्रकृतिकी बन जाती हैं। हमारी नारी जाति पर्दे में रहे चाहे बाहर उनमें आत्म रक्षा का भाव जागरूक रहना चाहिये। समस्त बाधा विघ्न और दुःख कष्ट को सामना करने का साहस होना चाहिये। नारी गृहिणी है, गृह की सारसंभाल रक्षणावेक्षण का भार उन परही है और इसलिए वे गृह स्वामिनी होकर रहें तो ठीक हो है परन्तु उन्हें देश संसार की समस्त बातों से अभिज्ञ रहना चाहिये तभी वे सच्ची गृहिणी होंगी। सांसारिक आय व्यय का ज्ञान जिस गृहिणी को नहीं वह कैसे अपनी गृहस्थली को सुखमय बना सकेगी? हरएक

गृहस्थ का जीवन सुख शान्तिमय बनने से समाज शान्तिमय, राष्ट्र शान्तिमय बनेगा। जहां घर २ में अभाव व अशान्ति है वहां समाज में, राष्ट्र में, देश में व विश्व में शान्ति कैसे होगी ?

नारी जाति के महत्व को ध्यान में रखने से, उनके प्रति हमारे कर्त्तव्य का सहज में ही निर्णय हो जाता है। राष्ट्र व देश की, समाज व घरकी भावी सन्तान को योग्य बनानेवाली प्राथमिक शिक्षा देने वाली नारी ही है। अतः नारी मात्र को सद् गुण मन्डिता, सुशीला, तप संयममयी बनाने का प्रयास करना चाहिये। नारी धर्म परायणा, सत्यवती, दृढ़ संकल्पा, दयामयी होगी तो भावी सन्तान उनके अनुकरण व उपदेश से समाज व देशकी आदर्श सन्तान होगी। नारी जाति को यदि हम विलासमयी, कष्ट सहने में असहिष्णु, त्याग विवर्जिता, स्वार्थपर पुरुष के साथ बात बात में विरोध खड़ा करनेवाली बनाएंगे तो घर में अशान्ति ही दीखेगी। नारी मात्र योग्य माता बने यही हमारा ध्येय होना चाहिये और सन्तान को वीर्यशाली, कर्मठ, धर्म पर आस्थावाली त्याग मूर्त्ति बनानेका भार जब माता पर है तब माता को इन सब गुणों से मंडिता बनाने का प्रयास ही हमारा प्रथम व प्रधान प्रयास होना चाहिये।

गृहशिल्प

[श्री भंवरलालजी बेद]

आपने अपने बड़े बूढ़ों से अपने समाज की स्त्रियों का चन्द वर्ष पहले का हाल अकसर सुना होगा। मेरा मतलब उस समय से है जब कि इस आधुनिक सभ्यता व शिल्प आदि का श्री गणेश नहीं हुआ था। उस समय अधिकांश लोग खेती ही करते थे। स्त्रियां पुरुषों के साथ २ खेती का काम करती थीं व फुरसत के समय में किसी न किसी प्रकार के शिल्प का अभ्यास किया करती थीं जैसे सूत कातना, कपड़ा बुनना, अपने परिवार के लिये पहनने का कपड़ा सिलाई करना इत्यादि। ये सब काम आजकल भी हमलोग 'गंवार' कही जानेवाली जातियों में देखते हैं।

ज्यों २ आधुनिक सभ्यता बढ़ी व भाग्यवश व्यापारादि में धन प्राप्ति होने लगी हमलोगों में ऐश आराम बढ़ने लगा। स्त्रियों में तो ऐश आराम ने अपना इतना अड्डा जमाया कि वो अपने शिल्प को भूल गईं, अपने कर्त्तव्य को भूल गईं यहां तक कि धनाढ्य घरों की स्त्रियों को तो उठना बैठना भी बड़ा कठिन मालुम होने लगा। खाया, पीया, इधर उधर की गप्पें लगाई, अच्छे २ वस्त्र आभूषण पहन लिए। बस इसी को अपने जीवन का ध्येय समझ लिया इसीसे अपने आपको सुखी मान लिया। शिल्प जैसे कार्य्य को घृणा की दृष्टि से देखने लगीं और इसका अभ्यास करने में अपनी बेइज्जती व छोटापन समझने लगीं। बड़ेही खेद का विषय है ! इज्जत ऐसी छोटी व साधारण चीज नहीं है कि अभ्यास करने से चली जाती है ? जो स्त्री शिल्प की जितनी ज्यादा जानकार होगी उसका उतनाही



श्रीमती दीवाली बाई मोहनलाल झवेरी



गं० स्व० केशर बहन



श्रीमती दीप कुमारी बांठिया

ज्यादा सम्मान होगा। सिर्फ अपनी ही जाति में नहीं बरन अन्यान्य जातियों व देशों के लोग भी प्रशंसा करेंगे। आजकल ही देखिये जो स्त्री अपने हाथकी कारीगरी में दक्ष है वह आदर्श मानी जाती है।

प्रत्येक गृहस्थ को शिल्प से सम्बन्ध रखनेवाली चीजों में कपड़ा ही बहुत जरूरी है। मेरे ख्याल से यहीं से शुरू करना अच्छा होगा। कुछ ही वर्षों पहले प्रत्येक घर में एक एक दो दो आवश्यकतानुसार चरखे रहा करते थे। स्त्रियों को जब अपने गृह कार्य से फुरसत मिलती तभी चरखा लिया और कताई शुरू कर दी। सूत, ऊन जिस चीज की जरूरत होती वही कात लेतीं। अपने घरमें बुनाई का इन्तजाम होता तो घरही में कपड़ा बिनवा लेतीं नहीं तो जुलाहे को थोड़ासा अनाज दिया और कपड़ा तैयार होकर आजाता, कपड़ा बिलकुल शुद्ध और मजबूत होता।

सूत कातने का आजकल तो और भी अच्छा ढङ्ग होगया। चरखे वगैरह भारी चीजों की कोई आवश्यकता नहीं, तकलियों द्वारा बड़े मजे में कताई का काम होता है। एक दिन में सैकड़ों गज सूत काता जा सकता है। जहां जी चाहे वहीं बैठकर कात लिया।

कपड़ा सादा भी बनता है व रंगीन। बेल, बूटेदार व चौकड़ी इत्यादि सभी प्रकार का घरही में बन सकता है। बुनाई के साथ २ भी रंग व बेल बूटे दिये जा सकते हैं या बेल बूटे पीछे भी बनाये जा सकते हैं। यह काम कपड़े के सिलाई करने के बाद भी हो सकता है और सूई व डोरे की सहायता से किया जाता है। किनारी व तारा सुलमें के काम से डोरे के बेल बूटे बनाना कई तरह से अच्छा है। खर्च भी कम लगता है व धूलाई कराने से भी कोई खराबी नहीं होती।

अब यह प्रश्न उठ सकता है कि मशीन से बना हुआ कपड़ा हाथ से बने कपड़े से बहुत साफ सुथरा और फैन्सी होता है। यह सत्य है लेकिन कुछ दिन तक बुनाई का लगातार अभ्यास करने से हाथ से भी उसी प्रकार साफ और फैन्सी कपड़ा बुना जा सकता है। सिर्फ अभ्यासही की जरूरत है, आपने शायद कई दफा सुना होगा कि हमारे हिन्दुस्थान में ढाके में इतने बढ़ियां २ कपड़े बुने जाते थे कि "मलमल" का पूरा थान वजन में कुछही तोले हुआ करता था। भला इससे बढ़ियां और आप क्या चाहते हैं ?

बुनाई के बाद सिलाई का नम्बर है। काट छांट करके सिलाई करना कोई भारी बात नहीं हैं केवल १५।२० दिन के अभ्यास से अच्छी तरह सीखा जासकता है। सिलाई के लिये आजकल तो मशीन होने से बहुत सुविधा है। जिन्हें मशीन का संयोग न मिले वे हाथ से भी कर सकती हैं। काट छांट करके झटसे सिलाई किया और कपड़ा पहनने केलिये तैयार होगया। किसी की खुशामद नहीं व किसी को अड़ीकना नहीं।

कसीदे का भी हमारी स्त्री समाजमें अच्छा प्रचलन है। औसत में प्रत्येक स्त्री के पीछे सकड़ों रुपये इसी काम के लिये लगते हैं। बीस या पचीस रुपये में एक कसीदे वाली मैशीन लाकर यदि यह काम अपने हाथों से ही कर लिया जाय तो कितना अच्छा हो।

किनारी और कलाबूत लगाये बिना तो कोई भी कपड़े की इज्जत नहीं। एक एक कपड़े पर सैकड़ों रुपये लागत की किनारी लगी रहती है। किनारी पुरानी होजाने पर भी उसका कुछ न कुछ मूल्य अवश्य रहता है लेकिन उसके बनवाने में जो सिलाई लगी उसका क्या होता है। सिलाई भी तो गजब की होती है, किनारी व तारे सुलमेके बेल बूटे कितने धीरे २ बनाये जाते हैं! उनमें तो सब हाथ ही का काम है। मशीन तो है ही नहीं कि चटपट काम होगया। कारीगर लोग अपनी मनमानी करते हैं। मालकी जितनी कीमत लगती है उतनी ही सिलाई लग जाती है। किनारी वगैरह के बेल बूटे बनाना कोई भारी बात नहीं है, यह काम बड़ी आसानी से किया जा सकता है। इसे हाथों से करने से कितनी भारी बचत हो सकती है।

अनेक प्रकार का सजावट का सामान भी अपने आप तैयार किया जा सकता है।

शिल्प का थोड़ा २ अभ्यास करते रहने से उसे नई नई वस्तुएं बनाना खुदही आजाता है। सिखाने वाले गुरु की जरूरत नहीं है काम में पड़ने से काम अपने आप सिखा देता है और धीरे २ उसमें आनन्द आने लगता है। इसका थोड़ा २ अभ्यास करते रहनैसे रुपये की बचत तो होती ही है लेकिन एक बड़ा भारी मानसिक फायदा भी होता है। ठाली बैठी स्त्रियां क्या करती हैं, पांच सात दस इकट्ठी होगई एक एक ने अपना किस्सा सुनाना शुरू किया। इधर उधर की सब बातें वहां होती हैं और उन पर छिद्रान्वेषण भी साथ २ होता रहता है। इस छिद्रान्वेषण का बड़ा बुरा असर होता है। बहुधा किसी बातका पक्षपात होकर मामला इतना बढ़ जाता है कि आपस में बोलना तक भी हमेशा के लिए बन्द होजाता है। कहां तो पहले प्रेम से बोलचाल होती थी और बात की बात में वह नष्ट होगयी। कितना नुकसान हुआ, जान बूझकर अपनी उन्नति के पथमें एक रोड़ा डाल लिया। बातकी बात में प्रेम जैसी वस्तु को भगा देना और और आपस में मनोमालिन्य पैदा कर लेना उनकी नीच प्रकृति या अज्ञानता का सबूत है।

ये सब बातें ठाले बैठेही को याद आती है। काम में लगी हुई को सिवाय काम की बात के और कोई फुरसत ही नहीं मिल सकती और थोड़ेही दिनों में आप देखेंगी कि आप में से एक बड़ा भारी अवगुण (जो कि उपर कहा जा चुका है) दूर हो जायगा और परस्पर सद्भाव को जागृति हो जायगी।

और एक फायदा सुनें। स्त्रियां अपनी बुद्धि की जितनी विचक्षणता गपाष्टकादि में दिखाती हैं व लगाती हैं, यदि वही शिल्प की तरफ मोड़ दी जावे तो उनके ज्ञान की कितनी वृद्धि होगी, शिल्प की कितनी उन्नति होगी ?

मै आशा करता हूं कि हमारा स्त्री समाज इन सब फायदों को सोचकर अपने समयको व्यर्थ न गंवाने की प्रतिज्ञा कर लेंगी और शिल्प का अध्ययन अवश्य करेंगी।

—:o:—

मणि-माला

श्रीमती हीरा कुमारी ओसवाल :—

आप बोथरा कुलोत्पन्न श्रीमान् बुधसिंह जी की सुकन्या हैं। आपका विवाह करीब १२ बारह वर्ष की अवस्था में हुआ था पर थोड़े दिनों के पश्चात ही अभाग्यवश आपके पतिदेव की मृत्यु होगई। आपका मन अध्ययन की तरफ बाल्यकाल से ही झुका हुआ था। कई वर्षों तक आप धार्मिक अध्ययन करती रहीं, उसके बाद आपने संस्कृत पढ़ना प्रारम्भ किया और अपनी विलक्षण बुद्धि के कारण थोड़ेही समय में काव्य की प्रथमा परीक्षा दी। उसमें आप सफल हुईं। तदुपरान्त आपने व्याकरण को प्रथमा और काव्य की मध्यमा दी। इसमें आपको अच्छी सफलता मिली। आपका अध्ययन यहीं तक समाप्त न हुआ, आपने व्याकरण तीर्थ पास किया। उपाधि की परीक्षाके बाद आपने दर्शन पढ़ना प्रारम्भ किया। सांख्य दर्शन की प्रथमा परीक्षा पास कर आपने इस साल वेदान्त दर्शन की प्रथमा तथा सांख्य की मध्यमा की परीक्षा दी। आप सांख्य की मध्यमा में प्रथम रहीं और वेदान्त में द्वितीय। अभी तक जितनी परीक्षाएं दी हैं उनका परिणाम बहुत ही सुन्दर हुआ, प्रायः प्रत्येक साल आपको पण्डित सभा की ओर से छात्रवृत्ति भी मिली हैं और अब भी मिलती है। आप प्रश्नपत्रों का उत्तर बङ्गलामें करती हैं पर आपको हिन्दी का भी अनुभव है। अङ्गरेजी भी थोड़ी २ जानती हैं। विशेष आप चित्र कला में भी विज्ञ हैं और सुन्दर चित्र बनाती हैं। इस समय आप सांख्य दर्शन तीर्थ की तैयारी कर रही हैं। हमें दुःख है कि आपका चित्र प्राप्त न हो सका।

श्रीमती किरण कुमारी दुगड़ :—

आप जियागञ्ज (मुर्शिदाबाद) के श्रीयुक्त धोनु लालजी दुगड़ की सुपुत्री हैं और स्वर्गीय इन्द्रचन्द जी नाहटा की दौहित्री। आप इस वर्ष कलकत्ता विश्व-विद्यालय की प्रवेशिका (Matric) परीक्षा में उत्तीर्ण हुई हैं। बंगाल की ओसवाल समाज में महिलाओं में उच्च शिक्षा प्राप्त करने का आपका ही प्रथम प्रयास है। अभी तक आप अविवाहिता हैं और आई० ए० में पढ़ना शुरु कर दिया है। आपको पढ़ाने में आपके पिता श्री धोनुलालजी ने जिस साहस का परिचय दिया है उसके लिये वे प्रशंसा के पात्र हैं। आपके मामे श्रीयुक्त पूरणचन्द जी ज्ञानचंद जी नाहटा ने भी आपको पढ़ाने में बहुत प्रोत्साहन दिया है। सामाजिक रूढ़ियों के भीतर रहते हुए भी श्रीमती ने जो उच्च शिक्षा की ओर ध्यान दिया है वह प्रशंसनीय है। हम आशा करते हैं कि आप उच्च शिक्षा प्राप्त कर मातृ जाति का गौरव बढ़ाते हुए समाज में नवीन आदर्श खड़ा करेंगी।

श्रीमती श्रीमती देवी रांका :—

आप समाज की वह महिला रत्न हैं जिनकी स्मृति मात्रसे उत्साह, उमंग, कुशलता और निर्भीकता की एक सजीव मूर्ति आंखों के सामने नाचने लगती है। १५।१६ वर्ष की कम उमर में इतनी लग्न, इतना धैर्य्य और इतना साहस बहुत कम में मिलता है। आपके चेहरे से सरलता और सादगी टपकती रहती है। गत आन्दोलन में तो आपने देश-सेवामें अपने प्राण ही घोल दिये थे। प्रातः-काल खूब शीघ्र उठ कर रात्रि में १० बजे तक काम करते रहना तो आपका नियम-सा था। पिकेटिङ्ग करने में आपकी कला और दृढ़ता के लिए उस समय सब कोई आश्चर्य्य-चकित थे। आप उज्जैन निवासी सेठ उमराव सिंह जी की सुपुत्री हैं परन्तु आपका लालन पालन आपकी चाची श्रीमती सज्जन कुमारी मुणोत के हाथों से ही हुआ है और आपके चरित्र निर्माण पर इन्हीं की छाप पड़ी है। आपका विवाह, कुछ महिनों पहिले श्रीमान् देश-भक्त पूनमचन्दजी रांका के भतीजे आसकरणजी रांका से हुआ है। आशीर्वाद देते समय एक सज्जन ने कहा था कि रांकाजी श्रीमती के रूप में कलकत्ता की अत्यन्त उत्साही और निर्भीक देश-सेविका को हमसे दूर ले जा रहे हैं। जिन्हें श्रीमती देवी को देखने का सौभाग्य मिला है वे देखेंगे कि इसमें कितना सत्य भरा है। गत आन्दोलन में इन्हीं गुणों के पुरस्कार स्वरूप आपको चार महिने की सजा हुई थी। हम आशा करते हैं कि आप अपने इस नवीन गार्हस्थिक जीवन में भी उसी धैर्य्य, साहस और लग्न को बनाया रख देश सेवाके कार्य्यमें तत्पर रहेंगी और अन्य बहनों को भी उत्साहित कर उन्नति पथ पर अग्रसर करेंगी।

श्रीमती दिवालीबाई मोहनलाल झवेरी

आपने चर्नीरोड की विदेशी वस्त्रोंकी दूकानों पर करीब दो महीनों तक उत्साह पूर्वक पिकेटिंग किया था। आप देश सेविका संघकी सदस्या हैं।

श्रीमती केशर कुंवर :—

आप श्री नथमल जी चोरड़िया की कनिष्ठ पुत्री हैं। आपका विवाह अजमेर में हुआ था पर दुर्भाग्य वश अठारह वर्ष की छोटी उम्र में ही पति वियोग का दारुण दुःख सहन करना पड़ा। जहां विधवा होने पर प्राचीन परिपाटी के अनुसार घर के एक कोने में बैठ वे अपना जीवन निरर्थक बिताती हैं वहां इन्होंने अपनी पिताजी की आज्ञा से अपना जीवन देश सेवा में लगाना ही निश्चित किया और उसी उद्देश्य से प्रेरित हो सर्व प्रथम शुद्ध खद्दरको धारण किया, पर्दा प्रथा को दूर किया और बादमें कुछ अर्से तक महात्मा जी के सत्याग्रह आश्रम में रहीं आश्रम से लौटने के बाद से आप सदाही राजपुताना प्रान्त में सभी राष्ट्रीय कार्यों में भाग लेती रहीं हैं। और बराबर ले रही हैं। आपका स्वाथ्य ठीक न होने के कारण आपका लेख इस अङ्क में नहीं आसका है।

श्रीमती सज्जन देवी मुणोत :—

आप "कलकत्ता नारी सत्याग्रह" समिति की मन्त्रिणी थीं। देश की आजादी की चिन्ता में आपने अपने परिवार और छोटे बच्चों की चिन्ता तक को छोड़ दिया था। आपके पति श्री सरदार सिंह जी मणोत एक देश-प्रेमी, मिलनसार और सुधारक व्यक्ति हैं, सज्जन देवी जी सादगी, सरलता और बलिदान के भावों में उनसे आगे ही हैं—पीछे नहीं। आपने पर्दा प्रथा को तिलाञ्जलि दे



सौभाग्यवती देश-सेविका श्रीमती देवी रांका

दी है। श्रीमती श्रीमती जैसी योग्य सेविका को सौंपना आपके ही हाथोंका काम है। श्रीमती देवीके विवाह में जिस सादगी और कम खर्चों में काम लिया गया था उसमें आपका कम हिस्सा न था। हम आशा करते हैं कि पाठक और पाठिकाएं आप के चरित्र से सादगी, सरलता, त्याग और देश-प्रेम का पाठ पढ़ेंगी।

श्रीमती दीप कुमारी बांठिया :—

आप श्रीयुक्त बर्धमान जी बांठिया की सुपुत्री हैं। आपकी अवस्था १३।१४ वर्ष की है। आपने अपनी उमर का ख्याल न कर गत आन्दोलन के आरम्भ से ही श्री नारी सत्याग्रह समिति द्वारा परिचालित सभी प्रदर्शनों में भाग लिया था। आपने विदेशी वस्त्र बहिष्कार के कार्य में भी निर्डरता और धैर्यके साथ अपना हिस्सा अदा किया। डण्डों का भय, पुलिस का भय यहां तक कि मरने का भय भी इस सुकुमार बालिका के हृदय में न था। आपकी वीरता का परिचय एक मित्र के पत्र से इस प्रकार मिलता है।

"रविवार को जो जुलुस निकला था उसमें चि० दीपा ने गजब किया। बिलकुल उसे ख्याल ही नहीं था कि उसके प्राण हैं या नहीं, बिलकुल बेखौफ थी घोड़े के सामने आकर घोड़ेको रोका। जहां पुलिस के डण्डे से पुरुषवर्ग भागता था वहां सिर्फ यह बच्ची ऐसी वीर भावना के साथ सामने आती थी कि मैं क्या और किस तरह प्रशंसा करूं। यह दृश्य हमेशा मेरी आंखों के सामने इसी प्रकार बना रहेगा, उस रोज तो दूसरी महिलाओं ने भी एक गजब की हिम्मत बताई"। आशा है समय पड़ने पर अन्य बहनें भी ऐसी ही वीरता और साहस का परिचय देंगी।

सौ० केशरबाई अमृतलाल झवेरी :—

सुलह होने के एक मास पहिले से आप विदेशी वस्त्रों की दूकानों पर पिकेटिङ्ग करती रहीं। आप बम्बई की देश-सेविका संघकी सदस्या और उत्साही कार्यकत्री हैं।

श्रमती चम्पाबाई रतनचंद गगलचन्द

आप भी देश सेविका संघ की सदस्या हैं। आपने भी बड़े उत्साह से तीन महीने तक विदेशी वस्त्र पर पिकेटिंग किया था। संघ की तरफ से जो काम करने का आदेश मिलता आप सहर्ष करतीं। मूलजी जेठाभाई मारकेट में पिकेटिंग करनेवाली बहनों में आप एक ग्रूप लीडर थीं।

सौ० सुन्दर बहन मणिलाल कोठारी-

आप भी देश सेविका संघ की सभ्या हैं। कौटुम्बिक झंझटों के अत्यधिक रहने पर भी आप निरन्तर तीन महिने तक पिकेटिंग में भाग लेती रहीं। आप मूलजी जेठाभाई मारकेट में ही धरना देती थीं।

सौ० माणेक बहन कन्हैयालाल मेहता

आपने पालणपुरी सत्याग्रही नारियों में सर्व प्रथम देश सेवा के लिये आत्म समर्पण किया था। आप सात वर्ष से भगिनी समाज में भाग लेरही हैं आप हिन्दुस्थानी सेवादल की भी उत्साही सदस्या हैं। जहां जहां काम पड़ता था माणिक बहन सबसे आगे रहती थीं। अन्त में विदेशी कपड़ोंकी दुकान पर पिकेटिंग करनेके लिए आपको साढ़े पांच मासकी जेल हुई। आप यरोड़ा जेलमें रक्खी गयी थीं। संधि होने के फल स्वरूप आप चार महीने जेल में रखकर ही रिहा कर दी गई।

झांसी की रानी

सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी।
बूढ़े भारत में भी फिर से आई नई जवानी थी॥
गुमी हुई आज़ादी की कीमत सबने पहिचानी थी।
दूर फिरङ्गी को करने की सबने मन में ठानी थी॥
चमक उठी सन सत्तावन में वह तलवार पुरानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी॥
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसीवाली रानी थी।
कानपुर के नाना के मुंह बोली बहन 'छबीली' थी॥
लक्ष्मीबाई नाम पिता की वह सन्तान अकेली थी।
नाना के संग पढ़ती थी वह नानाके संग खेली थी॥
बरछी ढाल कृपाण कटारी उसकी यही सहेली थी।
वीर शिवाजी की गाथायें उसको याद जबानी थीं॥बु०॥
लक्ष्मी थी या दुर्गा थी वह स्वयं वीरताकी अवतार।
देख मराठे पुलकित होते उसके तलवारों के वार॥
नकली युद्ध, व्यूह की रचना और खेलना खूब शिकार।
सैन्य घेरना दुर्ग तोड़ना ये थे उसके प्रिय खिलवार॥
महाराष्ट्र कुलदेवी उसकी भी अराध्य भवानी थी॥बु०॥
हुई वीरता की, वैभव के साथ सगाई झांसी में।
व्याह हुआ रानी बन आई लक्ष्मीबाई झांसी में॥
राजमहल में बजी बधाई खुशियां छाई झांसी में।
सुभट बुन्देलोंकी बिरुदावली सी वह आई झांसीमें॥
चित्रा ने अर्जुनको पाया शिव से मिली भवानी थी।बु०।

उदित हुआ सौभाग्य मुदित महलोंमें उजियाली छाई।
किन्तु काल-गति चुपके-चुपके काली घटा घेर लाई॥
तीर चलाने वाले कर में उसे चूड़ियां कब भाईं।
रानी विधवा हुई हाय विधि को भी दया नहीं आई॥
निःसन्तान मरे राजाजी रानी शोक समानी थी॥बु०॥
बुझा दीप झांसी का तब डलहौजी मन में हर्षाया।
राज्य हड़प करने का उसने यह अवसर अच्छा पाया॥
फौरन फौजें भेज दुर्गपर अपना झण्डा फहराया।
लावारिस का वारिस बन कर वृटिश राज्य झांसी आया॥
अश्रु-पूर्ण रानी ने देखा झांसी हुई बिरानी थी॥बु०॥
अनुनय विनय नहीं सुनता है विकट शासकों की माया।
व्यपारी बन दया चाहता था यह जब भारत आया॥
डलहौजी ने पैर पसारे अब तो पलट गई काया।
राजाओं नव्वावों को भी उसने पैरों ठुकराया॥
रानी दासी बनी, बनी यह दासी अब महारानी थी॥बु०॥
छिनी राजधानी देहलीकी लखनऊ छीना बातों बात।
कैद पेशवा था बिठौर में हुआ नागपुर का भी घात॥
उदयपुर, तन्जौर, सितारा, करनाटक की कौन बिसात।
जबकि सिंध पंजाब ब्रह्मपर अभी हुआ था वज्र निपात॥
बंगाले मदरास आदि की भी वही कहानी थी॥ बुन्देले॥
रानी रोईं रनवासों में बेगम गम से थी बेज़ार।
उनके गहने कपड़े बिकते थे कलकत्ते के बाजार॥

सरे आम नीलाम छापते थे अङ्गरेजों के अखबार ।
नागपुर के जेवर ले लो लखनऊ के लो नौलख हार ॥
यूं परदे की इज्जत परदेशी के हाथ बिकानी थी ॥ बु० ॥
कुटियोंमें थी विषम वेदना महलों में आहत अपमान ।
वीर सैनिकों के मनमें था अपने पुरुषों का अभिमान ॥
नाना धुन्दूपन्थ पेशवा जूटा रहा था सब सामान ।
बहिन छबीली ने रणचण्डी का करदिया प्रगट आह्वान ॥
हुआ यज्ञ प्रारंभ उन्हें तो सोई ज्योति जगानी थी ॥बु०॥
महलों ने दी आग झोंपडी ने ज्वाला सुलगाई थी ।
यह स्वतन्त्रता की चिनगारी अन्तर तम से आई थी ॥
झांसी चेती, दिल्ली चेती, लखनऊ लपटें छाईं थी ।
मेरठ, कानपुर, पटना ने भारी धूम मचाई थी ॥
जबलपुर, कोल्हापुर में भी कुछ हलचल उकसानी थी बु०
इस स्वन्त्रता महायज्ञ में कई वीरवर आये काम ।
नाना धुन्दूपंत तांतिया चतुर अजीमुल्ला सरनाम ॥
अहमदशाह मौलवी, ठाकुर कुंवर सिंह सैनिक अभिराम ।
भारत के इतिहास गगन में अमर रहेंगे जिनके नाम ॥
लेकिन आज जुर्म कहलाती उनकी जो कुर्बानी थी ॥बु०॥
इनकी गाथा छोड़ चलें हम झांसी के मैदानों में ।
जहां खडी हैं लक्ष्मीबाई मर्द बनी मर्दानों में ॥
लेफ्टिनेन्ट वौकर आ पहुंचा आगे बढ़ा जवानों में ।
रानी ने तलवार खींचली हुआ द्वन्द असमानों में ॥
जख्मी होकर वौकर भागा उसे अजब हैरानी थी ॥ बु० ॥
रानी बढ़ी काल्पी आई कर सौ मील निरन्तर पार ।
घोड़ा थककर गिरा भूमिपर गया स्वर्ग तत्काल सिधार ॥
यमुना तटपर अङ्गरेजों ने फिर खाई रानी से हार ।
विजयीरानी आगे चलदी किया ग्वालियर पर अधिकार ॥
अङ्गरेजों के मित्र सेंधिया ने छोड़ी रजधानी थी ॥ बु० ॥
विजय मिली, पर अंगरेजों की फिर सैना घिर आई थी ।
अबके जेनरल स्मिथ सन्मुख था उसने मुंहकी खाई थी ।
काना और मंदिरा सखियां रानी के संग आई थीं ।
युद्ध क्षेत्र में उन दोनों ने भारी मार मचाई थी ॥
पर पीछे ह्यूरोज आगया हाय घिरी अब रानी थी ॥बु०॥
तो भी रानी मार काट कर चलती बनी सैन्य के पार ।
किन्तु सामने नाला आया, था यह संकट विषम अपार ॥
घोड़ा अड़ा, नया घोड़ा था इतने में आगये सवार ।
रानी एक शत्रु बहुतेरे होने लगे वार पर वार ॥
घायल होकर गिरी सिंहनी उसे वीर गति पानी थी ॥बु०॥
रानी गई सिधार, चिता अब उसकी दिव्य सवारी थी ।
मिला तेजसे तेज तेजकी वह सच्ची अधिकारी थी ॥
अभी उम्र कुल २३ की थी मनुज नहीं अवतारी थी ।
हमको जीवित करने आई बन स्वतन्त्रता नारी थी ॥
दिखागई पथ सिखागई हमको जो सीख सिखानी थी बु०
जाओ रानी याद रखेंगे यह कृतज्ञ भारतवासी ।
यह तेरा बलिदान जगावेगा स्वतन्त्रता अविनाशी ॥
होवे चुप इतिहास लगे सच्चाई को चाहे फांसी ।
हो मदमाती विजय मिटादे गोलें से चाहे झांसी ॥
तेरा स्मारक तूही होगी तूही खुद अमर निशानी थी बु०

श्रीमती सुभद्रा देवी चौहान ।

—०—

सम्पादकीय टिप्पणियां

महिलांक

निरन्तर दो महिने के परिश्रम के बाद पाठक और पाठिकाओं को महिलांक भेंट करते समय अत्यन्त हर्ष होता है। महिलांक कैसा निकला है—यह समाज के लिए कहां तक उपयोगी है—इस में कौन कौन सी त्रुटियां रह गयी हैं—यह तो पाठक ही विचार करें, हमें तो केवल इतना ही कहना है कि ओ० न० की वर्त्तमान हालत देखते हुए यह विशेषांक उसका दुःसाहस ही नहीं—परन्तु समाज सेवा करने की उसकी भावनाओं का जीता जागता चित्र है। ओसवाल नवयुवक की आर्थिक स्थिति ने जहां तक सहायता पहुंचाई है पत्र को उपयोगी बनाने की चेष्टा की गई है—इस पर भी जो कमियां—जो त्रुटियां रह गई हैं उनके कारणों पर तो स्वयं कर्त्तव्यशील पाठकों और प्रत्येक समाज हितैषी सज्जन को विचारने की आवश्यकता है। यदि हमारा प्रयत्न कुछ भी सफल हुआ है तो उसके लिए बधाई के पात्र वे लेखक और लेखिकाएं हैं—जिन्हों ने अपनी बहुमूल्य रचनाएं प्रसन्नता के साथ ही नहीं भेजीं परन्तु महिलांक को सुन्दर से सुन्दर निकालने का उत्साह भी दिया। हमें दुःख तो इस बात का है कि स्थानाभाव के कारण हम कई सुन्दर २ लेख महिलांक में न दे सकीं—यहां तक कि ४।५ स्वीकृत लेख भी हमें रोक लेने पड़े। इसके लिए हम उन कृपालु लेखकों से क्षमा मांगती हैं और उन्हें विश्वास दिलाती हैं कि उन के लेख अगले अङ्कों में प्रकाशित कर दिये जायंगे। एक बात और जिस के लिए हमें सबसे अधिक दुःख है वह यह है कि महिलांक होने पर भी इस में महिलाओं के लेख प्रथम न दिये जा सके। इसका कारण यह है कि महिलाओं के प्रायः लेख अत्यन्त देर से मिले और लेट न हो जाय इस भयसे हमें महिलांक का काम पहिले ही शुरु कर देना पड़ा। आशा है पाठक और पाठिकाएं हमें इसके लिए भी क्षमा करेंगी।

आधा और आधा=पूरा

जिस तरह कालचक्र में रात और दिन, जीवन चक्र में सुख और दुःख तथा मोक्ष मार्ग में ज्ञान और क्रिया समानता पूर्वक रही हुई है—इन युगलों की स्थापना प्रकृति माता ने अनादि काल से की है, उसी तरह मानवी संसार में स्त्री और पुरुषकी जोड़ी स्थापित हुई है।

कालचक्र में रात और दिन का सरीखा महत्व है। दोनों की हमें सरीखी जरूरत है, जीवन चक्रमें विचार पूर्वक देखा जाय तो जिस तरह सुखकी उसी तरह दुःखकी भी जरूरत है और मोक्ष मन्दिर में जाने के लिये ज्ञान तथा क्रिया इन दोनों मित्रों की सरीखी आवश्यकता है यही बात मानवी संसार की है। संसार समुन्नत रहने के लिये स्त्री और पुरुष की सरीखी जरूरत है।

आज हम देखते हैं कि कोई भी सामाजिक या धार्मिक कार्य करना हो तो पुरुष कहते हैं कि यह हमारा ही काम है, स्त्रियों का नहीं, और स्त्रियां कहती हैं कि यह पुरुषों का फर्ज है हमारा नहीं। यही कारण है कि सुधार के लिये इतना प्रयत्न करते रहने पर भी पुरुषों को अभी तक सफलता नहीं मिली।

पुरुष जाति और नारी जाति दोनों को समझना चाहिये कि हमारे व्यक्तिगत कौटुम्बिक जीवन में स्त्रियों का कार्य गृह कर्त्तव्य, शिशु पालन वगैरह तथा पुरुषों का कार्य अर्थ उपार्जन करना आदि भलेही हो पर सार्वजनिक कार्य करने में यह बात लागू नहीं होती। क्योंकि जिस तरह पुरुष समाज का एक महत्वपूर्ण अंग है उसी तरह स्त्रियां भी हैं। समाज का ऋण दोनों पर बराबर है। समाज को जो सुख दुःख मिलता है वह क्या स्त्री और क्या पुरुष सभी को ही भोगना पड़ता है न कि एक वर्ग को ही। मानवी कर्त्तव्य की जिम्मेदारियां दोनों पर सरीखी—समान हैं। दोनों को यह कार्य—सार्वजनिक सेवा कार्य करना चाहिये। जबतक ऐसा न हो सकेगा तबतक उन्नति असम्भव है।

इसी विचार से हमारे तीर्थङ्कर जब मानवी संसार की आत्मिक तथा सार्वजनिक समुन्नति के के लिये चतुर्विध संघ स्थापित करते हैं तो उसमें स्त्री और पुरुष दोनों पर कार्य का बोझ सरीखा रख देते हैं। दोनों को इस संघ के मेम्बर-समासद-बनने के लिये आज्ञा दी है, इजाजत दी है। इस संघ में साधु, साध्वी और श्रावक श्राविका यह रहते हैं।

इस दृष्टि से देखा जाय तो पुरुषोंका यह घमण्ड, यह अभिमान कितना फिजूल है, कितना मिथ्या है कि "दुनियां का सब कार्य--क्या घर का क्या समाज का हम अकेलेही कर लेंगे।" इसी घमण्ड में फूल कर पुरुषों ने सार्वजनिक कार्य से स्त्रियों को दूर रक्खा और स्त्रियां भी आलस्य तथा अज्ञान के वशीभूत हो अपना सामाजिक कर्त्तव्य भूलकर खाली गृहकार्य को ही अपना जीवन ध्येय समझ बैठीं और इसका जो नतीजा मिलना था मिला। समाज के सब कार्य अधूरे रहने लगे, कोई भी पक्ष सम्पूर्ण रूप से उन्नत नहीं है। चारों ओर अवनति ही नजर आरही है।

अब यह अवस्था मिटानी ही पड़ेगी और इसलिये जिस तरह पुरुषों को उसी तरह स्त्रियों को भी सामाजिक सुधार के कार्य में हाथ बंटानाही पड़ेगा। महिलाओं का यह परम कर्त्तव्य है। अब आलस्य कर आत्मा की वञ्चना करनेसे काम नहीं चलेगा। प्रथम तो पुरुष जातिके लिए स्त्रियोंको उनके कर्त्तव्य का ज्ञान करा देने के लिये ज्ञानी बनाना, झूठे पद के बाहर निकलना परम आवश्यक है। क्योंकि तब तक वे नहीं जान सकतीं कि उनका सामाजिक कर्त्तव्य-मानवी कर्त्तव्य क्या है ?

इसलिये हमारे प्यारे बन्धुओं को चाहिये कि वे अपनी देवियों को पर्दे के बन्धन से मुक्त करें और जिस तरह वे कर्तव्य दक्ष तथा गृहिणी गुण से परिपूर्ण बनें ऐसी शिक्षा, ऐसी विद्या उन्हें दें।

इसी तरह हमारी बहनों को भी चाहिये कि वे सुशिक्षित बनने की कोशिश करके बाद में सामाजिक सेवा का कार्य निस्वार्थ तथा निर्भयता के साथ हाथ में लें। अब केवल घरही अपना कार्यक्षेत्र न समझ के समाज, राष्ट्र आदि का विशाल कार्य क्षेत्र बनावें। बाल विवाह, वृद्ध विवाह, मोसर

आदि बुरे कार्यों को रोकने का प्रयत्न जिस तरह पुरुषों को उसी तरह महिलाओं को भी करना चाहिये।

मतलब कि समाज सुधारमें जितना स्थान पुरुषों का है उतना ही स्थान स्त्रियों का भी है। जबतक दोनों वर्ग अपनी २ सामाजिक जिम्मेदारियों को न पहचानेंगे तथा उन जिम्मेदारियों को पूर्ण करने की कोशिश नहीं करेंगे तब तक सामाजिक सुधार अर्थात् समाजोत्थान होना टेढ़ी खीर है।

— o—

विचार क्रान्ति की आवश्यकता

आत्मा का भवसागर भ्रमण उसकी अपूर्णावस्था की निशानी है। तब मनुष्य मात्र अपूर्ण हुए इसलिये ऐसे अपूर्ण मस्तिष्क से निकले हुए कानून, नियम भी निर्दोष तथा सदाकाल पालने योग्य बनने सम्भव नहीं। अतः विचारक वर्ग कहता है कि समाज सुव्यवस्था के लिये बनाये गये नियमोंमें परिस्थिति अनुसार, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देखकर परिवर्तन करना अत्यन्त जरुरी है। यह फेर बदल करने का हक—अधिकार सुशिक्षित, समाज हितैषी तथा विचारक जनता को ही है।

जिस समाज में उपरोक्त विचार रखनेवालों की संख्या विशेषकर रहती है उस समाज की अवनति होना असम्भव है। इसके विपरीत जिस समाज में उपरोक्त विचार के प्रतिकूल विचार वाले अधिकांश होते हैं उसकी उन्नति होना भी उतना ही कठिन है।

यह बात स्पष्ट है कि आज ओसवाल समाज की हीनावस्था होने का कारण पुरानी प्रणाली के पुजारियों की, अन्ध भक्तों की, रुढ़िदासों की अधिकता होना ही है। जो नियम कुछ समय पहले समाजके हितवर्द्धक थे उन्हेंही वे समाजके चिरस्थायी कल्याण का मार्ग मान बैठे हैं। चाहे वे आज अहितकारी ही क्यों न हो। पूर्वजों के स्वार्थ तथा नजर चूकसे पतनके पथ में लेजाने वाला भी अगर कोई नियम बन गया हो तो उसका भी पालन हमें अन्धे की भांति भक्ति पूर्वक करना ही चाहिए यही विचार धारा हमारे समाज को नारकीय कुंए में गिरा रहो है।

कुछ सामाजिक नेताओं के अथक प्रयत्न के बाद अब हमारे कुछ नवयुवकों का यह निश्चय होगया कि चाहे कुछ भी हो हमें अब इस पतित अवस्था से ऊपर उठना है और इसके लिये उन्होंने यह साधन ढूंढ़ निकाला है कि जो अन्ध विश्वासी हैं प्रणाली के ही गुलाम हैं उन्हें स्वतन्त्र विचारक बनाना चाहिये अर्थात उनके विचारों में ही परिवर्तन करना चाहिए, क्रान्ति करनी चाहिये। बस, यह क्रान्ति—विचार क्रान्ति—होगई कि समाज-सुधार के कार्य में कोई कठिनता न रहेगी। वो स्वयं ही सुधारकों के दल में सामिल हो जांयगे।

स्त्री और पुरुष दोनों ही समाज के आधार होने से समाजोत्थान के लिये यह विचार जागृति नारी जाति में होनी उतनी ही जरुरी है जितनी कि पुरुष वर्ग में। जिस तरह रात्रि और दिन दोनों के सहचार्य बिना काल (समय) पुरुष का जीवनक्रम सुसंगत चलना असम्भव है उसी तरह इस सांसारिक जीवन का पथक्रमण स्त्री और पुरुष दोनों की मदद के बिना होना आकाश कुसुमवत है।

यही जानकर समाज सुधार के अग्रणी, नारी जाति तथा पुरुष जाति में विचार सुधार करने की कोशिश समानता पूर्वक करना अपना परम कर्तव्य समझते हैं। इस 'महिलांक" का जन्म भी इसी कर्तव्य पूर्ति के लिये है।

पुरुषों की भांति महिलाएं भी अत्यन्त अन्धभक्त तथा कायर दिल बनी हुई हैं। पुरुषों ने उनकी इस मूढ़ता का फायदा ले उन्हें शारीरिक तथा आत्मिक दोनों शक्तियों से रहितकर दुर्बल बना दिया है इसमें उनका स्वार्थ इतनाही है कि स्त्री, दासी, गुलाम, ताबेदार तरीके सदा पुरुष की सेवा में मशगुल रहे। उनकी आत्मिकता को अज्ञानता में तथा शारीरिक सम्पति को पर्दे ने सत्यानाश कर दिया।

आजकल हमें ऐसी हजारों मारवाड़ी महिलाएं दृष्टि गोचर होती हैं, जिनमें कोई तो क्षयरोग सरीखे भयानक रोगों की शिकार होरही हैं, तो कोई व्यर्थ मेद वृद्धिके कारण अपने शरीर सौन्दर्य तथा स्वास्थ्य स्फूर्ति चञ्चलता आदि गुमा बैठी हैं। किसी का मुख मण्डल तेजस्वी, उत्साही नहीं दीखता है; कारण यही है कि उन्हें चाहे जैसा शारीरिक परिश्रम करने का ज्ञान नहीं है, बाहर खुली हवा में सैर करनेकी इजाजत नहीं, चौबीसो घण्टा अपने घर की कुन्द हवा में ही रहना पड़ता है। आज कल बड़े घर की स्त्रियां अपना गृह कार्य भी हाथ से न कर नौकरानियां के हाथों से करवाती है। खान पान तो अत्यन्त तामसी तथा स्निग्ध रहता है, ऐसी हालत में यदि वे नाना भांति के रोगों की शिकार बन जावें तो आश्चर्य ही क्या? यही बात आत्मिक अवनति की है। शारीरिक शक्ति की वृद्धि करने के लिये जिस तरह स्वच्छ हवा, साफ पानी और शुद्ध अन्न की जरूरत है उसी तरह आत्मिक शक्तिको बढ़ाने के लिये ज्ञान, स्वतन्त्रता और शुद्ध भावना की अत्यन्त आवश्यकता है। परन्तु उनके दुर्दैव से इन तीनो बातों से इन्हें वञ्चित कर दिया। महिलाओं को सुशिक्षित, ज्ञानी तथा स्वतन्त्र विचारक बनाना पुरुषों की दृष्टि में महान पाप समझा गया है। स्त्रियां भी साक्षर बनने में महापाप समझने लगीं। कारण यही है कि वे प्रथमही अन्ध भक्त बना दी गई थीं। पुरुष चाहे फिर वह नारकीय दुर्गुणों से भरा हुआ क्यों न हो, उसकी आज्ञा चाहे कितनी ही तिरस्करणीय क्यों न हो उसे पालन करने में वे अपने जीवनकी इतिकर्तव्यता मानने लगीं। परिणाम जो होना था हुआ। वह अपने शारीरिक तथा मानसिक दोनों शक्तियों को नष्ट कर कंगाल बन गई, दुनियां के बाजार में आज उनकी कीमत कौड़ी मोल हो गई।

जिस समाज की मातृ-जाति इतनी हीन, दीन, दुर्बल है उसकी सन्तति भी यदि वैसी ही कायर, डरपोक, निस्तेज उत्पन्न हो तो आश्चर्य ही क्या? इस वास्ते हमें चाहिये कि मातृ-जाति की शारीरिक तथा मानसिक सुशक्तियां जिस तरह कायम रहें वह उपाय जल्दी करें—उन्हें वीरांगना, वीर माता बनावें।

अब यह उनकी शारीरिक तथा आत्मिक हालत तबही सुधर सकती है जब हरएक महिला हर रोज खुली हवा में घूमे, जिससे शरीर को श्रम होवे ऐसा व्यायाम या घरका काम करे; मनको सन्तोषित तथा स्वतन्त्र रक्खे और साक्षर ज्ञानी बनकर आत्मिक बल हासिल करे। पर यह बातें हमारी देवियां तबही मान्य करेंगी जब उनके सड़े हुए विचार दूर होकर नूतन सत्य विचार उनके मन में आवेंगे।

विचार क्रान्ति कैसे हो?

अब इसके लिये हमें प्रमुख साधन जो दिखाई देते हैं वे हैं लेखन तथा वक्तृत्व। हमारे मनमें जो सुधार के विचार हैं उन्हें हम समाचार पत्रों द्वारा

पुस्तकों द्वारा, व्याख्यान द्वारा समाज के सामने रखें जिससे स्त्रियां और पुरुष पढ़ें सुनें और धीरे २ उन के विचारों में परिवर्तन होता जाय।

हमारे हरएक सुशिक्षित बन्धु बहन अपने २ घरकी तथा अड़ोस पड़ोस की महिलाओं को इस महिलांक में जो जो लेख हैं वे सब पढ़कर सुनावें, हरएक बात ठीक तौर पर सीधी, सरल भाषा में समझा देवें यह प्रार्थना है। इसी तरह और भी कोई समाज सुधार के लेख, कहानियां हों वे हरदम सुनाते समझाते रहें जिससे आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों पर उनकी विचार जागृति होगी जरूर। ऐसी विचार जागृति जब स्त्री समाजमें फैल जायगी तब समाज को संसार का सिरताज बनने में कुछ देर न लगेगी।

हमारे पतन का कारण—

उस दिन जब मैं अपनी एक सखी के घर गयी थी तब उसके तोते का गीत मुझे सुनने को मिला था और आज भी इस गगन विहारी पक्षी का गायन अनायास ही सुनने को मिला। इसके गीत में और उसके गीत में अहो! कितना फरक है। उसकी आवाज में कोमलता थी जरूर, पर वह कायरता से भरी हुई थी। वाणी में तेज न था। उच्चार में आकर्षण न था। इस पक्षी का गीत कितना मीठा मोहक तथा आनन्द दायक है; वाणी कितनी मन-मोहक तथा लुभानेवाली है। यह क्यों? यदि दोनों ही पक्षी एकही कुलके एकही जाति के हैं तो फिर उनके गायन में, आवाज में समानता क्यों नहीं? बस मगज को विचार करने के लिये किसी एक विषयकी जरूरत थी ही; उसने तत्काल विचार करने की ठानी। बाएं हाथ की हथेली पर सिरका बोझ रख कर उसी वृक्षके नीचे एक शिला पर बैठ गई। जंगल का क्षेत्र और रात का काल होने से चौतरफ शान्ति का साम्राज्य था। शुक्लपक्ष की रात्रि होनेसे चंद्रमा की श्वेत किरणें भूमण्डल को प्रकाशित कर रही थीं। मेरा मन उसी विचार में मगन था कि एकाएक सामने से तीन चार पक्षी अपनी पङ्खों को फड़फड़ाते हुए आकाश में उड़ गये। तत्काल मेरे स्मृति पटल पर अपनी सखी के पक्षी की पिंजर-बद्धता का करुण चित्र फिर चित्रित होगया। हृदय ने मगज की विचारावली को विकसित करने के खातिर उत्तर दे दिया कि, चाहे वे पक्षी एक जात कुल के क्यों न हों पर उनकी परिस्थिति में अत्यन्त फर्क था। अपनी उस सखी का पक्षी बिचारा मानवी निष्ठुरता के वशीभूत हो एक पिञ्जरे में बन्दी था। उसके सारे गात्र परतन्त्रता से शिथिल होगये थे। उसकी वह वायु लहरियों पर क्रीड़ा, विहार करने की स्फूर्ति, लोक के किसी भी स्थान में रमण करने की स्वतन्त्र वृत्ति नष्ट होगई थी। शरीर की परतन्त्रता ने मन की स्वतन्त्र तेज वृत्ति को फीका कर दिया था। अर्थात उसकी देह बन्धन युक्त होने के कारणसे वाणी का तेज, मनका उत्साह, आवाज की प्रलरितता लुब्धी आकुञ्चित होगई थी। शरीर दुःखी होगया, मन भी कुन्द होगया। यही कारण था कि उसकी आवाज में कायरता, स्फूर्ति हीनता, मलूलता मौजूद थी। इस गगन विहारी पक्षी की आवाज में जो तेज था, स्फूर्ति थी, आनन्द था उसका कारण भी था कि वह बन्धन मुक्त था। उसके हृदय पर किसी भी प्रकार का खौफ किम्बा डर अंश मात्र भी न था। वह अपने जीवन को सुखरूप व्यतीत करने में समर्थ था।

अब देखिये कि उन पक्षियों के अन्दर जात और कुल का कोई भी फर्क न होते हुए भी आज इस बन्धन के जरिये इन दोनों भाइयों में कितना तफात अन्तर दिखाई देता है। गगन विहारी पक्षी के कुदरती गुण कायम रहने का कारण उसकी स्वतन्त्रता थी और उस पिञ्जरे के पक्षी के सर्व सद्‌गुण मट्टी मोल होजाने का कारण उसका बन्धन था, इसके विकाश का कारण स्वतन्त्रता थी तो उसके विनाश का कारण गुलामी।

विचार करते २ मनमें मनुष्य समाज के बारे में विशेषतः अपनी ओसवाल जाति के बारे में विचार आने लगे। दिल बोलने लगा कि देखो जो हालत पशुवर्ग की हमारे मनुष्य समाज ने की है वही अपने जाति बन्धु-मनुष्य समाज की भी की है।

एकही जननी के उदर से उत्पन्न हुए पुत्र और पुत्री होते हुए भी बन्धु वर्ग तो सुखी, उत्साही एवं उन्नत दीखता है और भगिनी वर्ग दुःखी लाचार, दयनीय दीखता है, कारण यही कि पुरुष समाज स्वतन्त्रता से चैन करते और बेधड़कता की भेरी बजाते रहे हैं। उनके कुदरती हक सबूत हैं; क्योंकि वे सबल हैं। स्त्री समाज निर्बल होने से पुरुष वर्ग ने उसको पिञ्जड़े में बन्द करके रखा है। उनके सब कुदरती हकों पर ताला जड़ दिया है। न रही ज्ञान क्षेत्रमें स्वाधीनता, और न रही कोई कार्य विवेक पूर्वक करने की स्वतन्त्र वृत्ति। इनके ऊपर पुरुषों ने कितनी बन्धन की बेड़ियां डालकर उन्हें परतन्त्र बनाकर कमजोर और बेकार बना रक्खा है। इसीसे उनके जीवन का तेज, आत्मा का बल सारा नष्ट होगया है और उस पिञ्जरबद्ध पक्षी की तरह यह महिला श्रेणी कायर, मूढ़ तथा संज्ञाहीन होगई हैं, अवनत होगई है। अगर ज्ञान दृष्टिसे देखा जाय तो इन दोनों में क्या भेद भाव नजर आता है? कुछ भी नहीं। फिर स्त्री जाति को पुरुषों ने अबला क्यों ठान रक्खा है? जो जो कार्य मर्द करनेके काबिल हैं वे ही आज महिला समाज भी कर सकती हैं किंतु उन्हें स्वाधीनता चाहिये। ज्ञान क्षेत्र में आम तौर से गमन करने की इजाजत चाहिये। जो ऐसी पवित्र स्वतन्त्रता मिल जाय तो देखिये स्त्रियां भी काम कर के जमाने को पूर्व कालके मुताबिक नया जन्म देकर उलट पुलट कर दिखाने में पीछे न रहेंगी।

यदि माताएं सुधर जांय तो हमारी जाति को आगे बढ़ने में देर न लगेगी।

जिस काल में पुरुषों से भी बढ़कर स्त्रियों को सुशिक्षित, स्वावलम्बी, ज्ञानी एवं स्वतन्त्र बनाने की आवश्यकता समाज के नेताओं को प्रतीत होती थी—उस काल की ओसवाल जाति का इतिहास यदि देखा जाय तो उसका चित्रपट हमें अत्यन्त उत्साह जनक, वीररस पूर्ण तथा आनन्दयुक्त मालुम पड़ेगा। सारे संसार में इसी ओसवाल जाति के जयजयकार के नारे गूंजते थे। चारों तरफ राजकीय, सामाजिक, धार्मिक तथा अन्य अन्य क्षेत्रों में इनकी तूती बोलती थी। यह समृद्धिवान, वैभवशाली एवं उदारचरित व्यक्तियों से भरपूर था। पर आज वही पतन के कादे में डूब गया है। ऋद्धि सिद्धि हीन होगया है। स्वार्थी, दरिद्र, कृपणों की भरमार होकर भामाशाह, कुमारपाल, तेजपाल आदि नरवीरों, दानशीलों की गिनती समूल नष्ट हो गई है। हमारी इतनी अवनति होने का कारण, विनाश का मूल, गुलामी और अज्ञानता आदि है।

यदि यह गुलामी नष्ट की जाय, हमारी देवियां बन्धन से—झूठे बन्धन से मुक्त होजांय. तथा प्रत्येक स्त्री पुरुष—सुशिक्षित स्त्री पुरुष नारी जाति की यह दासता, अज्ञानता नष्ट करने में तन, मन, धन से कटिबद्ध होजाय तो हमारी यही ओसवाल समाज जो कि आज समाजों में तिरस्कृत, अपमानित होरही है वह जल्दी ही संसार का सिरमौर हो जाय।

क्या इस मङ्गलमय आनन्दोत्सव को ओसवंश के आंगन में जल्दी लाने के लिये, रत्न प्रसविनी राजस्थान की मातृभूमि को वीराङ्गण को जगत भरमें चमकादेने के लिये और इस संसार में स्वर्ग सुख लाने के लिये हमारी सुशिक्षित श्रेणी जल्दी ही तैयार होवेगी?

—००—

प्रासंगिक विचार

ओसवाल समाज के लिये और सम्भवतः समस्त मारवाड़ी समाज के लिये एक विदूषी महिला द्वारा सम्पादित 'महिला विशेषांक' निस्सन्देह एक अपूर्वही बात है! ओसवाल समाज में भी विदूषियां हैं यह बात बहुत कम लोग जानते हैं। मगर "ओसवाल नवयुवक समिति" ने इस विशेषांक द्वारा उन्हें 'पर्दे' से बाहर लाकर समाज का बहुत उपकार किया है। यद्यपि इस प्रथम प्रयास में समिति की आवाज इनी गिनी महिलाओं तक ही पहुंच सकी है मगर समितिको विश्वास है कि थोड़े ही समय में विदूषियों के परिचय का क्षेत्र विस्तृत हो जायगा और हमारी माताएं और बहनें समाज के उत्थान में अपना उचित स्थान लेंगी।

* * *

अन्य समाज की अपेक्षा ओसवाल समाज की महिलाओं के पास उन्नति की सामग्री अधिक है! यद्यपि हम किसी भी जाति को नीच कहना उचित नहीं समझते हैं मगर यह हम को मानना पड़ेगा कि ३५ करोड़ भारतीयों के संस्कार न एक से हैं और न एक से हो सकते हैं। इस अपेक्षा से हमें कहना पड़ेगा कि ओसवाल जाति उच्च सस्कृत जातियों में से है।

* * *

हम समाज का सुधार चाहते हैं मगर हम उन सुधारकों में से नहीं हैं जो सदा 'हम सब से पतित होगये' ही चिल्लाते रहें। समाज को जिस प्रकार अपने दोष दिखाना आवश्यक है उससे कम आवश्यक उसके गुण दिखाना नहीं है। परन्तु झूठे अभिमान के लिये नहीं किन्तु इसलिये कि उन गुणोंको जान कर उनका विकाश करें।

* * *

अन्य समाजों की अपेक्षा ओसवाल समाज में महिलाओं का आदर अधिक है। कई समाजों से ओसवाल समाज की महिलाओं के प्रति बोली और व्यवहार उच्च है। महिलाएं भी यद्यपि बहुत सी निरक्षर ही हैं तथापि पूर्व संस्कारों के कारण प्रायः

सुशीला, गृह प्रबन्ध में दक्ष, व्यवहार कुशल, धर्म-परायण और लज्जावती होती है।



यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि आज सुशील बालक की अपेक्षा सुशील बालिका मिलना आसान है क्योंकि बालकों के संस्कार सुधारने की हमारी शिक्षा पद्धति में यथेष्ट सामग्री नहीं है मगर हमारी महिलाएं हमारी कन्याओं को अपनी देख रेख में बहुत कुछ सफल गृहणी बनाही देती हैं।



हम जब हमारी महिला समाज के गुणगान करते हैं तो इससे यह आशय नहीं है कि उनकी त्रुटियों से हम आंख मीचते हैं। उनमें यह जो गुण हैं वे पूर्व सम्पति की खुचरन मात्र है—जो दिन दिन कम होती जाती है। हम चाहते हैं कि हमारी महिलाएं उन गुणों की केवल रक्षाही नहीं करें किन्तु नये गुण उपार्जन करके तथा त्रुटियों को हटा करके अपना कर्त्तव्य पालन करें।



सबसे प्रथम आवश्यकता हमारी महिलाओं के लिये वस्त्राभूषणों का आडम्बर कम करने की है। हम यह मानते हैं कि सब देशों में स्त्रियों को श्रृङ्गार प्रेम होता है, यह उनके स्वभाव ही में है इस लिये हम उनसे यह आशा नहीं कर सकते कि वे सब अलङ्कारों का त्याग करके आर्यीका के वस्त्र धारण करलें और न हम आडम्बर मिटाने का यह अर्थ करते हैं कि जो पैसा गहनों इत्यादि में खर्च किया जाता है वह बढ़ियां सेण्ट पाउडर इत्यादि फैन्सी चीजों में अथवा बढ़ियां साड़ियों, मोजों, बूट इत्यादि में खर्च किया जाय। यह तो गढ़े में से निकल कर गहरे कूए में गिरना हुआ। हमारा आशय यह है कि हमारी महिलाओं के वस्त्राभूषणों की उचित अथवा अनुचित चाल विवेक और उपयोग द्वारा निश्चित की जानी चाहिये न कि सामयिक लहर अथवा देखादेखी से।



बीकानेर, जोधपुर आदि नगरों के पतले कपड़ों और भारी तथा बहुत सारे गहनों का समर्थन न विवेक करता है न बुद्धि। इस प्रकार के वस्त्राभूषण उच्च जीवन के बाधक, नीच प्रवृत्तियों के समर्थक और कषाय और क्लेशके बर्धक हैं इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।



सब से दुखदाई और विचित्र बात तो यह है कि हमारी महिलाएं धार्मिक अवसरों पर—मन्दिर और उपासरों में इस प्रकार के आडम्बर पूर्ण वस्त्राभूषण ही नहीं किन्तु विविध सेन्ट तक लगा कर जाती हैं। यहां तक भी देखा गया है कि रास्ते में बिगड़ने के भय से बढ़ियां कपड़े साथ लेजाती हैं और उपासरों में पहुंच कर उन बारीक बढ़ियां कपड़ों को पहनती हैं! कितनी विवेक शून्यता है, जहां हमारे धर्म का सिद्धान्त ही सादगी है वहां यह आडम्बर क्यों! हम भूलते हैं कि यह वस्त्राभूषण विषय वासना के पोषक और कर्म बन्धन के कारण हैं न कि निर्जरा के साधक।



हमारी महिलाओं को सफाई, स्वास्थ्य, बच्चों के पालन पोषण का तथा उनकी शिक्षा का ज्ञान, कराना भी बहुत आवश्यक है जिससे घरों में बिमारियां कम हों।



कन्याओं को मातृ भाषा द्वारा साहित्य, गणित, इतिहास, भूगोल इत्यादि का कम से कम साधारण ज्ञान अवश्य करा दिया जाना चाहिये जिससे उनके हृदय और बुद्धिका विकाश हो, चरित्र गठित हो और वे समाज का उपयोगी अंग बने।

× × ×

जैन धर्म के सिद्धान्तों का ज्ञान भी बहुत आवश्यक है जिससे अन्धभक्ति और अन्ध विश्वास मिट कर सच्चा ज्ञान और जीवित श्रद्धा उत्पन्न हो जिस से उनका जीवन उच्च, परोपकारी और शान्त बने।

+ + +

गम्भीरता क्या पुरुषों के लिये और क्या स्त्रियों के लिये, एक बहुतही उत्तम गुण है। बालिकाओं की शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिये जिससे उनमें यह गुण उत्पन्न हो। इसके विपरीत उच्छृङ्खलता पैदा करने वाली शिक्षासे उन्हें दूरही रखना चाहिए।

* * *

धर्म के नाम पर जिस प्रकार कई पाखण्ड संसार में होते हैं उसी ही प्रकार स्वतन्त्रता सम्मानाधिकार सुधार इत्यादि उच्च सिद्धान्तों के नाम पर भी कई पाखण्डों का प्रचार होरहा है। कन्याओं को शिक्षा द्वारा इस योग्य बनाना चाहिये जिससे वे नाज और तुस की, सोने और पीतल की, उच्च सिद्धान्तों और पाखण्डों की पहचान कर सकें।

* * *

पाठक पाठिकाओं का ध्यान हम विशेष कर इस अङ्क के महिलाओं के लेखों की ओर आकर्षित करना चाहते हैं। जिस प्रकार पैसा कमाकर लाने ही में पुरुष के कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं होजाती है उसी प्रकार घरके कारबार ही में महिलाओं के कर्तव्य की इतिश्री नहीं होती। महिलाएं सेवा, त्याग और परोपकार की मूर्तियां हैं, पुरुषों की अपेक्षा अधिक धर्म परायण, दृढ़ प्रतिज्ञ, आदर्शवादी हैं इसलिये उनकी उपदेश की योग्यता पुरुषों से अधिक है उनकी लेखनी का चमत्कार भी पुरुषों की अपेक्षा अधिक होना चाहिये। इसलिये क्या हमारे समाज की विदुषी महिलाएं अपने सन्देशों द्वारा समाज का उपकार नहीं करेंगी।

—•—

धन्यवाद।

श्रीमान् महालचन्दजी नाहटा सरदार शहर निवासी ने अपनी निजी प्रेरणा से ओ० न० समिति को रु० १२१) विशेष चन्दा दिलवाया है। इसके लिए हम श्रीमान् महालचन्द जी नाहटा और निम्नलिखित सज्जनों को, जिन्होंने विशेष सहायता दी है, हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

५१) श्री मोतीलाल जी नाहटा, सरदार शहर
२५) श्री इन्द्राजमल जी नाहटा ,,
१२) श्री आसकरण जी सूरजमल जी दफतरी, सरदार शहर
३४) श्री महालचन्द जी नाहटा, सरदार शहर

भंवर लाल पींचा,
मन्त्री।

आवश्यक सूचना

(१) बहुतसे ग्राहक स्थान परिवर्त्तन की सूचना हमें नहीं देते। हम उसी ठिकाने पर "ओसवाल नवयुवक" भेजते रहते हैं और वहां के अन्य सज्जन उसे हजम करते रहते हैं। इसलिये समस्त ग्राहकों को सूचित किया जाता है कि अपने स्थान परिवर्तन के साथही हमें इसकी सूचना दे दें जिससे नये ठिकाने से उन्हें अङ्क भेजा जा सके। ऐसा नहीं करने पर अगर उन्हें अङ्क नहीं मिला तो हम उसके जिम्मेवार नहीं हैं और उन्हें कोई भी अङ्क दुबारा नहीं भेजा जा सकता।

(२) जिस महीने की कापी आपके पड़ोसी को मिल गई है और आपको नहीं मिली है तो अपने यहां के डाकखाने से पूछ ताछ करके फिर इसकी सूचना हमें शीघ्र दें जिससे उचित कारवाई की जा सके। आगे वाले महीने की कापी छप जाने के बाद ऐसी सूचनाओं पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया जायगा।

(३) जिन महाशय को अपना पता बदलवाना हो अथवा अन्य किसी प्रकार की सूचना भेजनी हो वे सीधे नीचे लिखे ठिकाने से सूचना दें, किसी सदस्य द्वारा या मुंह जबानी कहने से त्रुटि होने की बहुत सम्भावना है।

(४) साथ में यह भी ध्यान रहे कि पता बदलाने वाले व अन्य सूचना भेजने वाले महाशय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखें। (पता बदलाते समय पुराना पता भी लिखना न भूलें) अन्यथा हम उनके उत्तरदायी न होंगे और ऐसी शिकायतों पर कोई विचार नहीं किया जायगा।

(५) जिन महाशय का वर्ष समाप्त होजाय, वे कृपया मनिआर्डरसे रुपया भेज दें अथवा वी० पी० आने से छुड़ालें और यदि किसी कारणवश आगे नहीं लेना हो तो कृपया पहिलेही सूचित करदें जिससे पत्र को डाकखर्च का घाटा न हो।

(६) "महिलांक" नमूने के लिये मुफ्त नहीं भेजा जायगा। उसके लिये ॥) के टिकट भेजने पड़ेंगे।

(७) "महिलांक" की कापियां हमने जरूरत से अधिक नहीं छपवायी है। जब कापियां समाप्त होते हुई दिखाई देगा उस हालत में नमूने के लिये नहीं भेजा जायगा। केवल नए ग्राहकों को ही ३) में भेजी जायगी।

(८) "महिलांक" यहां से पूरी सावधानी के साथ 'डिलेवर' किया जायगा। अगर इसपर भी किसी ग्राहक के पास न पहुंचे तो वह अपने यहां के डाकखाने में इसकी पूछ ताछ करे या डाकिये से पूछे। कारण देशों में डाकिए एक जगह बैठकर पत्र आदि बांटते हैं और उनसे हर कोई लेजाता है। इसके जिम्मेवार हम नहीं हैं। हां ग्राहकों को चिट्ठी आने पर हम केवल यह लिख सकते हैं कि उनको "ओसवाल-नवयुवक" किस तारीख को भेजा गया।

प्रबन्ध सम्बन्धी हरेक बातचीत नीचे लिखे ठिकाने से करें।

अवैतनिक प्रबन्धकर्त्ता,
ओसवाल-नवयुवक,
नं० २८ स्ट्राण्डरोड, कलकत्ता।

Regd. No. C. 1663



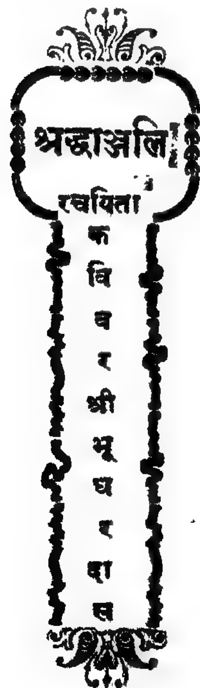
Printed by M. C. Ghosh at THE SHITALA PRESS 209, Cornwallis Street, Calcutta.
and Published by Sumermal Bothra, B. A. 28, Strand Road, Calcutta.

विषय-सूची



ओसवंश श्रीकार करण हित, करण विभूषित गुणागार से।
आयो ओसवाल नवयुवक, शोभित होकर प्रेमहार से॥

वर्ष ५ } कार्तिक १९८९ वीर सम्वत् २४५८ नवम्बर १९३२ ई० { संख्या ७



ध्यान-हुताशन में अरि-ईंधन, झोक दियौ रिपुरोक निवारी।
शोक हर्‌यो भविलोकनकौ वर, केवल-ज्ञान-मयूख उघारी॥
लोक अलोक विलोक भये शिव, जन्म-जरामृत पंक पखारी।
सिद्धन थोक बसैं शिवलोक, तिन्हैं पगधोक त्रिकाल हमारी॥

× × ×

दिढ़-कर्माचल-दलन पवि, भवि-सरोज-रविराय।
कंचन छवि कर जोर कवि, नमत वीर जिन पाय॥
रहौ दूर अन्तर की महिमा, बाहिज गुण वरनन बल कापै।
एक-हजार आठ लच्छन तन, तेज कोटि-रवि-किरनि उथापै॥
सुरपति सहस आँख अंजुलिसौं, रूपामृत पीवत नहिं धापै।
तुम बिन कौन समर्थ वीर जिन, जगसौं काढ़ि मोख मैं थापै॥



दीर्घ तपस्वी महावीर

—०*०—

[पंडित सुखलालजी, अहमदाबाद]

हाल में इस जमाने का ध्यान अहिंसा, संयम और तप के सिद्धान्तों की उपयोगिता की ओर जाने लगा है। अतएव इन सिद्धान्तों की असाधारण प्रतिष्ठा करने वाले श्रमण-नायक महावीर का संक्षिप्त जीवन-चरित्र, इनकी जयन्ती के उपवसर, विशेष उपयोगी है।

तत्कालीन परिस्थिति

आज से लगभग अढ़ाई हजार वर्ष पहले, जब भगवान महावीर का जन्म नहीं हुआ था, भारत की सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति ऐसी थी, कि जो एक विशिष्ट आदर्श की अपेक्षा रखती थी। देशमें ऐसे अनेक मठ थे, जहाँ आजकलके बाबो बाबाओं की तरह, झुण्ड-के-झुण्ड तापस रहते थे और तरह-तरह की तामसिक तपस्याएँ करते थे। अनेक ऐसे आश्रम थे जहाँ दुनिया दारी आदमी की तरह ममत्व रख कर आजकल के महन्तों के सदृश बड़े-बड़े धर्म-गुरु रहते थे। कितनी ही संस्थाएँ ऐसी थीं, जहाँ विद्या की अपेक्षा कर्म-काण्ड की, खास करके यज्ञ-याग की प्रधानता थी और उन कर्म-काण्डों में पशुओं का बलिदान धर्म माना जाता था। समाज में एक ऐसा बड़ा दल था, जो पूर्वजों के परिश्रम पूर्वक उपार्जित गुरुपदको अपने जन्मसिद्ध अधिकारके रूपमें स्थापित करता था। उस वर्ग में पवित्रता की, उच्चता की और विद्या की ऐसी कृत्रिम अस्मिता रूढ़ हो गई थी कि जिसके बदौलत वह दूसरे कितने ही लोगों को अपवित्र मानकर अपने से नीच समझता और उन्हें घृणा-योग्य समझता—उनकी छाया के स्पर्श तक को पाप मानता तथा ग्रन्थोंके अर्थहीन पाठमात्रमें पाण्डित्य मानकर दूसरों पर अपनी गुरु-सत्ता चलाता। शास्त्र और उसकी व्याख्याएँ विद्वद्गम्य भाषा में होती थीं। इससे जन—साधारण उस समय उन शास्त्रों से यथेष्ट लाभ न उठा पाते। स्त्रियों, शूद्रों और खास करके अति शूद्रों को किसी भी बात में आगे बढ़ने का पूरा मौका नहीं मिलता था। उनकी आध्यात्मिक महत्वाकांक्षाओं के जागृत होनेका, अथवा जागृत होनेके बाद उनके पुष्ट रखनेका कोई खास आलम्बन न था। पहले से प्रचलित निर्ग्रंठ (जैन) गुरुओं की परम्परा में भी बड़ी शिथिलता आ गयी थी। राजनैतिक स्थिति में किसी खास प्रकार की एकता न थी। गण सत्ताक अथवा राज-सत्ताक राज्य इधर-उधर बिखरे हुए थे। ये सब कलह में जितना अनुराग रखते थे उतना मेल-मिलाप में नहीं। हरएक दूसरे को कुचल कर अपने राज्यके विस्तार करनेका प्रयत्न करता था।

ऐसी परिस्थिति को देखकर उस कालके कितने ही विचारशील और दयालु व्यक्तियों का व्याकुल होना स्वाभाविक है। उस दशाको सुधारने की इच्छा कितने ही लोगों को होती है, वे सुधारने का प्रयत्न भी करते हैं, और ऐसे असाधारण प्रयत्न कर सकने वाले नेता की अपेक्षा रखते हैं। ऐसे समय में बुद्ध और महावीर जैसों का जन्म होता है।

महावीर के वर्धमान, विदेहदिन्न और श्रमण भगवान—ये तीन नाम और हैं। विदेहदिन्न नाम मातृपक्ष का सूचक है। वर्धमान नाम सबसे पहले पड़ा। त्यागी जीवन में उत्कट तपके कारण महावीर नामसे प्रसिद्ध हुए और उपदेशक जीवन में श्रमण भगवान कहलाये। इससे हम भी गृह जीवन, साधक जीवन और उपदेशक जीवन इन तीन भागों में क्रमशः वर्धमान, महावीर और श्रमण-भगवान इन तीन नामोंका प्रयोग करेंगे।

महावीर की जन्म-भूमि गंगा के दक्षिण, विदेह (वर्तमान विहार प्रान्त) है। वहाँ क्षत्रिय कुण्ड और कुण्डलपुर नामका एक कस्बा था। उसके ध्वंसावशेष लक्खी सराय जंकसन स्टेशन से कुछ मील पर अब भी दिखाई देते हैं। जैन लोग उसे, महावीर के जन्म-स्थान के कारण तीर्थ-भूमि मानते हैं।

जाति और वंश

महावीर की जाति क्षत्रिय थी और उनका वंश नाय (ज्ञात) नाम से प्रसिद्ध था। उनके पितामह, प्रपितामह आदिका कुछ वर्णन नहीं मिलता सिर्फ़ उनके पिता और चाचाका नाम मिलता है। पिता का नाम सिद्धार्थ था। उन्हें सिज्जंस (श्रेयांस्) जसंस (यशांस) भी कहते थे। चाचाका नाम सुपार्श्व था और माता के त्रिशला, विदेहदिन्ना और प्रियकारिणी ये तीन नाम मिलते हैं।

उनके एक बड़ा भाई और एक बड़ी बहन थी। बड़े भाई नन्दिवर्धन का विवाह उनके मामा वैशाली के प्रधान अधिपति चेटक की पुत्री के साथ हुआ था। बड़ी बहन सुनन्दना की शादी क्षत्रिय-कुण्ड में ही हुई थी। और उसे जमाली नामका एक पुत्र था। महावीर की प्रियदर्शना नामक पुत्री से उसका विवाह हुआ था। और आगे चल कर उसने अपनी पत्नी के सहित महावीर से दीक्षा भी ली थी। श्वेताम्बरों की धारणा के अनुसार महावीर ने विवाह किया था। उन्हें एक ही पत्नी थी और उसका नाम था यशोदा। उनके सिर्फ़ एक ही कन्या होनेका उल्लेख मिलता है।

ज्ञात क्षत्रिय सिद्धार्थ को राजकीय सत्ता साधारण ही होगी परन्तु उनका वैभव और कुलीनता ऊँचे दरजे के होने चाहिएँ। क्योंकि उसके बिना वैशाली के प्रधान अधिपति चेटक की बहन के साथ वैवाहिक सम्बंध होना संभवनीय नहीं था।

गृह जीवन

वर्धमान का बाल्यकाल बहुतांश में क्रीड़ाओं में व्यतीत होता है। पर जब वह अपनी उम्र में आता है, और विवाह-काल प्राप्त होता है तब वह वैवाहिक जीवन की ओर अरुचि प्रकट करता है। इससे तथा भावी तीव्र वैराग्यमय जीवन से यह स्पष्ट दिखाई देता है कि उनके हृदय में त्याग के बीज जन्मसिद्ध थे। उनके माता-पिता पार्श्वनाथ की शिष्य परंपरा के अनुयायी थे। यह परंपरा निर्ग्रंथ के नाम से प्रसिद्ध थी और तप की भावना प्रबल थी। वर्धमान् का अपने कुल-धर्म के परिचय

में आना और उस धर्म के आदर्शों का उसके सुसंस्कृत मनको आकर्षित करना सर्वथा सम्भवनीय है। एक ओर जन्मसिद्ध वैराग्य के बीज और दूसरी ओर कुल-धर्म के त्याग और तपस्या के आदर्शों का प्रभाव—इन दोनों कारणों से योग्य अवस्था को प्राप्त होते ही वर्धमान ने अपने जीवन का ध्येय कुछ तो निश्चित किया होगा। और वह ध्येय भी कौन-सा? धार्मिक जीवन। इस कारण यदि विवाह की ओर अरुची हुई हो तो वह सहजिक है। फिर भी जब माता-पिता विवाह के लिये बहुत आग्रह करते हैं तब वर्धमान अपना निश्चय शिथिल कर देता है और केवल माता-पिता के चित को सन्तोष देने के लिये वैवाहिक सम्बन्ध को स्वीकार कर लेता है। इस घटना से, तथा बड़े भाई को प्रसन्न रखने के लिये गृहवास को बढ़ा देने की घटना से वर्धमान के स्वभाव के दो तत्व स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं- एक तो बड़े-बूढ़ों के प्रति बहुमान और दूसरे मौके को देख कर मूल सिद्धान्त में बाधा न पड़ने देते हुए, समझौता कर लेने का औदार्य्य। यह दूसरा तत्व साधक और उपदेशक जीवन में किस प्रकार काम करता है, यह हम आगे चलकर देखेंगे। जब माता-पिता का स्वर्गवास हुआ तब वर्धमान की उम्र २८ वर्ष की थी। विवाह के समय की अवस्था का उल्लेख नहीं मिलता। माता-पिता के स्वर्गवास के बाद वर्धमान ने गृह—त्याग की पूरी तय्यारी कर ली, परन्तु इससे ज्येष्ठ बन्धु को कष्ट होते देख गृह-जीवन को दो वर्ष और बढ़ा दिया। परन्तु इसलिये कि त्याग का निश्चय कायम रहे, गृहवासी होते हुए भी आपने दो वर्ष तक, त्यागियों के लिये उचित, जीवन व्यतीत किया।

साधक जीवन

तीस वर्ष का तरुण क्षत्रिय-पुत्र वर्धमान जब गृह-त्याग करता है तब उसका आन्तर और बाह्य दोनों जीवन एकदम बदल जाते हैं। वह सुकुमार राजपुत्र अपने हाथों केश का लुंचन करता है और तमाम वैभवों को छोड़कर एकाकी जीवन और लघुता स्वीकार करता है। उसके साथ ही यावत् जीवन सामायिक चरित्र (आजीवन सम भाव से रहने का नियम) अंगीकार करता है और इस नियम को सोलहों आने पालन करने के लिये भीषण प्रतिज्ञा करता है।

"चाहे दैविक, मानुषिक अथवा तिर्यक जातीय, किसी भी प्रकार की विघ्न बाधाएँ क्यों न आवें, मैं सबको विना किसी दूसरे की मदद लिये, समभाव से सहन करूँगा।"

इस प्रतिज्ञा से कुमार के वीरत्व और उसके परिपूर्ण निर्वाह से उसके महान वीरत्व का परिचय मिलता है। इसी से वह साधक जीवन में 'महावीर' की ख्याति को प्राप्त करता है। महावीर के साधना—विषयक आचाराङ्ग के प्राचीन और प्रामाणिक वर्णन से, उनके जीवन की भिन्न २ घटनाओं से तथा अब तक उनके नाम से प्रचलित सम्प्रदाय की विशेषता से, यह जानना कठिन नहीं है कि महावीर को किस तत्व की साधना करनी थी, और उस साधना के लिये उन्हों ने मुख्यतः क्या साधन पसन्द किये थे।

महावीर अहिंसा-तत्व की साधना करना चाहते थे। उसके लिये संयम और तप ये दो साधन उन्हों ने पसन्द किये। उन्हों ने यह सोचा कि संसार में जो बलवान होता है वह निर्बल के सुख और साधन, एक

डाकू की तरह छीन लेता है। यह अपहरण करने की वृत्ति अपने माने हुए सुख के राग से, खास करके कायिक सुख शीलता से पैदा होती है।

यह वृत्ति ही ऐसी है कि इससे शान्ति और सम-भाव का वायु मण्डल कलुषित हुए बिना नहीं रहता। हर शख्स को अपना सुख और सुविधा इतने कीमती मालूम होते हैं कि उसकी दृष्टि में दूसरे अनेक जीव धारियों की सुविधा का कुछ मूल्य ही नहीं होता। इसलिये हर शख्स यह साबित करने की कोशिश करता कि जीव जीव का भक्षण है "जीवो जीवस्य जीवनम्"। निर्बल को बलवान का पोषण करके अपनी उपयोगिता सिद्ध करनी चाहिये। सुख के राग से ही बलवान लोग निर्बल प्राणियों के जीवन की आहुति देकर उसके द्वारा अपने परलोक का उत्कृष्ट मार्ग तैयार करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार सुख की मिथ्या भावना और संकुचित वृत्ति के ही बदौलत व्यक्तियों और समूहों में अन्तर बढ़ता है, शत्रुता की नींव पड़ती है और इसके फल-स्वरूप निर्बल बलवान होकर बदला लेने का निश्चय तथा प्रयत्न करते हैं और बदला लेते भी हैं। इस तरह हिंसा और प्रति हिंसा का ऐसा मलिन वायु मण्डल तैयार हो जाता है कि लोग संसार के स्वर्ग को खुद ही नरक बना देते हैं। हिंसा के इस भयानक स्वरूप के विचार से महावीर ने अहिंसा-तत्व में ही समस्त धर्मों का, समस्त कर्त्तव्यों का, प्राणिमात्र की शान्ति का मूल देखा। उन्हें स्पष्टरूप से दिखाई दिया कि यदि अहिंसा-तत्व सिद्ध किया जा सके तो ही जगत में सच्ची शान्ति फैलाई जा सकती है। यह सोचकर उन्हों ने कायिक सुख की ममता से पैदा होने वाली हिंसा और भाव को रोकने के लिए तप शुरू किया और अधीरज जैसे मानसिक दोष से होने वाली हिंसा को रोकने के लिये संयम का अवलंबन किया। तपका मुख्य सम्बन्ध देह-दमन के साथ होने के कारण उनके तप को चार मुख्य भागों में बाँट सकते हैं। (१) नग्नत्व (२) जीवजन्तु तथा अनार्यों के द्वारा होने वाला परिषह (विघ्न-बाधा) (३) उपवास और अल्प भोजन और (४) शरीर सत्कार का त्याग।

संयम का सम्बन्ध मुख्यतः मन और वचन के साथ होने के कारण उसमें ध्यान और मौन का समावेश होता है। महावीर के समस्त साधक जीवन में संयम और तप यही दो बातें मुख्य हैं और उन्हें सिद्ध करने के लिये उन्होंने कोई १३ वर्षों तक जो प्रयत्न किया और उसमें जिस तत्परता, और अप्रमाद का परिचय दिया, वैसा आज तक के तपस्या के इतिहास में किसी व्यक्ति ने दिया नहीं दिखाई देता। कितने ही लोग महावीर के तप को देह-दुःख और देह-दमन कह कर उसकी अवमानना करते हैं; परन्तु यदि वे सत्य और न्याय के लिये महावीर के जीवन पर गहरा विचार करेंगे तो यह मालूम हुए बिना न रहेगा कि महावीर का तप शुष्क देह-दमन नहीं था। वे संयम और तप दोनों पर समान-रूप से जोर देते थे। वे जानते थे कि यदि तप के अभाव से सहनशीलता कम हुई तो दूसरों की सुख-सुविधा घटाने की लालसा बढ़ेगी और उसका फल यह होगा कि संयम न रह पावेगा। इसी प्रकार संयम के अभाव में कोरा तप भी, पराधीन प्राणी पर अनिच्छा पूर्वक आ पड़े देह-कष्ट की तरह निरर्थक है।

ज्यों-ज्यों संयम और तप की उत्कटता से महावीर अहिंसा-तत्व के अधिकाधिक नजदीक पहुँचते गये, त्यों-त्यों उनकी गम्भीर शान्ति बढ़ने लगी और उसका प्रभाव आस-पास के लोगों पर अपने आप होने लगा। मानस शास्त्र के नियम के अनुसार एक व्यक्ति के अन्दर बलवान होने वाली वृत्तिका प्रभाव आस-पास के लोगों पर जान-अनजान में हुए बिना नहीं रहता!

इस साधक जीवन में एक उल्लेख योग्य ऐतिहासिक घटना घटती है। वह यह कि महावीर की साधना के साथ गोशालक नामक एक व्यक्ति कोई छः साल व्यतीत करता है और फिर उनसे अलग हो जाता है। आगे चल कर यह उनका प्रतिपक्षी होता है और आजीवक सम्प्रदाय का नायक बनता है। आज यह कहना कठिन है कि दोनों किस हेतु से साथ हुए और क्यों अलग हुए। पर एक प्रसिद्ध आजीवक सम्प्रदाय के नायक और तपस्वी महावीर का दीर्घ काल तक साहचर्य सत्य शोधकों के लिये अर्थ सूचक अवश्य है। कोई १२ वर्ष की कठोर और दीर्घ साधना के पश्चात् जब उन्हें अपने अहिंसा-तत्व के सिद्ध हो जाने की पूर्ण प्रतीति हुई तब वे अपना जीवनक्रम बदलते हैं। अहिंसा का सार्वभौम धर्म उस दीर्घ तपस्वी में इतना परिप्लुत हो गया था कि अब उनके सार्वजनिक जीवन से कितनी ही भव्य आत्माओं के जीवन में परिवर्तन हो जाने की पूर्ण सम्भावना थी। मगध और विदेह का पूर्वकालीन मलिन वायु-मण्डल धीरे-धीरे शुद्ध होने लगा था। क्योंकि उसमें उस समय अनेक तपस्वी और विचारक लोक-हित की आकांक्षा से प्रकाश में आने लगे थे। इसी समय दीर्घ तपस्वी भी प्रकाश में आये।

उपदेशक जीवन

श्रमण भगवान का ४३ से ७२ वर्ष तक का यह दीर्घ जीवन सार्वजनिक सेवा में व्यतीत होता है। इस समय में उनके किये मुख्य कामों की नामावली इस प्रकार है -

(क) जाति-पाँति का जरा भी भेद रक्खे बिना हर एक के लिये—शूद्रों और अति शूद्रों के लिये भी भिक्षु-पद और गुरु-पद का रास्ता खुला करना। श्रेष्ठता का आधार जन्म नहीं बल्कि गुण, और गुणों में भी पवित्र जीवन की महत्ता स्थापित करना।

(ख) पुरुषों की तरह स्त्रियों के विकाश के लिये भी पूरी स्वतन्त्रता और विद्या तथा आचार दोनों में स्त्रियों की भी पूर्ण योग्यता को मानना—उनके लिये गुरु-पदका आध्यात्मिक मार्ग खोल देना।

(ग) लोक भाषा में तत्व ज्ञान और आचार का उपदेश करके केवल विद्वद्गम्य संस्कृत-भाषा का मोह घटाना और योग्य अधिकारी के लिये ज्ञान-प्राप्ति में भाषा का अन्तराय दूर करना।

(घ) ऐहिक और पारलौकिक सुख के लिये होने वाले याग आदि कर्मकाण्डों की अपेक्षा संयम तथा तपस्या के स्वावलम्बी तथा पुरुषार्थ-प्रधान मार्ग की महत्ता स्थापित करना और अहिंसा-धर्म में प्रीति उत्पन्न करना।

(ङ) त्याग और तपस्या के नाम पर रूढ़ शिथिलाचार के स्थान पर सच्चे त्याग और सच्ची तपस्या की प्रतिष्ठा करके भोग की जगह योग के महत्व का वायु मण्डल चारों ओर उत्पन्न करना।

श्रमण भगवान के शिष्यों के त्यागी और गृहस्थ ये दो भाग थे। उनके त्यागी भिक्षुक शिष्य १४,००० और भिक्षुकी शिष्याएँ ३६,००० होनेका उल्लेख है। इसके अलावा लाखों की संख्या में गृहस्थ शिष्यों के होने का भी उल्लेख है। त्यागी और गृहस्थ इन दोनों वर्गोंमें चारों वर्णों के स्त्री-पुरुष सम्मिलित थे। इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधर ब्राह्मण थे। उदायी, मेघकुमार आदि अनेक क्षत्रिय भी भगवान के शिष्य हुए थे। शालिभद्र इत्यादि वैश्य और मेतारज तथा हरिकेशी जैसे अतिशूद्र भी भगवान को पवित्र दीक्षा का पालन कर उच्च पथ को पहुँचे। साध्वियों में चन्दनबाला क्षत्रिय-पुत्री थी, देवानन्दा ब्राह्मणी थी। गृहस्थ अनुयायियों में उनके मामा वैशालीपति चेटक, राजगृहपति श्रेणिक (बिंबिसार) और उनका पुत्र कोणिक (अजात शत्रु) आदि उनके क्षत्रिय भूपति थे। आनन्द, कामदेव, आदि प्रधान दस उपासकों में शकडाल कुम्हार जाति का था। और शेष ६ वैश्य अर्थात् सूद, खेती और पशुपालन पर निर्वाह करने वाले थे। ढंक कुम्हार होते हुए भी भगवान का समझदार और दृढ़ उपासक था। खन्धक, अम्बड आदि अनेक परिव्राजक, सोमिल आदि अनेक विद्वान ब्राह्मणों ने श्रमण भगवान का अनुसरण किया था। गृहस्थ उपासिकाओं में रेवती, सुलसा और जयन्ति के नाम प्रख्यात हैं। जयन्ति जैसी भक्त थी वैसी ही विदुषी भी थी। आजादी के साथ भगवान से प्रश्न करती और सुनती। भगवान ने उस समय स्त्रियों की योग्यता किस प्रकार आँकी उसका यह उदाहरण है। समकालीन धर्म प्रवर्तकों में आज-कल कुछ थोड़े ही लोगों के नाम मिलते हैं—तथागत गोतम बुद्ध, पूर्ण कश्यप, संजय बेलट्ठिपुत्त, पकुधकच्चायन, अजीतकेस कंबलि, और मंखलि गोशालक।

समझौता

श्रमण भगवान के पूर्व से ही जैन-सम्प्रदाय चला आ रहा था, जो निर्ग्रंथ के नाम से विशेष प्रसिद्ध था। उस समय प्रधान निर्ग्रंथ केशीकुमार आदि थे और वे सब अपने को पार्श्वनाथ की परंपरा के अनुयायी मानते थे। वे लोग कपड़े पहनते थे और सो भी तरह-तरह के रंग के। इसी प्रकार वे चातुर्याम धर्म अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह, इन चार महाव्रतों का पालन करते थे। श्रमण—भगवान ने इस परंपरा के खिलाफ अपने व्यवहार से दो बातें नई प्रचलित कीं—एक अचेल धर्म (नग्नत्व), दूसरी ब्रह्मचर्य्य (स्त्री-विरमण)। पहले की परंपरा में वस्त्र और स्त्री के सम्बन्ध में जरूर शिथिलता आ गई होगी। और उसे दूर करने के लिये अचेल धर्म और स्त्री विरमण को निर्ग्रन्थत्व में स्थान दिया। और अपरिग्रह व्रत से स्त्री विरमण को अलग करके चार के बदले पाँच महाव्रतों के पालन करने का नियम बनाया। पार्श्वनाथ की परम्परा के सुयोग्य नेताओं ने इस संशोधन को स्वीकृत किया और प्राचीन तथा नवीन दोनों भिक्षुओं का यह मत है कि इस समझौते में वस्त्र रखने तथा न रखने का जो मतभेद शान्त हुआ था वही आगे चल कर फिर पक्षपात का रूप धारण करके श्वेताम्बर, दिगम्बर सम्प्रदाय के रूप में धधक उठा, हालांकि सूक्ष्म दृष्टि से देखने वाले विद्वानों को श्वेताम्बर दिगम्बर में कोई महत्व पूर्ण भेद नहीं जान पड़ता। परन्तु आज कल तो सम्प्रदाय—

भेद की अस्मिता ने दोनों शाखाओं में नाशकारिणी दीवार खड़ी करदी है। इतना ही नहीं बल्कि थोड़े-थोड़े अभिनिवेश के कारण आज दूसरे भी अनेक छोटे-बड़े भेद भगवान के अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) के नीचे खड़े हो गये हैं।

रहस्य

श्रमण भगवान के समग्र जीवन और उपदेश का संक्षिप्त रहस्य दो बातों में आ जाता है। आचार में पूर्ण अहिंसा और तत्व ज्ञान में अनेकान्त। उनके सम्प्रदाय के आचार को और शास्त्र के विचार को इन दो तत्वों का ही भाष्य समझिये। वर्तमान काल के प्रसिद्ध विद्वानों का यही निष्पक्ष मत है।

विपक्षी

श्रमण भगवान के शिष्यों में उनसे अलग होकर उनके खिलाफ विरोधी पन्थ प्रचलित करने वाले उनके जमाता क्षत्रिय-पुत्र जामालि थे। इस समय तो उनकी स्मृति मात्र जैन ग्रन्थों में है। दूसरे प्रतिपक्षी उनके पूर्व सहचर गोशालक थे। उनका आजीवक पन्थ रूपान्तर पाकर आज भी हिन्दुस्तान में मौजूद है।

महावीर के जीवन का मुख्य भाग मगध में व्यतीत हुआ है। ऐसा जान पड़ता है कि वे अधिक से अधिक यमुना के किनारे तक आये होंगे। श्रावस्ती, कौशांबी, तुंगिया, ताम्रलिप्ति, चम्पा, राजगृह इन शहरों में वे बार बार आते-जाते और रहते थे।

उपसंहार

श्रमण भगवान महावीर के तपस्या और शान्तिपूर्ण दीर्घ जीवन और उपदेश से उस समय मगध, विदेह, काशी, कौशल, और दूसरे कितने ही प्रदेशों के धार्मिक और सामाजिक जीवन में बड़ी क्रांति हो गई थी। उसका प्रमाण केवल शास्त्र के पन्नों में ही नहीं बल्कि हिन्दुस्तान के मानसिक जगत में अब तक जागृत अहिंसा और तप का स्वाभाविक अनुराग है।

आज से २४५८ वर्ष पहले राजगृह के पास पावापुरी नामक पवित्र स्थान में कार्तिक मास की कृष्ण पक्ष की अन्तिम तिथि को इस तपस्वी का ऐहिक जीवन पूरा हुआ और उनके स्थापित संघ का भार उनके प्रधान शिष्य सुधर्मा पर आ पड़ा।



महावीर संदेश



[विद्यारत्न प० मूलचन्द जैन "वत्सल" काव्य कलानिधि]

यही था महावीर संदेश

(१)

ज्ञान-प्रभा से ज्योतिर्मय हो,
प्रेम-सुधा भंडार अक्षय हो,
करुणा प्लावित सदय हृदय हो,
विश्व प्राणियों पर हो मैत्री भाव अनंत अशेष ।
यही था महावीर सन्देश ॥

(२)

अडिग, अपरिमित आत्म-शक्ति से,
अभय, अटल सत्यानुरक्ति से,
दंभ रहित सद्धर्म भक्ति से,
रखना सजग सचेष्ट निरंतर तुम अपना उद्देश ।
यही था महावीर संदेश ॥

(३)

अहंकार, विद्वेष, प्रबल का,
दारुण दंभ, द्रोह के दल का,
आलस, अकर्मण्य का, छल का,
जीवन के अन्तपट पर से कर देना निःशेष ।
यही था महावीर संदेश ॥

(४)

स्वावलंब, साहस से पूरित,
निर्भयता, वीरत्व भाव रत,
ओज, तेज, विक्रम से, भूषित,
जाग्रत हो, पुरुषार्थ, जीवनामृत का स्रोत अशेष ।
यही था महावीर संदेश ॥

(५)

पाना विजय आपदाओं पर,
पाना जय प्रलोभनाओं पर,
रखना स्वत्व लालसाओं पर,
पाना त्राण जगत बंधन से बनना तुम अमरेश ।
यही था महावीर संदेश ॥

(६)

इस संसार दुःख के गृह में,
पड़े अनेक आपदा ग्रह में,
पीड़ित, त्रासित त्रास असह में,
यथाशक्ति, तन मन धन द्वारा हरना सबका क्लेश।
यही था महावीर संदेश ॥

(७)

किसी जीव को कभी न दुख दो,
बने जहाँ तक सबको सुख दो,
जन-सेवा हित निज तन रख दो,
पूरित कर दो सुखद शांति से सबका आत्म-प्रदेश।
यही था महावीर संदेश ॥

(८)

दीन दुखित को गले लगालो,
दलित पतित को साथ मिलालो,
संतापित को तनिक हँसालो,
बंधु, हितैषी बन जग मानव मनमें करो प्रवेश।
यही था महावीर संदेश ॥

(९)

बड़ा कठिन जन-सेवा व्रत है,
जो जन इसमें होता रत है,
बनता जग में वही महत है,
जन सेवा व्रतमें ही करना अपना जीवन शेष।
यही था महावीर संदेश ॥

(१०)

नर तन तुम्हें अमूल्य मिला है,
कर्म विजय का अजय किला है,
प्राप्त स्वतन्त्र-बुद्धि विमला है,
इस जीवन से आत्मोन्नति का करना यत्न विशेष।
यही था महावीर संदेस ॥

(११)

निरुद्देश रह पड़े न रोना,
सदुद्देश्य से चलित न होना,
कभी एक क्षण व्यर्थ न खोना,
सुनना, और मानना अंतर आत्मा का आदेश।
यही था महावीर संदेश ॥

(१२)

मोह समुद्र अगाध, अगम है,
विषय कामना-चक्र विषम है,
आत्म साधना पथ दुर्गम है,
सावधान! साहस से करना पूर्ण मुक्ति उद्देश।
यही था महावीर संदेश ॥

— ० —

महावीर की संघ-व्यवस्था



[साहित्यरत्न पं० दरबारीलाल जैन, न्यायतीर्थ]

भगवान महावीर के जीवन में यों तो अनेक आश्चर्यजनक विशेषताएँ पाई जाती हैं और वे विशेषताएँ अन्ध श्रद्धालुओं के लिये ही आश्चर्यजनक नहीं हैं किन्तु विद्वानों और परीक्षकों के लिये भी आश्चर्यजनक हैं। भगवान का ज्ञान अद्भुत था और चरित्र और तप में तो वे चरम सीमा पर पहुँचे हुए थे। इसके अतिरिक्त और भी विशेषताएँ थीं परन्तु जिस विशेषता ने जैन समाज को आजतक जीवित रखने में मुख्य भाग लिया है वह थी उनकी प्रबन्ध कुशलता। वे जितने बड़े ज्ञानी थे, जितने बड़े तपस्वी थे, जितने बड़े लोक हितैषी थे उतने ही बड़े व्यवस्थापक भी थे। उनकी संघ व्यवस्था वास्तव में आश्चर्यजनक थी।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म दोनों भारत में प्रचलित हुए हैं, दोनों ने राज बल प्राप्त किया है बल्कि एक दो घटनाएँ ऐसी हुई हैं कि जिन से बौद्ध धर्म का कुछ अधिक प्रचार हुआ है फिर भी हम देखते हैं कि अनेक तरह की आपत्तियाँ आने पर भी जैन धर्म टिका रहा और बौद्ध उखड़ गया। इसके अनेक कारण हैं परन्तु उसका मुख्य कारण संघ-व्यवस्था का अन्तर है। महावीर की संघ-व्यवस्था इतनी सुदृढ़ थी कि उससे जैन धर्म इन आपत्तियों का सामना कर सकता।

महावीर और बुद्ध में हम प्रारम्भ से ही इस विषय में अन्तर पाते हैं। बुद्धने प्रारम्भ में सिर्फ साधु संघ की स्थापना की थी। जो लोग साधु नहीं हो पाते थे वे उपासक (गृहस्थ) बनते थे। परन्तु उनका कोई संघ नहीं था। और साध्वी संघ तो मूल में था ही नहीं। वह तो आनन्द के अनुरोध से पीछे हुआ। परन्तु महावीर ने प्रारम्भ से ही चार संघ की व्यवस्था की थी और ये चारों ही संघ अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होनेपर भी एक-दूसरे के ऊपर पूरा प्रभाव रखते थे। फल इसका यह हुआ कि जब कोई एक संघ कर्त्तव्य-च्युत होने लगा है तो दूसरे के अंकुश के कारण वह बहुत-कुछ सम्हलता रहा है।

साधु संघ

इस संघ की स्थापना तो प्रायः सभी धर्मके संस्थापकों ने की है। इस संघमें ब्राह्मण, क्षत्रिय से लेकर चाण्डाल तक सभी को स्थान था। उस युग में जब कि शूद्र लोग वेद सुनने के अधिकारी नहीं थे, वेद सुनने के अपराध में उनका निर्दयतासे वध तक किया जाता था, जब कि लोगों की यह मान्यता थी कि शूद्र अगर तप करें तो उसका सिर काट लेना चाहिये यहाँ तक कि मर्यादा

पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी सरीखे परम दयालु को भी यह करना उचित है—ऐसे जमानेमें भगवान महावीर ने साधु संस्था के भीतर शूद्रों और उनमें भी चांडालों तक को स्थान दिया, उन्हें उच्च वर्णियों के समान शास्त्राध्ययन का भी अधिकार दिया इतना ही नहीं किन्तु उन्हें केवल ज्ञानी तक होने का अवसर दिया। हरिकेशी सरीखे चांडाल महर्षियों की प्रशंसा की—यह भगवान की उदारता का अद्भुत नमूना है।

ऐसी ही एक दूसरी उदारता मौर्यपुत्र के विषय में है। मौर्य पुत्र की माँ विजया देवी पहिले धनदेव की पत्नी थी। धनदेव से विजया देवीके मण्डिक नामक पुत्र हुआ। यही मंडिक पीछे से महावीर के गणधर हुए। मण्डिक के जन्म के बाद धनदेव का देहान्त हुआ। तब विधवा विजया देवी का दूसरा विवाह धनदेव के मौसेरे भाई मौर्य से हुआ और मौर्य से भी विजया देवीको एक पुत्र हुआ जो मौर्य पुत्र के नाम से विख्यात हुआ। ये मौर्य पुत्र भी भगवान महावीर के गणधर हुए। भगवान महावीर ने ऐसी सन्तान को साधु ही नहीं बनाया किन्तु अपना खास शिष्य बनाया, और अन्त में मौर्य पुत्र ने केवलज्ञान प्राप्त किया। इस विषय में इससे बढ़कर और क्या उदारता हो सकती है।

भगवान का सारा साधु संघ ११ गणधरों के अधीन था। हर एक साधुको स्वयं भिक्षा के लिये जाना पड़ता था, स्वयं इन्द्रभूति गौतम तक भिक्षा को जाते थे। भिक्षा में अधिक भोजन लानेकी मनाई थी, लाई हुई भिक्षा गुरुको दिखलाना अनिवार्य था, भोजन लेने में अगर किसी को थोड़ा भी कष्ट होता हो, या दूसरे भिक्षुकों को कष्ट होता हो तो भोजन लेनेकी मनाई थी। हर एक को आलोचना करनी पड़ती थी, प्रतिक्रमण करना पड़ता था आदि भिक्षुसंघ के सूक्ष्मस्थूल विषयों पर अगर विचार किया जाय तो हम उस साधु संस्था की पवित्रता, अहिंसकता और लोक हितैषिता को आश्चर्य और श्रद्धा की दृष्टि से देखे बिना न रहेंगे।

साध्वी संघ

पुरुषों के समान स्त्रियों को भी अधिकार है—इस घोषणा का मूर्तिमन्त रूप भगवान का साध्वी संघ था। उस जमाने में स्त्रियों का व्यक्तित्व नहीं के बराबर रह गया था। पुरुषों की सेवा में ही उनके धर्म की इति श्री हो जाती थी। वे धर्म ग्रन्थों के अध्ययन के लिये अयोग्य मानी गई थीं। यहां तक कि इस विषय का वातावरण इतना खराब था तथा स्त्रियों के विषय में लोगों की आस्था इतनी कम थी कि जो लोग सिद्धान्तरूप में स्त्रियों को पुरुषों के समान मानते थे वे भी व्यवहार में स्त्रियों को पुरुषोंके समान अवसर, सुविधा या पद नहीं देना चाहते थे। महात्मा बुद्ध सरीखे सुधारक शिरोमणि भी स्त्रियों को संघ में स्थान नहीं देना चाहते थे। स्त्रियों को साध्वी बनने के लिये भी कितनी कठिनाई थी यह बात अंगुत्तर निकायके पजापती पब्बज्जा सुत्त से मालूम होती है। यहां उसका सारांश दिया जाता है।

"एक बार महात्मा बुद्ध कपिलवस्तुके न्यग्रोधाराम में ठहरे थे। वहां महाप्रजापती गौतमी आई। उसने महात्मा बुद्ध से कहा 'अच्छा हो भन्ते! मातृग्राम (स्त्रियां) भी प्रव्रज्या पावें!' महात्मा बुद्ध ने

कहा 'नहीं गौतमी ! तुझे यह बात कभी रुचिकर न होना चाहिये ।' गौतमी ने तीन बार प्रार्थना की लेकिन महात्मा बुद्ध ने नकार में उत्तर दिया । अन्त में वह दुःखी होकर आँसू बहाती हुई चली गयी ।"

"इसके बाद एक बार महात्मा बुद्ध वैशाली में महावन की कूटागार शाला में ठहरे थे तब वहां गौतमी पहुँची । उसने अपने बाल काट लिये थे काषाय वस्त्र पहने थे, चलते चलते उसके पैर फूल गये थे, शरीर धूल से धूसरित हो गया था । वह बहुत सी स्त्रियों को साथ लेकर बड़े द्वार पर रोती हुई खड़ी हो गई । इसी समय कार्यवश आनन्द (महात्मा बुद्धके शिष्य) बाहर आये । आनन्दने पूछा 'तू इस दशा में यहाँ क्यों आई है ?' गौतमी ने कहा 'भन्ते आनन्द ! तथागत स्त्रियों को प्रव्रज्या की अनुज्ञा नहीं देते । आनन्द ने कहा—तू यहीं रह मैं भगवान से प्रार्थना करता हूं । आनन्द ने भगवान से गौतमी की दशा का वर्णन किया और प्रव्रज्या के लिये अनुज्ञा मांगी परन्तु बुद्ध ने तीनों बार वही उत्तर दिया जो पहिले गौतमी को दिया था । तब आनन्द ने दूसरा ढंग पकड़कर कहा—भन्ते ! क्या स्त्रियाँ अर्हत्व फलको साक्षात् नहीं कर सकतीं ?"

बुद्ध—कर सकती हैं ।

आनन्द—हो भन्ते ! जो गौतमी, आपकी अभिभाविका पोषिका क्षीरदायिका है, जो आपकी मौसी और उपकारिणी है, जिसने आपकी जननीके देहान्त हो जानेपर आपको दूध पिलाया है—उसे आप प्रव्रज्या दें ।

बुद्ध—आनन्द ! यदि गौतमी आठ बड़ी शर्तें स्वीकार करे तो उसे प्रव्रज्या मिल सकती है । कोई भिक्षुणी सौ वर्ष की दीक्षित हो तौभी उसे एक दिन के भी दीक्षित साधु की वन्दना करना * चाहिये और इसमें अपना गौरव मानना चाहिये । इस नियमका जीवन भर अतिक्रमण न करना चाहिये । कोई भी भिक्षुणी किसी भिक्षु से कुछ न कह सकेगी, न कटु वचन बोल सकेगी जब कि भिक्षुको भिक्षुणी से कहने का अधिकार है ।

---

*इसी अर्थकी एक गाथा जैन ग्रन्थोंमें भी मिलती है—

वरिससय दिक्खियाए अज्जाए अज्जदिक्खिओ साहू । अभि गमण वन्दणणमंसणविणएण सो पुज्जो ॥ निश्चय से यह गाथा पीछे से बौद्ध साहित्य में से आई है । क्योंकि गौतमी के प्रकरण में यह गाथा हर तरह ठीक स्थान पर है । बौद्ध संघमें स्त्रियों को जो स्थान था उसे देखते हुए भी यह ठीक है जब कि जैनियों के लिये यह गाथा धर्म विरुद्ध है । यहां साध्वी संघ शुरुसे है उनको केवल्य तो ठीक परन्तु तीर्थंकर पद तक प्राप्त हो सकता है—यह बात स्वयं भगवान महावीर नायधम्मकहा में मल्लि का उदाहरण देकर कहते हैं । इसलिये महिलाओंका घोर अपमान करनेवाली यह गाथा जैन शास्त्रों की मौलिक सम्पत्ति कभी नहीं हो सकती—लेखक

स्त्रियों के अपमान सूचक इन नियमों को गौतमी ने स्वीकार किया। तब वहां भिक्षुणी संघ स्थापित किया गया। इतनी शर्तें रखकर के भी म० बुद्धने एक दिन आनन्द से कहा 'आनन्द! स्त्रियोंके प्रव्रजित होने से सम्प्रदाय स्थायी न हो सकेगा। पहिले यह सम्प्रदाय एक हजार वर्ष ठहरता अब पांच सौ वर्ष तक ही ठहरेगा।'

म० बुद्धके निर्वाण के बाद बौद्ध संघ ने आनन्द से कहा—'आनन्द! तेरा यह दुष्कृत है जो तूने भगवान के शरीर को स्त्री से वन्दन करवाया, रोती हुई उन स्त्रियों के आंसुओं से भगवान का शरीर लिप्त हो गया—इसकी तू क्षमा मांग!

आनन्द! यह भी तेरा दुष्कृत है कि तूने तथागतके बतलाये हुए धर्म में स्त्रियों की प्रव्रज्या के लिये उत्सुकता पैदाकी!

आनन्द ने इन सब पापों (?) की माफी मांगी।"

इससे पाठकों को मालूम होगा कि म० बुद्ध सरीखे उदार सुधारक भी स्त्रियोंके विषय में कितने अनुदार थे। परन्तु भगवान महावीर ने इस विषय में असाधारण साहस का परिचय दिया था। उनने साधु संघके समान स्त्रियों के साध्वी संघकी स्थापना की और उसकी अध्यक्षा भी एक महिला (चन्दना) को बनाया। यह संघ स्वतन्त्र संघ था और साधुओं को साध्वियों के ऊपर ऐसा कोई अधिकार न था जैसा कि बौद्ध संघमें पाया जाता था। इतने पर भी बौद्धों का साध्वी संघ टिक न सका। वह इतना दुराचारग्रस्त हो गया कि पतित स्त्रियों के बराबर उसका मूल्य रह गया अब कि जैन साध्वी संघ व्यवस्थित और शुद्ध बना रहा। न वह साधु संघको गिराने में सहायक हुआ न स्वयं गिरा। इसे भगवान महावीर की अद्भुत व्यवस्थापकता का ही फल कहना चाहिये।

भगवान, साध्वियों को कितना व्यक्तित्व देना चाहते थे इसके प्रमाण जैन शास्त्रोंमें अनेक मिलते हैं। वे इस बात को हर तरह साबित कर चाहते थे कि स्त्रियाँ पुरुषों को गुलाम नहीं हैं। उनका व्यक्तित्व स्वतन्त्र और पुरुषों के समान है। इसीलिये साध्वियों को सब तरह के श्रुताभ्यास का अधिकार था, उन्हें भगवान ने इतना ज्ञानवान बना दिया था कि वे अपनी स्वतन्त्र बुद्धिसे अपने मार्ग का चुनाव कर सकें।

जिस समय जमालि ने म० महावीर का विद्रोह किया उस समय भगवान की पुत्री प्रियदर्शना को जमालिका पक्ष अच्छा मालूम हुआ। तब उसने महावीर का पक्ष छोड़ दिया और जमालिका पक्ष लिया। परन्तु जब उन्हें जमालि के पक्ष में दोष मालूम हुआ तब उसने जमालि का पक्ष छोड़ दिया और महावीर का पक्ष लिया। इससे मालूम होता है कि म० महावीर ने स्त्री जाति को अन्ध श्रद्धा के चंगुल में से निकाल कर स्वतन्त्र विचार करना सिखलाया था। स्वतन्त्र विचारक बनकर भले ही वे महावीर को बातों में ननु नच करें किन्तु इसकी उन्हें पर्वाह न थी।

मल्लि देवीका उदाहरण देकर तो भगवान ने स्त्रियों को उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया था। मल्लिदेवी कोई ऐतिहासिक महिला हों चाहे न हों परन्तु तीर्थंकर रूपमें उनका स्मरण करना और उन्हें तीर्थंकर मानकर स्त्रियों की उन्नति की

पराकाष्ठा का जिकर करना भगवान महावीर के ही योग्य था। इससे मालूम होता है कि भ० महावीर ने साध्वी संघको कितना अधिक महत्व दिया था।

श्रावक संघ

गृहस्थ श्रावकों के बिना किसी भी सम्प्रदायका काम नहीं चल सकता। परन्तु श्रावक संघ का स्थान कुछ और ही है। संघ एक संगठित संस्था है। उसके मतामत का कुछ मूल्य होता है। जैन श्रावक संघ का स्थान साधु संघ से कम महत्वपूर्ण नहीं रहा है। भ० महावीर ने साधु संघ और श्रावक संघको इस तरह परस्परावलम्बित कर दिया था कि किसी भी संघ में स्वच्छन्दता का प्रवेश होना कठिन था।

बौद्धों का साधु संघ बिलकुल स्वतंत्र था। फल यह हुआ कि निरंकुश होजाने से उसमें अनेक दोषों ने प्रवेश पाया। जिस से गृहस्थों का पीठबल न रहा और अंतमें बौद्ध साधुओंको यहां से उखड़ना पड़ा और साधुओं के साथही बौद्ध धर्म भी यहां से उखड़ गया।

परन्तु जैनियों का श्रावक संघ, वास्तव में संघ रहा है। उसके ऊपर साधुओं की पूरी देखरेख रही है और साधुओं के ऊपर श्रावकों की पूरी देखरेख रही है। इसका परिचय हमें 'उवासग दसाओ' के आठवें अध्ययन में मिलता है। महावीर के मुख्य श्रावकों में एक महाशतक भी थे। उनकी पत्नी रेवती अत्यन्त विषयातुर तथा मांस भक्षिणी थी। जब महा शतक प्रोषध शाल में बैठे हुए थे तब वह वहां पहुँची तथा उन्माद सूचक क्रियाएं करने लगी। तब महाशतक ने क्रोधमें आकर उसे डाँटा और कहा कि तू शीघ्रही मर कर नरक जायगी। जब यह बात भगवान को मालूम हुई तब उनने गौतम से कहा—'गौतम! तुम जाओ और महाशतक से बोलो कि—तुमने व्रती हो करके भी अपनी पत्नी से दुर्व्यवहार किया है परन्तु तुम्हें यह करना उचित नहीं है इसलिये तुम क्षमा मांगो!" गौतमने स्वयं जाकर महावीर का यह संदेश महाशतक को सुनाया और महाशतक ने क्षमा मांगी। मतलब यह है कि किसी को अपने सम्प्रदायमें शामिल करके ही महावीर छुट्टी न पा जाते थे किन्तु उसका श्रावकत्व तथा जीवन कैसे सुरक्षित और सदाचार पर रहे इसका भी उन्हें पूरा ध्यान था।

साधुसंघ जैसे अपनी मर्यादाके भीतर स्वतन्त्र था उसी तरह श्रावक संघ अपनी मर्यादा के भीतर स्वतन्त्र था। किन्तु जिन कार्योंका असर संघके बाहर होता था अथवा संघ की मर्यादा का जिनसे भंग होता था उनके विषयमें एक संघ दूसरे संघके कार्यमें हस्तक्षेप कर सकता था। श्रावकों की अनुमति के विरुद्ध कोई साधु किसीको दीक्षित नहीं कर सकता था। अगर किसी साधु से किसी श्रावक का अपराध होता था तो उस साधु को श्रावक से माफी मांगनी पड़ती थी। एकबार महावीर के मुख्य शिष्य इन्द्रभूति गौतम को आनन्द श्रावक से माफी मांगनी पड़ी थी। और माफी मांगने के लिये भगवान ने गौतम को आनन्द के घर पर भेजा था। मतलब यह कि महावीर का श्रावक संघ साधुओं की दृष्टि में मिट्टी का पुतला नहीं था। उसका स्थान साधु संघ के समान ही महत्वपूर्ण था। साधु महाव्रती होते हैं इस लिये श्रावक उनका सम्मान अवश्य करते थे

किन्तु व्यवस्था और न्यायके विषय में दोनोंका मूल्य बराबर था। श्रावक संस्थाके विरुद्ध होकर के किसी साधु को कुछ भी करने का अधिकार न था।

श्रावक संघका यह स्थान पीछे भी रहा है। श्रावकों ने साधुओं को चरित्र हीन होने पर—पद भ्रष्ट किया है, आचार्यों को पद से उतारा है, दुराचारियोंका वेष तक छीन लिया है! —ये घटनाएं शुरू से लेकर आज तक होती रही हैं। अरे! सैकड़ों वर्षों तक साधुओं के बिना श्रावक संघ ने अपने धार्मिक जीवन को सुरक्षित रक्खा है!

उत्तर प्रान्तके दिगम्बरों ने भट्टारकों को अमान्य कर दिया और तमाम धार्मिक कार्य—शिक्षण, उपदेश, पठन-पाठन, ग्रंथ निर्माण आदि श्रावकों ने अपने हाथ में ले लिये और मुनियों से भी अधिक काम किया। महावीर ने श्रावक संघको जो स्वतन्त्रता, स्वावलम्बन और गौरव दिया था उसका फल यह हुआ कि अनेक आपत्तियों के आने पर भी श्रावक संघ ने अपनी और साधु संघ की बहुत-कुछ रक्षा की।

श्राविका संघ

महावीर ने साध्वी रूप में ही स्त्रियों के व्यक्तित्व का विकास नहीं किया, किन्तु श्राविका रूपमें भी किया। साध्वियाँ कौटुम्बिक बन्धन से छूट जाती हैं इसलिये उनके व्यक्तित्व का मूल्य होना उतना कठिन नहीं था जितना कि श्राविकाओं का था। आज इस सुधरे जमानेमें भी स्त्रियों का प्रतिनिधित्व पुरुष ही कर लेते हैं। स्त्रियाँ अपना सुख-दुःख अपने मुखसे कहें इससे अनेक धर्मध्वजियों को अपना सख्त अपमान मालूम होता है। धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रमें स्त्रियों की आवाज ही नहीं है। कुछ वर्ष पहिले तो सुधारक सभाएँ भी स्त्रियों की आवाज से शून्य रहतीं थीं। खैर! स्त्रियों को हमने कितना कुचला है—यह तो एक लम्बा पुराण है परन्तु भ० महावीर ने स्त्रियों को स्वतन्त्र कर दिया था। इसलिये वे साध्वी संघ स्थापित करके ही सन्तुष्ट न हुए किन्तु श्राविकाओं का संघ भी बनाया। और उसकी नायिकाएं भी रेवती और सुलसा सरीखीं श्राविकाएँ ही रहीं। बाकी जो श्रावक संघ के विषय में कहा गया है वही श्राविका संघ के विषय में भी कहा जा सकता है।

यों तो सभी धर्म प्रवर्तकों के श्रावक और श्राविका होते हैं परन्तु उनका संघ नहीं होता। संघ में जो संगठन होता है वही बड़ी भारी विशेषता है। उससे उनका पृथक् व्यक्तित्व तो रहता ही है साथ ही परस्पर अवलम्बन का तत्व और अत्यन्त जबर्दस्त बना देता है।

संघ रचना भी किसी तरह की जा सकती है परन्तु उसके ऊपर देख-रेख रखना मुश्किल होता है। भगवान महावीर चारों संघके ऊपर अपनी दृष्टि रखते हैं। उनकी गिनती का हिसाब तक रक्खा जाता था साथ ही इस बातपर भी दृष्टि रक्खी जाती थी कि कोई किसी पर अत्याचार आदि न कर पावे। अत्याचार के विरोध के लिये भ० महावीर स्वयं सन्नद्ध रहते थे।

जब रानी मृगावतीके ऊपर चण्ड प्रद्योतने आक्रमण किया और उसके साथ जबर्दस्ती शादी करना चाही तो रानीने तो किसी तरह आत्म रक्षा की ही। किन्तु दोनों के झगड़े को सदा के लिये दूर करने के लिये दोनों को निर्वैर बनाने के लिये और अत्याचार

रोकने के लिये भ० महावीर स्वयं कोशाम्बी पधारे और दोनों के झगड़े को शान्त कर दिया। इतना ही नहीं किन्तु एक कुटुम्ब में अगर झगड़ा होता था तौभी महावीर वहां शान्ति करते थे। जब एक बार श्रेणिक राजा अपनी पत्नी चेलना देवी पर क्रुद्ध हो गया तब महावीर ने श्रेणिक को अपराधी बताया और श्रेणिक ने पश्चाताप किया। मतलब यह कि महावीर ने श्रावक और श्राविका संघ कायम करके उनमें ऐसी सुव्यवस्था रक्खी कि उनका संघ चिरस्थायी हुआ। और आज भी उसने अपना असर थोड़ा बहुत कायम रक्खा है।

इस प्रकार चार संघ की स्थापना और उनका संगठन भगवान महावीर की अद्भुत कुशलता और लोक हितैषिता का परिचय देता है।

—:०:—

सोमल पराजय

ग्रामोग्राम विहार करते २ श्रमण भगवान महावीर एकदा वाणिज्य ग्राम नगर के बाहर द्युतिपलाश उध्यान में आकर ठहरे। तप और संयम के प्रभाव से उनकी मुख मुद्रा देदिप्यमान थी और अपनी गंभीर वाणी द्वारा वे जनता के हृदय को मुग्ध कर रहे थे। ऐसे ही समय विद्वान ब्राह्मण सोमल ने वहां प्रवेश किया। उसके मुख पर विद्या और स्वाध्याय के तप की किरणें थीं और हृदय में थी अभिमान की क्रिड़ाएँ। उसने आते ही भगवान से प्रश्न किया:—" हे भगवान! आपको यात्रा है? यपनीय है? अव्याबाधत्व है तथ आपको प्रासुक विहार है?

भगवान ने उत्तर दिया " हे सोमल! मुझे यात्र है, यपनीय है, अव्याबाधत्व है और प्रासुक विहार है।"

सोमलः—"यात्रा का अर्थ क्या है"

भगवानः—"हे सोमल! ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और संयम आदि योगों में यत्न करना सो यात्रा है।

सोमल ने फिर पूछाः—" यपनीय किसे कहते हैं?—भगवन्!"

भगवान ने मुस्कुराहट के साथ उत्तर दियाः—"हे सोमल! श्रोत्र, चक्षु घ्राण, जिह्वा और स्पश—ये पांच इन्द्रियाँ मेरे वस में हैं यही मेरा इन्द्रिय यापनीय है और क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय कितने तो क्षीण हुए हैं और कितने ही शात—यह मेरा नोइन्द्रिय यापनीय है।"

सोमलः—"हे भगवन्! अव्याबाधत्व क्या है?

भगवानः—"हे सोमल! बातपित व कफ तथा तीनों के संयोग से विविध रोग होते हैं वे मुझे दुःखित और भय भीत नहीं करते—यही मेरा अव्याबाधत्व है।"

सोमल—" हे भगवान्! प्रासुक विहार क्या है?—"हे सोमल! बगीचों में, उद्यानों में, देवालयों में, सभाओं में, और स्त्री, पशु तथा नपुंसक से रहित वस्ती में रहता हूँ यही मेरा प्रसुक विहार है"

भगवान के ऐसे और भी कितने ही समाधानकारक उत्तरों को सुनकर सोमल का हृदय विनम्र हो गया। उसने ५०० शिष्यों के साथ भगवान से दीक्षा ली।

'शिशु'

अहिंसा धर्म की विशालता

[श्री गोपीचन्द धाड़ीवाल बी० एस सी० एल० एल० बी०]

अहिंसा को जितना महत्व जैन सिद्धांत में दिया गया है उतना किसी अन्य सिद्धांत में नहीं दिया गया है। 'अहिंसा परमोधर्मः' केवल मन्त्र मात्र ही नहीं है किन्तु जैन सिद्धांतों के अनुसार साधु के अथवा श्रावक के जितने भी व्रतादि हैं, एक 'अहिंसा' व्रत में उन सबका समावेश माना जाता है। केवल इतना ही नहीं किन्तु भारतीय रीति-नीति की प्रत्येक बात, जिसके समूह को हम भारतीय संस्कृति अथवा भारतीय सभ्यता कहते हैं—उन सबकी नींव उसी अहिंसा धर्म पर बनी हुई है। अहिंसा ही वह तत्व है जो पूर्वीय सभ्यता और पाश्चात्य सभ्यता में भेद करता है, अहिंसा ही वह तत्व है जिसने भारत को आजतक जीवित रखा है, जब कि प्राचीन रोम, यूनान, मिश्र आदि कबके नष्ट हो चुके। आज भी अहिंसा ही भारत को अपना गौरव बढ़ाने का मार्ग बता रही है और अहिंसा ही भविष्य में भारत को सब देशों से उच्च बनायगी।

पाठकों को आश्चर्य होगा कि जैन धर्मकी अहिंसा का यह दावा कैसा ! साधारणतः यह समझा जाता है कि जैन अहिंसा से तात्पर्य केवल पशु पक्षी की अथवा जीव जन्तुओं की रक्षा है—रात्री भोजन त्याग अथवा अमुक तिथियों को हरे साग के त्याग ही में जैन अहिंसा परिमित है। मगर बात ऐसी नहीं है—चाहे अज्ञानता के कारण कई जैनी भी ऐसा ही समझते हों। पशु पक्षियों और जीव जन्तुओं की रक्षा जैन 'अहिंसा' की विशालता का द्योतक है न कि उसकी संकीर्णता का। मनुष्य का झुकाव साधारणतः स्वार्थ की ओर होता है। मनुष्य अपने स्वार्थ की दृष्टि से भी मनुष्य की हिंसा से बचेगा क्योंकि वह समझेगा कि यदि मैं अन्य मनुष्य की हिंसा कर सकता हूं तो वह भी मेरी हिंसा कर सकता है। इसलिये मनुष्य के प्रति अहिंसा के उपदेश में कोई महत्व नहीं है। मगर मूक पशुओं और जन्तुओं, जिनकी हिंसा में मनुष्य का स्वार्थ हो सकता है, उनके प्रति अहिंसा का आदेश देना अहिंसा की व्यापकता और विशालता है न कि संकीर्णता। इस दृष्टि के पक्ष में अनेकों जैनसूत्र इत्यादि उद्धृत किये जा सकते हैं। जैन इरिया वहियं सूत्र, जिसका पाठ प्रत्येक जैनी, अपनी प्रतिक्रमणादि धार्मिक क्रियाओं में करता है, उससे यह बात प्रगट है कि जैन अहिंसाका, एक इन्द्रीय वाले जीव अर्थात् पृथ्वी, अप, वायु आदि से लेकर पंचेन्द्रीय जीव अर्थात् पशुपक्षी, मनुष्य, देवता इत्यादिक तक के प्रति उपदेश है। केवल इतना ही नहीं किन्तु प्रत्येक जैनी

अपने प्रतिक्रमण में प्रायश्चित करता है "मैंने जीवों को क्लेश पहुँचाया हो……हैरान किया हो… किसी भी तरह…जानते अनजानते विराधना आदि से कषाय द्वारा मैंने जो पाप कर्म बांधा हो—उसके लिये मैं हृदय से पछताता हूँ जिससे कोमल परिणाम द्वारा पापकर्म नीरस हो जावे……पाप मल लगने के कारण आत्मा मलीन हुआ इसकी शुद्धि मैंने की तथापि पूर्ण शुद्ध न होने से वह अधिक निर्मल न हुआ हो उसको अधिक निर्मल बनाने के निमित्त उसपर बार बार अच्छे संस्कार डालना चाहिये…इसके लिये परिणाम विशुद्धि आवश्यक है जिसके लिये शल्यों का त्याग करना आवश्यक है। शल्यों के त्याग और पाप कर्मोंके नाश के लिये मैं काउसग्ग करता हूं"।

यह सूत्र जैन अहिंसा की विशालता और सुन्दरता बतलाता है। अहिंसा किस लिये है? केवल जीवों की रक्षा के लिये नहीं, केवल जीवों पर दया (humanity) की दृष्टि से नहीं किन्तु इस विचार से कि हिंसा मनुष्य की आत्मा का पतन करती है, उस पतन से आत्मा का उद्धार करने के लिये वह मनुष्य प्रायश्चित करता है। शेक्स पियर दया की तारीफ करते हुए कहता है कि वह जिसपर दया की जाती है उसका और दया करने वाले दोनों का कल्याण करती है। पर पाश्चात्यों की यह दया मनुष्य जाति तक ही और प्रायः स्वजाति तक ही सीमित है। जैन अहिंसा की सीमा में सब प्राणियों का समावेश हो जाता है। दोनों के इस भेदके परिणामों के समझने में ही भारतीय सभ्यता की सुन्दरता का अनुमान हो सकता है।

वंदित्तु सूत्र का निम्न लिखित गाथा भी जैन अहिंसा की विशालता का सूचक है:—

खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमं तुमे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणई॥

अर्थात्—किसीने मेरा कोई अपराध किया हो तो उसको क्षमा करता हूँ। वैसे ही मैंने भी किसी का अपराध किया हो तो वह मुझे क्षमा करे। मेरी सब जीवों के साथ मित्रता है, किसी के साथ शत्रुता नहीं है।

कितना विशाल और सुन्दर आदर्श है जिसमें क्षमा, दया, हृदय की विशालता, निस्वार्थता आदि सब गुणों का समावेश हो जाता है।

जैन अहिंसा वह नहीं है जो अपने मित्रों अथवा कुटुम्बियों तक ही लागू हो। वह पाश्चात्यों के स्वभाग्यनिर्णय इत्यादि सिद्धान्तों के समान नहीं है जिसका उपयोग केवल पाश्चात्य जातियों तक ही हो और न उसकी सीमा अन्य धर्मों की अहिंसा के समान केवल मनुष्य जाति तक ही है कि जिनके सिद्धान्तों के अनुसार पशुओं की बलि तक धर्म समझा जावे; किन्तु जैन अहिंसा के शान्त शासन में प्रत्येक प्राणी का कल्याण है।

जो सत्य है उसकी सीमा नहीं होती। जितने भी प्राकृतिक नियम हैं यदि वे सत्य हैं तो उनमें अपवाद नहीं हो सकता। पृथ्वी की आकर्षण शक्ति, सूर्य चन्द्रमा इत्यादि का उदय अस्त होना —यह सब प्रकृति के नियम के अनुसार होते हैं तो इनमें अपवाद नहीं होता है। अहिंसा भी प्रकृति का नियम है तो उसमें भी अपवाद नहीं हो सकता है। यह कदापि नहीं हो सकता कि मनुष्य की हिंसा

में तो पाप हो और पशुकी हिंसामें पाप न हो। एक सिद्धान्त में, सत्य नियम में इस प्रकार की सीमा मानना उस सिद्धांत की सत्यता को अस्वीकार करना और उसके लाभ से संसार को वञ्चित करना है। जैन अहिंसा सब प्राणियों के लिये समान है। जैन अहिंसा यह आदेश नहीं दे सकती कि मनुष्य, मनुष्य जाति के सिवाय अन्य प्राणियोंकी हिंसा कर सकता है। हां, जैन सिद्धान्त मनुष्य को स्वाभाविक अपूर्णता से आँख नहीं बन्द कर सकते। मनुष्य— जल, वायु, शाक, इत्यादि बिना निर्वाह ही नहीं कर सकता, मनुष्य अपनी कमजोरियों के कारण अन्य कई प्रकार की हिंसा करता है। जैन सिद्धान्त इन कमजोरियों को स्वीकार करता है, पर इन कमजोरियों के कारण वह आदर्श को सीमित नहीं करता। वह यह नहीं कहता कि मनुष्येतर जीवों को मारने इत्यादि में हिंसा नहीं है पर वह आदेश देता है कि मनुष्य अपनी कमजोरियाँ दूर करे जिससे वह सम्पूर्ण अहिंसा के आदर्श तक पहुंचता जावे और अपनी आत्मा को शुद्ध करता जावे। यही प्रतिक्रमण इत्यादि का उद्देश है। यही जीव जन्तुओं की रक्षा अथवा खाने पीने के अन्य नियमों का उद्देश है। यदि कोई जैनी जीव जन्तुओं की रक्षा अथवा खाने पीने के नियम तक ही 'अहिंसा' की सीमा माने तो यह 'अहिंसा' का दोष नहीं है यह उनकी अज्ञानता का दोष है। इन नियमों को हम यदि न्यून से न्यून (Irreducible minimum) कहें तो शायद इन नियमों का उद्देश हम समझ सकें। यह नियम हमें सदा अपना आदर्श याद दिलाते रहने की गर्ज से हैं, वह आदर्श के और ध्येय के पथ प्रदर्शक हैं न कि स्वयं ध्येय। इन नियमों को यदि हम इस दृष्टि से देख तो उनकी महत्ता हम समझ सकेंगे।

अहिंसा मनुष्यत्व का गुण है। इसका विपरीत है पशुता। संसार में मनुष्य समाज के संगठन का यही आधार है। इसके लोप होनेसे मनुष्य समाज जीवित ही नहीं रह सकता। जिस हद तक मनुष्य समाज अहिंसा का पालन करती है उस हदतक वह सुखी रहती है। जितना उसका क्षेत्र संकीर्ण होता है उतना ही मनुष्य समाज का सुख भी घटता जाता है, परस्पर में ईर्षा, द्वेष, युद्ध इत्यादि बढ़ते जाते हैं।

किसी भी सिद्धांत के प्रचार के लिये यह आवश्यक है कि उसके मानने वालों को उसमें पूर्ण श्रद्धा हो और वे स्वयं उसे पूर्ण रीतिसे पालन करने का प्रयास करें। केवल भाषणों और उपदेशों से किसी सिद्धांत का प्रचार नहीं हो सकता है। जब तक कि उसके प्रचारक स्वयं उसके अनुसार न चलें—उसके प्रचार के लिये त्याग न करें और घोर तपस्या न करें। महात्मा गांधी आज स्वयं चर्खा कात कर भारत को स्वतंत्रता का पाठ पढ़ा रहे हैं। पाश्चात्य सभ्यता में रंगे हुए लोग इसे चाहे निरर्थक मूर्खता कहें मगर इसमें सन्देह नहीं कि वर्षों के कागजी और मौखिक उपदेशों ने भारत को वह लाभ नहीं पहुंचाया जितना महात्मा की मूर्खता ने। सीता के कष्ट-सहन को तथा अन्य सतियों के कष्ट—सहन को पाश्चात्य दृष्टिकोण वाले—चाहे मूर्खता कहें, पर सतीत्व का आदर्श बिना इस प्रकार कष्टों का स्वागत करने वाली देवियों के, कदापि नहीं बन सकता था। मैना सुन्दरी के कोढ़ रोग में ग्रस्त श्रीपाल से विवाह

करना स्वीकार करने को आधुनिक शिक्षित समाज चाहे मूर्खता कहे पर अपनी आत्मा की स्वतन्त्रताके सिद्धांत को माननेवाले के लिये वह कष्ट अनिवार्य है। आज भी अनेकानेक कष्टों की स्वागत करने वाले हजारों लोगों को कई लोग चाहे मूर्ख कहें पर जिन्हें किसी उच्च आदर्श पर पहुंचाना है, उच्च सिद्धांत का प्रचार करना है, उन्हें सदा कष्ट का स्वागत करना ही पड़ता है। परिस्थितियों के गुलाम—जो केवल परिस्थिति देख कर आचरण करते हैं, वे संसार को उठा नहीं सकते।

इसी प्रकार से आज हजारों वर्षों से 'अहिंसा' के प्रचार द्वारा संसार का कल्याण करने के हेतु से जैन तीर्थंकरों ने महान कष्टों का स्वागत किया है और अपने शिष्यों को त्याग और कष्टों के मार्ग का निर्भीकता पूर्वक अवलम्बन करने और अहिंसा सिद्धांत का चरम सीमातक पालन करने का उपदेश दिया है। उन उपदेशों के अनुसार आज तक हजारों जैन आचार्यों और साधुओं ने पूर्ण रूप से उनके सिद्धांतों का पालन किया है और उपदेश दिया है और इस प्रकार से भारतीय सभ्यता को संसार में अद्वितीय सभ्यता बनाया है। अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ता में और उनके पालन में त्याग और कष्ट-सहन की तत्परता में जैन मुनियों की बराबरी किसी भी धर्म के मुनि नहीं कर सके हैं। यही कारण कि आज हजारों वर्ष बीतने पर भी जैन सिद्धांतों की पवित्रता में कोई फेर-फार नहीं हुआ है। आज भी जैन धर्मावलम्बी अहिंसा को परम धर्म मानते हैं और उसका पालन कर रहे हैं। जब कि महावीर के समकालीन गौतम बुद्धके धर्मानुयायी बौद्ध लोग उनके अहिंसा धर्म को बिलकुल भूल ही गये हैं। आज चीन और जापान के बौद्ध जो कि बुद्ध भगवान के अनुयायी हैं—बुद्ध के अहिंसा धर्म का कितना पालन कर रहे हैं इसके बतलाने की यहां कुछ भी आवश्यकता नहीं है!

जैन साधुओं की अहिंसा के सिद्धांत परकी दृढ़ता ने केवल जैन समाज ही को कायम नहीं रखा है और केवल अहिंसा के सिद्धान्त को ही जीवित नहीं रखा है किन्तु हजारों वर्ष तक उसने भारत की सभ्यता को उत्तम गुणों से सींचा है।

राजनैतिक गुलामी मनुष्य की आत्मा को, उसके मन को, उसके विचारों को, उसके चरित्र को निबल बना देती है। उसे विजेताओं की प्रत्येक बात सुन्दर लगती है और निजकी प्रत्येक बात में दोष दीखने लगता है। भारत में भी इसी गुलामी के कारण कई लोगों को अपने सिद्धांत और आदर्श हीन लगते हैं और विजेता जातियों के उत्तम। इसी कारण से कई ऐसे लोगों की दृष्टि में, जो पाश्चात्य सभ्यता में रंग चुके हैं, चाहे अहिंसा की उच्चता न जचे, पर इसमें सन्देह नहीं है कि इन लोगोंकी उपेक्षा से यह जीवित सिद्धांत कदापि नहीं मरेगा किन्तु राजनैतिक स्थिति सुधरने पर, जिस प्रकार हजारों वर्षों से भारत का यह सिद्धांत कल्याण कर रहा है, उसी प्रकार सारे संसारका भी कल्याण करेगा।

आज संसार में दो प्रकार की सभ्यताएं हैं। एक पूर्वीय और दूसरी पाश्चात्य। पूर्वीय सभ्यता को हम भारतीय सभ्यता भी कह सकते हैं क्योंकि केवल यही जीवित सभ्यता इस समय है। पाश्चात्य सभ्यता से यूरोपीय सभ्यता सम्बोधित होती है। यदि इन दोनों सभ्यता का हम मिलान करें तो हमें

जान पड़ेगा कि पूर्वीय सभ्यता का आधार 'अहिंसा' और पाश्चात्य का 'हिंसा' है।

पाश्चात्य सभ्यता का मूल मंत्र है 'प्रतिद्वन्द्वता' तो भारतीय सभ्यता का है 'सहयोग'। 'प्रतिद्वन्द्वता' 'Survival of the strongest' अर्थात जो शक्तिमान है वही जीवित रहेगा, और इसी प्रकार के जितने भी पाश्चात्य सभ्यता के सिद्धान्त हैं वे सब 'हिंसा' के ही पर्यायवाची शब्द हैं। प्रतिद्वन्द्वता का अर्थ ही यह है कि दूसरे से आगे निकलना, अर्थात् जो निर्बल हो उसको पीछे ढकेल देना। जब उद्देश अन्य सब से आगे निकलना है तो मनुष्य स्वभाव से ही इस उद्देश की पूर्ति के लिये हर प्रकार से प्रयत्न करेगा और उन प्रयत्नों के आवेश में उचित और अनुचित का विचार न करेगा। पाश्चात्य जातियों ने किस प्रकार अमेरिका, आस्ट्रेलिया इत्यादि महाद्वीपों के आदिम निवासियों को नेस्तनाबूद किया है, आज भी पूर्वीय देशों को वे किस प्रकार लूट (Exploit) रही हैं, यह सब 'प्रतिद्वन्द्वता' और 'शक्तिशाली ही जीवित रहेगा' इत्यादि सिद्धान्तों ही के फल हैं। पाश्चात्य देशों में भी जो पूंजीपतियों और मजदूरों में खेंचातान है वह इसी प्रतिद्वन्द्वता का फल है। यूरोप का छोटे २ देशों में विभक्त होना, उन देशों में व्यापार में, और युद्ध सामग्री के सम्बन्ध में पारस्परिक ईर्षा, भय और उसके परिणाम महायुद्ध और टेरिफ युद्ध इत्यादि बातें पाश्चात्य सभ्यता की हिंसक नींव की सूचक हैं। पाश्चात्य देशों में जिस रूप में व्यक्तिगत स्वतंत्रता पूजी जाती है—जिसका परिणाम पारिवारिक सम्बन्ध का ढीला पड़ना, यहां तक कि वैवाहिक सम्बन्ध भी शिथिल हो जाता है—यह उसी हिंसक प्रवृत्ति का परिणाम है। पूंजीवाद, बोलशेविज़्म, फैसिसिज़्म, इम्पीरियलिज़्म, विवाहविच्छेद प्रथा का प्रचार, क्षणिक विवाह इत्यादि जितनी भी पाश्चात्य सभ्यता की विशेषताएँ हैं—वे सब हिंसा के सिद्धान्त ही पर रची हुई हैं। उसी का परिणाम हम आज पाश्चात्य देशों की अन्तरराष्ट्रीय और घरेलू स्थिति में देख रहे हैं। थोड़े हाथों में बहुत पूंजी का आजाना, बेरोजगारी का भयानक रूप धारण करना, आवश्यकता से अधिक अन्न होने पर भी करोड़ों मनुष्यों का भूखों मरना, युद्ध के खर्चों से राष्ट्रों का पिसना, राष्ट्रों में पारस्परिक अविश्वास, भय, और प्रतिद्वन्द्वताका फैलना यह हिंसक सभ्यता के स्वभाविक परिणाम हैं। आश्चर्य न होगा यदि पाश्चात्य सभ्यता का हिंसा के पाप के बोझ से शीघ्र ही अन्त होनेवाला हो। इस के चिन्ह अभी भी दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

अब हम यदि भारतीय सभ्यता की ओर देखें तो दूसरा ही दृश्य नजर आवेगा। जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं, हजारों वर्षों से भारत की सभ्यता को त्यागियों और मुनियों ने अहिंसा से सींचा है, 'अहिंसा परमोधर्मः'का उपदेश देते आये हैं और यहाँ के गृहस्थ विश्वास पूर्वक उन उपदेशों को शक्ति भर पालन करते आये हैं। इसी कारण यहां की सभ्यता की विशेषता 'प्रतिद्वन्द्वता' नहीं किन्तु 'सहयोग है, 'शक्तिशाली ही जीवित रहेगा' नहीं किन्तु 'जिते रहो और जीने दो' (Live & let live) है। केवल न्याय और धर्म से पैसा कमाना, परिग्रह का परिमाण करना, थोड़े में सन्तोष करना, निर्बल और गरीब की रक्षा करना, अभिमान न करना, विषय वासना में न फंसना, त्यागियों को महापुरुष मानना,

त्याग को आदर्श मानना इत्यादि जो भारतीय सभ्यता की ही विशेषताएँ हैं इन सब का मूल मंत्र 'अहिंसा' ही है। यहाँ संयुक्त परिवार पद्धति, जाति निर्माण, ग्रामीण और जातिय पंचायतें, यहां का सतीत्व का आदर्श इत्यादि बातें 'सहयोग' ही के भेद हैं। इतने बड़े देश के भिन्न २ प्रान्तों में यूरोप के भिन्न २ देशों के समान प्रान्तीय द्वेषका न होना, एक प्रान्त के तीर्थों और महात्माओं का सारे देश में समान आदर और मान होना, यह उसी 'अहिंसा, की सन्तान 'सहयोग' का परिणाम है। भगवान महावीर के जन्म के समय, जब कि 'अहिंसा' का प्रचार कम हो गया था जिसके कारण जातियों में पारस्परिक अत्याचार—विशेष कर ब्राह्मण जाति का शूद्रों पर घोर अत्याचार हो रहा था। पशु-हिंसाका भी खूब प्रचार था। भगवान ने फिर 'अहिंसा' का झण्डा उठाया और देश में नई जान फूंक दी।

भारत का इतिहास बतलावेगा कि भारत का वही युग—सुवर्ण युग था जब कि 'अहिंसा' का खूब प्रचार था। समय के फेर से जैन धर्म के प्रचार में अर्थात् 'अहिंसा' की मान्यता में शिथिलता आई, 'अहिंसा' जीवित सिद्धांत न माना जाने लगा, अजैन आचार्यों ने धर्म के नाम पर हिंसा का प्रचार आरम्भ किया कि भारत वर्ष का पतन आरम्भ हुआ, विदेशियों के चुंगल दृढ़ होते गये और हमारी वर्तमान स्थिति हो गई।

आज भी भारतका पुनः उद्धार वही अहिंसा कर रही है। पिछले दस वर्षों का भारत का इतिहास उसी जैन तीर्थंकरों के 'अहिंसा परमोधर्मः' की पुनः आवृत्ति है चाहे वह किसी जन्म से जैन महापुरुष के हाथ से न हुई हो। अहिंसा' ने आज भारत का नैतिक बल, संसार में मान, और आत्म-विश्वास इतना बढ़ा दिया है जितना कि शायद सैकड़ो वर्षों में भी न था। इतना ही नहीं, आज संसार के विचारक इस अहिंसा में ही संसार की शान्ति और सुख की आशा कर रहे हैं। सम्भव है पाश्चात्य सभ्यता के पतन के साथ संसार में 'अहिंसामयी' सभ्यता का पुनः उद्धार हो। भारत वर्षकी सभ्यता सैकड़ों टक्करें सह कर भी आज जीवित है, वह अमर है, अहिंसा ही में उसका अमरत्व है। समय समय पर 'अहिंसा' का मंत्र फूंकने वाले महात्मा यहाँ होते रहे हैं। इसका 'अहिंसा' को परम धर्म मानने वाली और उसका अपने दैनिक जीवन में पालन करने की चेष्टा करने वाली जैन समाज को कुछ कम श्रेय नहीं है और महान श्रेय उस चरम तीर्थंकर भगवान महावीर को है जिसने लगभग २५०० वर्ष पहले वर्तमान जैन शासन की नींव रखी थी।

भगवान के उपदेश और शासन व्यवस्था के विषय में प्रोफेसर हेल्मुट ग्लाज़ेनाप (बर्लिन) लिखित "जैन धर्म" नामक पुस्तक में से कुछ अवतरण देना असंगत न होगा, जिससे पता लगेगा कि किस कारण से आज भी जैन धर्म उसी पवित्र रूप में जीवित है, जब कि समकालीन बौद्ध धर्म का रूप बिलकुल ही बदल गया है :—

"उनका उपदेश सुनने वाला जन समाज बहुत बड़ा था। इससे ही प्रत्यक्ष है कि अपने श्रोताओं पर प्रभाव डालने की उनमें प्रबल शक्ति थी...... उनके श्रोताओं में ब्राह्मण क्षत्रीय वैश्य ही नहीं किन्तु शूद्र भी थे, आर्य ही नहीं किन्तु अनार्य भी थे, पुरुष ही नहीं किन्तु स्त्रियाँ भी उनके उपदेश सुनने

को एकत्रित होती थीं।......कई बड़े बड़े राजा अपने अन्तःपुर और दरबारियों और अधिकारियों समेत, योद्धाओं और नौकरों को साथ लेकर और अपनी प्रजा के झुण्ड के झुण्ड साथ लेकर तीर्थंकर के उपदेश सुनने जाते थे।......(महावीर) में योजना और व्यवस्था करने की भारी शक्ति थी और उस शक्ति के आधार पर उनके अपने शिष्यों के संघ के नियम अब तक टिके हुए हैं। महावीर के समय में बनाये हुए साधु संघ में सब जैन साधुओं को बराबर नियम में रखने की शक्ति अब तक बनी हुई है। जब हम यह देखते हैं कि काल भी जिस पर कुछ असर न कर सका ऐसा स्वरूप पार्श्वनाथ के संघ को महावीर ने दिया तो इस महा पुरुष पर आश्चर्य की दृष्टि से देखे बिना नहीं रहा जा सकता है।"

ऐसे महापुरुष के सिद्धान्त और उपदेश विशाल हों यह स्वाभाविक ही है और उनके उपदेश यदि २५०० वर्ष तक भारतीय सभ्यता को सींचते रहे हों तो इसमें कोई सन्देह और आश्चर्य की बात नहीं हो सकती।



Mahāvira, the last Tirthan-kara of the Jains

By Dr. BIMALA CHURN LAW, Ph. D., M. A., B. L.

A detailed account of the life and work of Mahāvira will fill a volume. An attempt has been made here to present a few salient facts concerning the life and activity of one of the greatest religious reformers of India.

Mahāvira, who belonged to the *Kāśyapa gotra*, the Moon of the clan of the Jñātris, was the last Tirthaṅkara of the Jains. He was the son of Kṣatriya Siddhārtha, also named Sreyāṁsa and Yasaṁsa of the Kāśyapa gotra and Kṣatriyāṇi Triśalā, also known as Videhadattā and Priyakāriṇi of the Vaśiṣṭha gotra who was a sister* to Ceṭaka, one of the so-called rājās of the Licchavi city (Jaina Sūtras, I. p. xii). His parents belonged to the clan of the Jñātri Kṣatriyas and were lay followers of the Śramaṇas and worshippers of Pārśva. Mahāvira was born in the city of Kuṇḍanagara, a suburb of Vaiśāli and an important seat of the Jñātri Kṣatriyas. He was, therefore, known as Vesālie (Vaiśālika) or a famous native of Vaiśāli (Jaina Sūtras, I, intro. xi). On his birth day prisoners in the town of Kuṇḍanagara were released. Festivals kept the whole town in mirth and hilarity for ten days after which various offerings were given to the gods. Mahāvira was also called a Videha, the son of Videhadattā, a native of Videha, a prince of Videha (Videhe, Videhadinne, Videhajacce, Videhasamāle—Jaina Kalpasūtra, § 110). He was also known as Vardhamāna, because with his birth the wealth, fame and merit (puṇya) of his parents increased (Jaina Sūtras, I., 192). His aversion to love and hatred earned for him 'the appelation of Śramaṇa (ascetic). Gods gave him the name of venerable ascetic Mahāvira for his fortitude and hardihood to brook patiently all sorts of hardship, for his strictly adhering to the chosen rules of penance and for his indifference to pleasure and pain. He was also known as Jñātriputra, Nāmaputra, Sāsananāyaka and Buddha. He was commonly known as a Jñātri Kṣatriya. It is interesting to note that the Jñātrikas to whom Mahāvira belonged avoided what was sinful as they were afraid of sin and they abstained from wicked deeds, did not do any mischief to any being and did not partake of meat (Jaina Sūtras, II. 416). The clan to which Mahāvira belonged was also known as the Nāya or Nātha clan. To the Buddhists Mahāvira was known as Nigaṇṭha Nāthaputta. He was the son of Nāta. He said that he was free from sin and

* According to Digambara view Triśalā was the eldest of the seven daughters of Ceṭaka.

Editor

that if any one had any doubt about any subject whatsoever, he might come to him for explanation. We think that the Niganthas were those who were free from knots, *i. e.*, those who were free from the ties and the bonds that keep men enchained to this world of woe and travail and those who were free from all restraints and hindrances.

Mahāvīra is described in the Pāli literature as the "head of an order, of a following, the teacher of a school, well known and of repute as a sophist, revered by the people, a man of experience who has long been a recluse, old and well stricken in years" ("Saṁghī c' eva gaṇī ca gaṇācariyo ca ñāto yasassi titthakaro sādhu-sammato bahu-janassa rattaññū cira-pabbajito addhagato, vayo anuppatto"—Dīgha Nikāya, I. 48). In his thirtieth year Mahāvīra married Yaśodā, a Kṣatriya lady, belonging to the Kauṇḍinya gotra and had by her a daughter named Anojjā or Priyadarśaṇā. This daughter was married to Yamāli, a Kṣatriya, 'who after becoming one of Mahāvīra's followers and fellow-workers ended by opposing him.' In his thirtieth year Mahāvīra lost his parents. Afterwards with the permission of his elder brother and the authorities of the kingdom, he fulfilled his promise of going out to establish the religion of the Law which benefits all living beings in the whole universe (*cf.* Kalpasūtra, § 11). After twelve years of self-moritification and meditation he attained omniscience. He lived to preach for many years and attained *mokṣa*[1] some years before Buddha Gautama.[2] He passed away at Pāvā (Nigaṇṭha Nāthaputta Pāvāyaṁ Kālakato hoti.)[3]

The Kalpasūtra narrates, "In that night in which the venerable ascetic Mahāvīra died, went off, quitted the world, cut asunder the ties of birth, old age and death, became a *siddha* (perfected), a *Buddha* (enlightened) and a *mukta* (liberated),[4] a maker of the end to all miseries, finally liberated, freed from all pains, the eighteen confederate kings of Kāśī and Kośala, the nine Mallakis and nine Licchavis on the day of new moon instituted an illumination on the Posadha, which was a fasting day for they said, 'since the light of intelligence is gone, let us make an illumination of material matter" (§ 128; tr. by Jacobi, S. B. E., XXII, p. 266). It is evident from this how the

1 It means freedom of an individual from the Saṁsāra which is the revolution of birth and death. In other words, it means a complete freedom of the soul from the Karmic matter; this idea is almost unknown to the Buddhists.

2 Four years after his separation from Gosāla, when he founded a new Nirgrantha order with which the order of Pārśvanātha was amalgamated afterwards through the intercession of Keśī and Gautama into a common Jaina school of religio-philosophy (*Vide* Uttarādhyayana sūtra, Lec. XXIII, B. M. Barua, The Ājīvikas, p. 19)

3 Saṁgīti Suttanta, Dīgha Nikāya, III, 209-210.

4 Dr. Buhler is right in saying that all these epithets are borrowed from the Brāhmanas which they used even in old times to describe those saved during their lifetime (the Indian sect of the Jaina, p. 6. *F. n.*)

departed hero was honoured by the kings and tribes of the time when he left his mortal existence. In him the Jñātri Kṣatriyas lost a wonderful personage and true prophet.

As to the character of Māhavīra, he was austerely scrupulous and subtly wise, an almsman, restrained by the fourfold watch and revealer of things seen and heard by him ("Jegucchi nipako bhikkhu, Cātuyāma-susaṁvuto, diṭṭhaṃ sutañca āccikkham, na hi nûna kibbisi siyā ti"—Saṁyutta Nikāya, I, 66). He was all-knowing, all-seeing, one whose omniscience was infinite, who was omniscient in walking, standing, sleeping and when awake (Aṅguttara Nikāya, I., 220), who knew who had committed what kind of sin and who had not. (Majjhima Nikāya, II, 214-228). According to the Sūtrakritāṅga, Mahāvīra had infinite knowledge and infinite perception. Everything was seen by him and he was free from impurity. He was the highest and wisest in the whole world. He was noble, glorious, full of perception, knowledge and virtue. He possessed the highest knowledge and highest perception ('anuttaramaṇī, anuttaradaṁsī, anuttarañānadaṁsanadhare arahā Nāyaputte'—Sūtrakritāṅga, 1. 2. 3. 22). Prof. Hopkins in his 'Religions of India' (p. 292) says that Mahāvīra did not enjoy any theatrical performance or other amusements but remained in the house of his parents till their death.[1]

Mahāvīra was one of the six widely recognised leaders of contemporary thought. His teachings were noble. He taught the right conduct. He held that the result of good or bad deeds would depend on the *karma* accumulated by the doer. The sentient beings are born through cause and by reason of love and desire. All impressions experienced by beings are the results of a previously produced cause. Men are born according to their merit as inhabitants of this human world. Mahāvīra had a strong faith in the effect of *karma*. He was a *kriyāvādī* i. e., a believer in the effect of karma (Aṅguttara nikāya, IV, 180). Jainism which is the religion preached by Mahāvīra recognises various kinds of *karma*. In Buddhism, too, there are various divisions of *karma* and there are many kinds of acts or consequences which are manifold in the true aspects in the knowledge of the Buddha or the consequences of *karma*. Mahāvīra preached the theory of Ātmavāda as has been pointed out and discussed by Mr. K. P. Jain in his paper on Mahāvīra and Buddha[1]. Mahāvīra says that he sees the world which is limited by his limited knowledge. ("ahaṁ antavantena ñānena antavantaṁ lokaṁ jānaṁ passaṁ viharāmi" Anguttara N. IV. p. 429) The Buddha refuted this theory by holding that the ultimate limit of the world cannot be reached by

1 At the age of thirty he left his home and became an ascetic (Ācārānga Sūtra, chap. XXIV § 1007)—Editor.

running but it can be attained by practising all the jñānas and finally destroying all the āsavas or sins by wisdom No one can therefore claim the possession of any absolute knowledge. No truth or statement is therefore to be discarded for each truth is arrived at from a certain standpoint which implies a universe of discourse. Thus two truths or two statements which are apparently contradictory and irreconcilable, may be shown to complete each other when considered in the above light. According to him the universe is without beginning and end ; one should abstain from killing living beings, from theft, from sensuous pleasures and spirituous liquor. Mahāvira is said to hold the view like Buddha that a person will suffer the consequences of whatever may preponderate as between an act and the forbearance from it. He put great stress on *manokamma* and *kāyakamma* on the ground of the interaction of body and mind (Majjhiṁa Nikāya, 1,238). In the Sūtrakritāṅga (1, 12, 15). Mahāvira is said to have held that fools cannot annihilate works by works, the wise can annihilate works by abstaining therefrom (Na kammanā kamma khevaṁti vāla akammanā kamma khevaṁti dhiro). According to Mahāvira the four precepts and self-privation are the recognised roads to the blissful state of the soul. The Jains were given to austerity (tapa) to a somewhat less degree as recorded in a Buddhist Suttanta (Digha Nikāya, I., pp. 161 foll.). In Jainism soul is affected by attachment, affection, aversion, infatuation, in the form of the four passions helped by the activity of the body, mind and speech. The soul which has no form is conscious (arupiattāssaññī, Sumaṅgalavilāsini p. 119). Every act of killing is a cause of demerit, whether the act be intentional or not. In a Buddhist commentary while reading the meaning of Cātuyāmasaṁvara with reference to Mahāvira, we find that a nigaṇṭha lives restrained as regards all water, restrained as regards all evils, all evils he has washed away and he lives suffused with a sense of evil held at bay, such is the cātuyāmasaṁvara and since he is thus tied with this fourfold bond, therefore he is a nigaṇṭha (vārita-sabba-udako, paṭikkhittasabba-sitodako ······sabba-vāri-yuto ti sabbena pāpa-vāranena yutto. Sabba-vāri-dhuto ti sabbena pāpa-vāraṇena dhuto-pāpo. Sabba-vāri-phuṭṭho ti sabbena pāpa-vāraṇena phuṭṭho—Sumaṅgalvilāsini, I, 168). By the fourfold self-restraint it means the four moral precepts each of which is viewed in its fourfold aspect. It should be noted that the doctrine of fourfold restraint was promulgated by Pārśvanāth, rather than by Mahāvira. As an improvement on this earlier doctrine, Mahāvira introduced the doctrine of Paññcamahāvvaya or five great moral vows, laying a great stress

1. *Vide* Buddhistic Studies, Ed. by Dr. B. C. Law, pp. 151 foll.

on Apariggaha or not having any stake. Not only in the method of fourfold restraint but also in another matter, namely, the practice of religious suicide (indriyamaraṇa). Mahāvīra tried to effect an improvement by making it optional and restricted. It is distinctly stated that a nigaṇṭha was conscious of living beings being present in cold water (so kira sitodake satta-saññī hoti—*Ibid.*, 168) and it is for this reason that one should not take cold water according to Mahāvīra. A liberated jñātri is of the opinion that those who use weapons, eat poison, throw themselves in fire and water, are liable to be born and die again and again (*Jaina Sūtras*, II, 231-32). According to the Uttarādhyāyana Sūtra those who are well-versed in sacred lore and possess much knowledge are worthy to hear the doctrine of salvation (*Ibid.*, p. 231); those will reap pains who in thoughts, words or acts are attached to the body, to colours and to forms (*Ibid.*, 24-27). It should be borne in mind that Mahāvīra laid equal stress on deed, word and thought and while the whole emphasis was laid by the Buddha on intention or volitional aspect of action alone (*cf. Majjhima Nikāya*, III, 2. 7). According to the Jains each is distinct from the other. Speak not of *karma* but of *daṇḍa*, this was the view of Mahāvīra. According to him there are said to be three causes of sin with regard to deed, word and thought. Mahāvīra fitly described the content of the doctrine of Ajita Kesakambali and he was right in supposing Ajita's doctrine to be one of non-action. Strictly speaking the way for Mahāvīra and Buddha was paved by Ajita Kesakambali whose doctrine was like that of Epicurus. Mahāvīra is right in thinking that Makkhali Gosala's doctrine leaves no room for the freedom of the will.

About the first and second centuries B. C. the Greeks occupied a fair portion of India. Nigaṇṭha Nāthaputta was highly esteemed by the Indo-Greeks (Questions of Milinda, SBE, pt I p. 8). It is stated there that five hundred Greeks asked king Milinda to go to Nigaṇṭha Nāthaputta, to put his problems before him and to have his doubts solved by him. It is evident from the Majjhima Nikāya (vol. II., p. 2) that Mahāvīra was roused by the sophistic activity with which Aṅga and Magadha were permeated. The fame of the great religious reformer spread far and wide and his influence upon the people of his time was very great. The venerable ascetic Mahāvīra had an excellent community of fourteen thousand śramaṇas with Indrabhuti at their head; thirty-six thousand nuns with Candanā at their head; one hundred and fifty-nine thousand lay votaries with Saṇkha-sataka at their head; three hundred and eighteen thousand female lay votaries with Sulasā and Revatī at their head. Mahāvīra's was a successful career of many years as a teacher. Gautama

* Ingini-maraṇa

Indrabhuti was one of his earliest and greatest disciples. He survived his master like other famous disciples, namely, Sudharma, Gosāla and Ānanda.

The principal centres of his activity were Aṅga, Magadha, Kośala, Rājagṛha, Campā, Vaiśālī and Pāvā. Mithilā was his favourite resort. Mahāvīra stayed the first rainy season in Asthikagrāma, three rainy seasons in Campā and Priṣṭicampā, twelve in Vaiśālī and Vānijagrāma, fourteen in Rājagṛha and the suburb of Nālandā, six in Mithilā, two in Bhadrikā, one in Ālabhikā, one in Pānitabhūmi, one in Śrāvastī, one in the town of King Hastipala's office of the writers : that was his very last rainy season. Mahāvīra is said to have performed some of his penances in the country of Avanti. He lived in Videha for thirty years before his initiation (Jaina Sūtras, 1.256). He loved Videha so much that during his later ascetic life he did not neglect the city of his birth and that out of the forty-two rainy seasons of this period of his life, he passed no less than twelve at Vaiśālī (*Kalpasūtra* § 122). Ujjenī was visited by Mahāvīra who did penance in a cemetery there when Rudra and his wife tried in vain to interrupt him. It was only after overcoming this temptation and again entering on his forest life of meditation that, according to the Digambara belief, he obtained Manaḥparyāya jñāna (Stevenson : *Heart of Jainism*, p. 3).

That Mahāvīra was senior to the Buddha in age is corroborated by the Saṁyutta Nikaya[1] where we read that Pasenadi, king of Kośala, said to Buddha, "You are newly ordained and you are junior to Nigaṇṭha Nāthaputta (Samaṇo hi Gotamo daharo c'eva jātiyā, navo ca pabbajjāya). The traditional date of Mahāvīra's death corresponds to the year 470 before the foundation of Vikrama Era in 58 B. C., *i. e.*, 528 B. C. Dr. Charpentier rejects this view and prefers 468 B. C. The Sāmagama Suttanta of the Majjhima Nikāya (II, 243) and the Pāṭika Suttanta of the Digha Nikāya (III) testifies to the fact that Mahāvīra predeceased Buddha by a few years. Dr. Hœrnle conjectures that Mahāvīra died some five years before the Buddha. He is said to have lived 72[2] years and the greater part of his life coincides with that of the Buddha. According to the Jains of the Carnatic he is said to have died in B. C. 663, according to Colebrooke,

1. Vol. I, p. 68; *cf.* Sabhiya Sutta of the Sutta Nipata.

2. According to the Kalpasūtra, out of 72 years of Mahavīra's life, he lived 30 years as a householder and 42 years as a recluse, namely, 12 as a learner, and 30 as a Jina or Kevalin. Again out of the 12 years of his sekhahood, he spent upwards of one year as a clothed mendicant while in the second year he became a naked ascetic (§ 117). Dr. Barua in his work on the Ājivikas, pt. I, says that Mahavīra spent the first year as a member of the religious order of Pārśvanatha, whose followers called Nirgranthas used to wear clothes but in the second year he left that order and joined the Ājivikas (p. 18).

637 B. C. and according to the Jains in Gujarat in 527 B. C. Prinsep makes this event to have happened in 569 B. C. The actual date of Mahāvira's death cannot be ascertained at the present moment. It can be assumed that it was 500 B. C. in round number.

In conclusion we find that Mahāvira played an important part in the religious history of India. To quote the words of a distinguished savant, "Jains have remained as an organised community all through the history of India from before the rise of Buddhism down to-day." (*Buddhist India*, p. 143). They had their ritual code and their religious and philosophical creed and organisation at the time of the Founder of Buddhism. The Jains formed a large and influential body even at the time of the Buddha. Prof. Jacobi is right in pointing out that the interest of Jainism to the student of religion consists in the fact that it goes back to a very early period and to the primitive currents of religious and metaphysical speculation which gave rise also to the oldest Indian philosophies—Sāṅkhya and Yoga, and to Buddhism (Hasting's *Encyclopædia of Religion and Ethics*, p. 465). After all Mahāvira was a great figure in human history, a religious reformer, and original thinker, to whom we should pay our respectful homage.

An Examination of the Jaina Account of the Kulakaras

(By HARISATYA BHATTACHARYYA, M.A. B.L.)

The Jaina mythology asserts that at the beginning of the temporal cycle, there was the *Kalpa Briksha*, a tree which used to yield to people whatever they wanted. The march of time, however, began to disturb progressively this original state of bliss. The Kalpa Briksha began to conceal itself till it was no more. With the disappearance of the Kalpa Briksha, fears, troubles and wants worried men and it was the 14 Kulakaras who consoled and comforted men at the 14 stages of misery of the human society. The first Kulakara, Pratisruta, taught people that the Sun and the Moon, the two heavenly luminaries, were but objects of nature and that people had nothing to fear from them. The second Kulakara, Sammati, taught the same thing about the Stars. Kshemankara, the third Kulakara, asked people not to trust the ferocious beasts and the fourth, Kshemandhara, taught them to arm themselves with sticks, etc., for their

safety. Simankara, the fifth Kulakara, arranged boundaries to provide against growing disputes among men and the sixth Kulakara, Simandhara, carried this process still further. The seventh Kulakara, Bimala-vahana, taught people to domesticate many beasts which were hitherto wild and ferocious. The eighth, the ninth and the tenth Kulakaras, Chakshusman, Yasasvan and Chandrabha taught many useful things about children and child-birth. Marudeva, the twelvth Kulakara, taught ways of crossing water-ways, ascending hills, etc. The custom of marriage was introduced by Prasenajita, the thirteenth Kulakara while cultivation, manufacturing and arts of civilisation were initiated by the fourteenth Kulakara, Nabhirai.

The first question that we may ask ourselves is : Are there any matters of philosophical interest in the above Jaina account of the Kulakaras ? What attracts our attention is that a primaeval state of bliss is supposed to exist before the emergence of the present world with all its cares and troubles. This state of bliss as described by the Jainas is somewhat similar to the happy existence of the human race in the *Krita* or *Satya Yuga* at the outset of the present temporal series, as conceived by the Vedic people. The Jaina account is strikingly similar to the Judaie account of the blissful state in tha Garden of Eden. It should be noted that while the Jaina account and the account of the Vedic school speak of the then whole human race as enjoying the state of bliss, the Jewish account reserves it for one solitary pair of individuals who are the original parents of the human race. If, however, we are to read any esoteric matter in the glowing accounts of the original state of bliss,—it matters little whether the state of bliss is stated to be for the individual or for the whole human race.

It is pointed out that the state of bliss in the Garden of Eden as described in the Jewish mythology represents a state of absolute and complete ignorance, a stage, characterised by an utter want of discrimination, analysis and synthesis.

Sociologically, it represents that primaeval stage of the human society, when it is scarcely distinguishable from a herd of beasts and psychologically, the state of mind in a new born babe. The tasting of the fruit of the Forbidden Tree of Knowledge really means the rise and operation of the discriminating faculty in man,—the birth of real manhood—allegorically described as the Fall of Man, which is justifiable only in the sense that "where ignorance is bliss, it is folly to be wise."

It is doubtful if this form of interpretation would apply to the Indian account of the primary state of bliss and fall therefrom. The Indian Kalpa Briksha cannot be identified with the Jewish Tree of Knowledge for the simple reason that while the tasting of the fruit of the Tree of Knowledge brings about the downfall of man, it is the very appropriation of the fruits of the

Kalpa Briksha that constitutes the state of bliss. What, then, is the Kalpa Briksha and what can be its esoteric significance ? Literally, Kalpa Briksha means a tree which yields fruits in accordance with the wishes of a man. The Jainas, as we have seen, have such a tree in the *Bhogabhumi*, *i. e.*, in the primeval period of enjoyment. According to the Vedic legends, the blissful heaven (*Swarga*) has a Kalpa Briksha wherefrom people who have led a meritorious life in this world, get enjoyments in the form of fruits, in their life hereafter. Thus we understand that Kalpa Briksha yields enjoyments in accordance with a man's good acts, done in his previous life. In the Upanishat, we meet with a description of a bird enjoying the sweet fruits of a tree. The sweet fruits are explained as the fruits of good acts and the eater thereof, the enjoying human soul. The highly enjoyable fruits of the Kalpa Briksha mean thus, the good effects of a man's good acts. The disappearance of it means ceasing to enjoy the good effects of good acts and fresh entrance into the life of toil and moil. This is made clear in the following utterances of the Revealer of the *Gita* : "They (*i. e.*, those who did good acts) enjoy the extensive heavenly region and when their merit thus comes to an end, they re-enter this world of death." The succession of Bhogabhumi by Karmabhumi,—as described by the Jainas must mean the same thing, *viz.*, that man enjoys the good fruits of his good acts and that when there remain no more good fruits to enjoy, he comes back to his life of labour.

Thus the state of bliss in the Jewish legends is different from that in Indian mythology. In the former, it is the bliss of ignorance ; in the latter, it is the bliss as the result of good acts ;—a real bliss crowning the sustained restraint of a moral life. As regards the fall from the primeval state of bliss, the significance of the two accounts is also different. The Jewish account says the fall is due to Knowledge. But it has always been rightly questioned whether ignorance is real bliss and whether wisdom is folly and, as such, brings about the fall of man. On the other hand, it has been rightly maintained that knowledge constitutes the true nature of man and, far from causing his downfall, leads him to his true goal. The Indian account of the fall indicates only the scientific fact that when there is no more good fruit to be enjoyed. man is compelled to come to the world of labour by the force of the *Karmas* which up till then remained dormant in him. It seems that at the back of the Indian account there is the Law of Karma with its corollary, the Law of Re-incarnation,—both of which are foreign to the Jewish legends.

It would appear from what we stated above that the interpretation put on the Jewish account of the state of bliss and the fall of man lacks scientific support. Cannot a better interpretation be put on the allegorical theory ? We are not sure,—but we feel that the following interpretation would not only make the Jewish account more consistent with the true principles of moral philosophy but would do a great deal in unifying the two accounts, the Indian and the Jewish. The state of bliss indicates the state of the true self,—that blissful state in which one's self realises itself, *i.e.*, views itself in all things and all things in itself. In this state, the self enjoys itself and can never be in want of true enjoyment. This happy state terminates and man experiences fall when he tastes the fruit of the tree of lower or false knowledge,—estranges himself from his true self, *i. e.*, when on account of *Raga* and *Dvesha*, attachment

and envy, he is tempted to discriminate between his true self and false or lower self, and identify himself with the latter. When this happens, true enjoyment which consists in the pure enjoyment of the self by the self, vanishes,—Kalpa Briksha conceals itself,—man is driven from the Garden of Eden,—he comes to the world of pain and death,—he finds himself in the *Karmabhumi*—God's curse is on him —a poor creature that he is then, he is subjected to endless troubles, diseases and death,—Lo! verily man has then his fall!

Another point to which our attention is bound to be attracted in connection with the Jaina account of the Kulakaras is the recognition of the principle of continuous development, operating in the process of social evolution. In the literature of all the ancient nations, we meet with the descriptions of an ideal state of affairs at the primeval period and very seldom come across any recognition of the fact of gradual evolution of the various arts of civilisation. In fact, it is in the Jaina account that we see the first attempt to conceive the human society as a living organism which has its history apart from the history of its individuals and its own peculiar struggles and adaptations. Even so modern a thinker as Comte contended that "the anatomical and physiological study of individual man" ought to precede the study of the human society. While admitting the great service which Comte did to the science of sociology by applying the biological method to the study of the social progress,—the later evolutionary school of sociologists have thought it right to take a position almost reverse to that of Comte, *viz.*, that the development of the individual must to a large extent be regarded as the correlative of the social process in evolution. The application of the law of Natural Selection to the science of Sociology implies that the development of society need not be exactly in the line in which an individual develops. An individual grows by doing acts which give him "increased satisfactions". The first rudiments of social organisation, on the contrary, arose from the fitness in the struggle for existence, under the sternest conditions of Natural Selection and Adaptation,—and not from conscious regard to "increased satisfactions". A curious corroboration of this doctrine of social evolution by natural selection and adaptation is afforded by the Jaina account of the Kulakaras. It is not stated that the human society developed the various arts and sciences from a desire to *increase* the existing amount of their pleasures and enjoyments; we are told, on the contrary, that with the progressive disappearance of the Kalpa Briksha (whatever the story may mean),—Nature presented shocks and frowns before the awe struck human society and that the society through its Kulakaras, met them with efficient measures, thus adapting itself fully to the changed circumstances and making itself fit for survival.

According to the Jaina account of the Kulakaras, roughly speaking, man's attention was first attracted towards the heavenly luminaries. Astronomy was thus the first science developed among men. After that, man turned round his surroundings, differentiated himself from the beasts, with the gradually evolving consciousness of his own nobler nature and finally made successful provisions for his own protection from the fury of his quadruped neighbours. After settling accounts with his ferocious enemies of the sub-human species, man turned to his surroundings nearer home and and made arrangements for the

peaceful supply of the necessaries of life to all the individuals of his own species. Thus putting his own house in order, he made his former sub-human enemies serviceable to him as far as possible. Well-provisioned in his own home and master over the sub-human beings,—man directed his attention to the eradication of troubles relating to body. The very first thing he did, was to see that every human child was safely born, that no calamities occurred to the parents due to child-birth and that the child was strong, hale and hearty. After this, man took to adventure,—crossed seas and ascended the high hills. As a result of all this, the society became highly complex,—and the need for the establishment of law and order became insistent. Marriage was the first institution introduced. Pastoral or nomadic life or other modes of uncertain living gave way to agriculture. Manufacturing also came into vogue and earthen pots began to be made and used.

The above is the order in which the archaic human society is said to have evolved in pre-historic days,—an age long before the establishment of any firm government or even the tribal rule. Whether this was exactly the order is more than what we can definitely say. This much, however, is certain that phenomena of the heavenly luminaries, the Sun, the Moon, the Stars attracted the earliest attention of man. Without entering into the vexed question as to who were the first people to cultivate the science of astronomy, we may say that all the ancient peoples, *viz.*, the Chaldeans, the Egyptians, the Greeks, the Chinese, the Indians, the Peruvians took to the study of the heavenly phenomena from the remotest ages. Accordingly the assertion that "Astronomy may probably be regarded as the most ancient of the sciences" (*Encyclo-Brit.* 9th Edn. Vol. II., p. 744) is not without reason. The Judeans have the story that the Antidiluvian sages learning from Adam that the earth was doomed to universal destruction by fire and water, erected two columns of brick and marble on which they engraved the elements of their astronomy in order to preserve them.

If the theory of evolution is true, it may be admitted that in some remotest past, human species lived in the forests with beasts. The fact cannot be assailed on the ground that the difference between man and beast is so great that they cannot be supposed to have possibly lived together at any time. As a matter of fact, modern observers have been convinced that the difference between a man at the lowest stage of civilisation and a beast is not so great as that between that man and an enlightened European. This shows that the present-day difference between man and beast is the effect of long and continuous evolution. C. Wright in his remarkable essay, "The Evolution of Self-Consciousness," clearly points out how man's highest mental operations evolved out of simple processes common to man and the lower animals. "The lord of the earth," says Dr. Prichard, "who contemplates the eternal order of the universe and aspires to communion with its invisible Maker, is a being composed of the same materials and framed on the same principles as the creatures which he has tamed to be the servile instruments of his will or slays for his daily food." Man's power of observation and learning by experience gradually grew and this was probably what estranged man and beast from each other. The two species, hitherto living as friendly neighbours, became disgusted wi.h each other ; man was becoming milder and milder and consequently felt the necessity of living separately from the herd of beasts in order to save himself from its ferocity ;

later on, man invented weapons of defence and offence and finally made the beasts subordinate to him and actually domesticated some of them. We cannot say whether this account is correct in all its details; but it has the merit of presenting at least an intelligible description of an undoubted stage in the prehistoric evolution of man as a social creature.

It can be well understood that when the human species was put on the path to further development, the very first thing that it would do, was to avoid quarrels regarding the necessaries of life generally, and food especially. For this purpose, a delimitation of "the spheres of influence," so to say, was effected.

The establishment of separate zones would inevitably lead to the formation of groups and tribes. The strength of a tribe lies in the number and quality of its individuals and it is no wonder that child-welfare would receive the early attention of man,—however crude.

Growing strength of man would make him take a fearless, nay, aggressive attitude towards nature which would lead him to cross seas and ascend hills, etc.

Complexity of society consequent on the adventurous habits of man required organisation of society. Marriage is admittedly one of the earliest institutions. With the introduction of agriculture and manufacture, the primeval state of human society may be said to have ended and civilisation in the full sense of the term ushered into progressive advance.

In recent times, attempts have been made to determine the various stages of the progress of the early human race towards civilisation. The classification of these stages made by Nilsson and Thomson is generally accepted and these are respectively termed the Stone, the Bronze and the Iron Ages. But while this classificatton has proved a guide of extraordinary value in arranging in their proper order the stages of man's progress in Asia and Europe, it is worth noting that in Polynesia, Central and South Africa, America (except Peru and Mexico), the early natives had no Bronze Age at all, but moved directly from the Stone to the Iron Age. So, this classification cannot be said to be capable of universal application. The other classification, *viz.*, that into Savage (*i. e.*, the stage in which the Australians and the forest Indians of Brazil are found), the Barbaric (the stage in which the Germanic people were, as described in the Roman literature) and the Civilised (the stage in which the Greeks and the Romans were, even in the pre-Christian period), is certainly more precise, as also the theory of the line of progress, alleged to have been followed by people passing from the primitive state of the wild hunter, fisher and fruits gatherer to that of the settled tiller of the soil. One thing that can be said about all these modern modes of classification is that most of them seem to begin at the *tribal stage* of the human society and do not push the enquiry further back. The Jaina account of the Kulakaras, on the contrary, presents the human society in its most primitive stage conceivable, *viz.*, in the stage when it is scarcely distinguishable from a herd of beasts. It should accordingly receive due notice of the sociologists before it is flung aside as a worthless fable.

Some Distinctive Features of Lord Mahavira's Teachings

(By SUSHIL)

Self-Exertion

Salvation according to Jainism, is quite independent of the worship or favour of any particular person or deity, born or yet to be born, in the world. Though there is no gainsaying the fact the teaching was given in its present form by the Lord Mahavira himself yet he never pretended to vouchsafe the Salvation of man through his worship alone. He did not even pose as one who would intervene on behalf of his worshippers in the working of the great Law, *viz.*, "Man reaps as he sows." He showed the utter futility of fetichism which predominated in his times and deeply imprinted on the moral consciousness of humanity that spells and prayers and sacrificial formulæ and such other processes employed to humour innumerable elemental deities were only calculated to impair their spiritual health and suppress the divinity, that lay within them. He convinced the people that fire, sun, water, lightning, rain, etc., were only the phenomena of nature subject to fixed laws and all the entreaties of men either for their protection or welfare did but fall on deaf ears. He dissipated their notions that those lifeless elements could ever consciously or intelligently operate to their harm or benefit. He succeeded in winning mankind back to their normal state and awakened them to their inner grandeur and infinite possibilities of their unfoldment, directing their energies in the channels of pure spirituality. He taught that man was God in embryo and it was only through self-endeavour and self-exertion that the latent Godhood was to be realized. All adventitious aids were only but in the nature of addendum or impetus. If man obeyed the laws prevailing in the region of spirit his salvation was assured. There was only one and not two paths leading to that supreme goal, irrespective of any help from without. Favouritism he discouraged and denounced. He did not offer himself as an object of worship for mankind, but only proclaimed to them that he had reached the acme of spiritual evolution and that they too might reach the same if they only followed the line along which he had walked. His only title to glory and our respect rests on the basis that he discovered the laws, which, if followed in their entirety, would ensure freedom from the thraldom of *Sansara*.

Let Live or Ahmisa

Mahavira recognised the unity and granduer not only of human beings only but of the whole sentient creation. Sub-human creatures, he preached, have equal rights with the human ones to live unmolested to the end of their natural lives. He abolished the oligarchy of man and established the democracy with equal rights for all creatures, high or low, to fully live out their alloted period of life. He formulated a scheme of grand practical

utility, which recognised the brotherhood not of man only but of all the living creatures. Sub-human life is too sacred and sublime to be used as an offering in sacrificial rites. Though all contemporary creeds recognised more or less the same code of morals but it was practically confined within the narrow limits of the interests of human beings only. Mahavira awakened the tender emotions and finer feelings of man towards their mute bretheren on the lower stages of evolution and thus humanised the society in which he moved. Hurting or taking the life of animals was arresting the growth of their evolution, and the violation of that fundamental law of nature is bouud to react on the evolutionary growth of those who break the law. The doctrine of non-killing and sanctity of life is not based, as is generally supposed, on the utility of lower creation to men. It rests on the positive principle that every member of the animate world has equal right to live unmolested by others. Man is not the flower of creation or the glory of God in the sense that he is entitled to make their less developed brethren subservient to his selfish purposes. His greatness or superiority is not meant to be employed to check their progress or obstruct their growth, but to help them and quicken their evolution. When he does the reverse, the effect rebounds on his own unfoldment. Whoever stands in the way of others evolution, by means of thought, speech or act, retards his own advancement on the path.

Live or Improve and Enlighten Yourself

He declared the path of liberation equally open to all. Religion is a common property of all who can take possession of it. It is not the exclusive monopoly of the upper classes only, as was believed in Mahavira's time. He dissipated the fallacy, that only the high-born beings can practise religion. He delivered the message of consolation to the masses that salvation was not reserved for an ambitious few. He swept away all arbitrary distinctions of petty creeds and castes and made his banner the rallying point for humanity in general, whether they be high-born or low-born, twice-born or once-born. He introduced a healthy spirit of liberalism in the society and made religion a living vital thing and lifted it up from the low level of a profession into which it had fallen in those days. He told that though the path was long and the travel a weary one, yet all could pursue it if only determined to walk unswervingly along it and guard against wandering into tempting bye-ways. The supreme goal shines at the end of the hard journey, but the now struggling soul shall surely reach it one day if it persistently pushes on towards it. "Utilise all your opportunities," he said, "to that one end, and subordinate all other purposes to it; work not with a view to any earthly glory. Life is not a holiday enjoyment. It is meant for regeneration and growth, so conform it to that great object or else you are doomed to degenerate and go down in the scale, and when once you are tending downwards, there is no knowing where the fall shall cease. You cannot stand still and stagnant. The laws of universe cannot allow you to remain unmoved. However it is left to you to move either heavenward or hellward. Then why not look high and move towards God? Light up all your candles on the altar of the almighty principle that is slumbering in you. Awaken your self therefore to your birth-rights—Peace, Power, Bliss and Immortality."

Renunciation and Asceticism

There was no organised or constituted order of congregated ascetics before the advent of Lord Mahavira. He soon found that the minds of individual mendicants naturally and even unconsciously turn to earthly things when allowed to live singly. To set this right he instituted *upashrayas* or resting places for monks and created a highly specialized ideal of ascetic life leaving no loophole for the minds of the members of holy order to escape through, and created a very wholesome spiritual atmosphere in which the aspirants can maintain their lives immaculate. It appears that the worship of Shri Krishna has assumed an exasperatingly debased form and his early life had come to be invested with a disgustingly amorous aspect, in Mahavir's times. Tendencies of sensual enjoyment were running high, and the rising tide of this demoralising feeling he endavoured hard to stem by guiding men to the ideal of asceticism and absolute renunciation of both of which he exemplified in his own self.

The very great emphasis that he laid on the efficacy of fasts and suppressing of the senses, sometimes verging almost on the torturing of the flesh is suggestive of the revulsion of feelings that laboured to bring about in the minds of men from the pleasures of the senses which, it seems, were incorporated with the prevailing modes of religious practices in those days. Shri Krishna's noble teachings were distorted and he was identified with pleasures of an unhallowed character. Such a spirit of amorous indulgence though wholly inconsistent with his teachings in the immortal Bhagwat Gita, had, somehow, stolen in upon his followers. These unhealthy and highly immoral tendencies were supplanted by a strong wave of asceticism under the mighty leadership of Lord Mahavira.*

* Reprinted from 'Jaina Conference Herald.'

भगवान महावीर और उनके अनुयायी

कार्तिक मासकी काली अमावस्या है। अर्द्धरात्रिका समय है। चारों ओर गहरा अन्धकार छाया है, किन्तु अपापा नगरीके निकट यह सूर्यका-सा प्रकाश क्यों दृष्टिगोचर हो रहा है? अहा! कैसा अलौकिक दृश्य है। विश्वकर्माकी कलाको तुच्छ करनेवाला समवसरण दृष्टि-पथमें आता है, जिसके मध्यमें सुन्दर सिद्ध शिलापर महान बिभूति विराजमान हैं। इनके दिव्य शरीरकी कान्ति सूर्यके समान चकाचौंध पैदा करनेवाली है। इनका दर्शनमात्र हृदयमें सद्भावोंका संचार करता है। इनका सामीप्य आत्म-विस्मृतिकारक है।

यह महान बिभूति, त्याग, क्षमा और तपस्याकी साक्षात मूर्ति वीतराग महावीर हैं। ये जगद्विजयी हैं, किन्तु विश्व प्रेमकी भावना ही इनका शस्त्र है। इन्होंने दमन किया, किन्तु अदम्य मनोविकारोंका। ये शत्रु हैं, किन्तु राग-द्वेषादि कषायोंके।

चारों ओर निस्तब्धताका अखंड साम्राज्य है। क्या मनुष्य, क्या पशु, क्या प्रकृति—सभीने गहरी नीरवता धारण की है। यह असाधारण शान्ति निकट—भविष्यमें होनेवाली किसी महान घटनाकी परिचायक है। सबके ध्यान उस घटनाकी प्रतीक्षामें केन्द्रित हैं।

भगवान वीरने ही उस निस्तब्धताको भंग किया। उनके सुमधुर उपदेशामृतकी धारा बह चली। चारों ओर बैठे हुए भक्तजन अपने आपको भूलकर उस प्रवाहमें निमग्न हो गये।

उनका सम्भाषण क्या था, प्राणीमात्रके अपार दुःखोंको अंत करनेका उपाय; परम ध्येय-प्राप्तिके रामबाण साधन बतलानेका अन्तिम प्रयत्न था, जिसके लिए संसार उनका सदा ऋणी रहेगा।

अब उस अटल भावी घटनाका समय आया। संसारको अपने उद्धारक, त्रातासे भौतिक वियोग होनेके लिए तैयार होना पड़ा। महावीरने भीषण तपस्यासे केवल ज्ञानकी प्राप्ति की थी, और अतीव दुःखी जीवमात्रके उद्धारके लिए प्राप्त ज्ञान प्रकाशित किया था। उन्होंने कठोर कर्तव्य-पालनसे मोक्षके कर्म उपार्जन किये, और अब उनका मृत्युलोकका कार्यकाल समाप्त हो गया था। अतएव वे समाधिस्थ हो निर्वाण-पदको प्राप्त हुए। दुर्लभ मोक्षका स्वामित्व पाया।

जो महापुरुष अपने जीवन-कालमें पवित्र कर्तव्य पालनसे दुष्प्राप्य मुक्ति-पदके अधिकारी हो जाते हैं, उनकी मृत्यु निर्वाण नामसे सम्बोधित की जाती है, और वह शोक नहीं, प्रत्युत बहुत आनन्दका

अवसर माना जाता है। सच है, मुक्ति-प्राप्तिसे अधिक आनन्दका अवसर क्या होगा ?

इसी नियमके अनुसार भगवान वीरका निर्वाणोत्सव भी बड़े समारोहके साथ मनाया गया। राजा और प्रजा सभीने दीपावली जलाकर तथा अन्य प्रकारसे उत्सवमें उत्साहसे भाग लिया।

× × × ×

इस असाधारण घटनाको हुए दो हजार वर्षसे अधिक हो गये, किन्तु हम आज भी भगवान वीरका निर्वाणोत्सव उसी उत्साहके साथ मना रहे हैं, और जब तक जैनधर्म रहेगा, मनाते जायेंगे। किन्तु प्रायः ऐसा होता है कि बहुतसे महान आत्माओंके अनुयायी उनकी जयन्ती और निर्वाण उत्सव बहुत जोशके साथ मनाते हैं; क्योंकि अपने अनुयायित्व प्रदर्शन करनेका यह सबसे सरल मार्ग है, किन्तु जब उनके वास्तविक अनुयायी होनेके दावेपर विचार किया जाता है, तो पूर्णतया हताश होना पड़ता है। दुर्भाग्यसे हम जैनियोंकी स्थिति भी कुछ ऐसी ही प्रतीत होती है!

हम अपने आपको बड़े गर्वसे महावीरके पुत्र कहते हैं। उनके अनुयायी होनेका दावा रखते हैं। अधिक क्या कहें, हमने महावीर जैसी विश्व-विभूतिको अपनी निजी धरोहर बना रखा है। इससे सरल निष्कर्ष यह निकलता है कि हम भगवान वीरके आदर्शोंका अक्षरशः पालन करते होंगे, किन्तु वास्तविक स्थिति इससे बहुत दूर है। इसको स्पष्ट करनेके लिए हम मोटे-मोटे सिद्धान्तों और उनके पालनपर संक्षेपतः विचार करेंगे।

प्रथम विश्व-प्रेम और स्याद्वादको लीजिए। भगवान वीर विश्व प्रेमके पुजारी थे—उस पवित्र सन्देशके महान प्रचारक थे; किन्तु आज उनके नामधारी अनुयायियोंके ऊपर दृष्टि डालिये। उनमें विश्व प्रेम तो क्या, 'पारस्परिक' प्रेमका भी सर्वथा अभाव है। हमारे यहाँ कितने मत-मतान्तर हैं, और वे आपसमें कितना घोर द्वेष-भाव रखते हैं! जब संसार महावीरके पुत्रोंको तीर्थोंपर लड़कर लाखों रुपया गँवाते, आपसी धड़ेबन्दियोंमें सिरफुटौवल करते देखता होगा, तो क्या उसे हमारे सिद्धान्त-पालनपर तरस न आता होगा? फिर क्या श्वेताम्बरी, क्या दिगम्बरी, क्या स्थानकवासी, क्या तेरहपंथी—सभीमें असीम असहिष्णुता बढ़ गई है। वे गला फाड़-फाड़कर चीख रहे हैं कि उनका मत ही सर्वश्रेष्ठ है, और सब झूठे हैं। इस कारणसे समाजमें एक अनोखी अशान्ति फैली हुई है। अनेकान्तवादके पुजारियोंकी यह संकीर्ण एकान्तवादिता कितनी हास्यास्पद है!

फिर साम्यवाद और अहिंसाको लीजिए। भगवान महावीरने स्त्री-पुरुष, धनी-निर्धन सबके लिए मुक्तिका एकसा ही मार्ग बतला दिया था। सम्राट् श्रेणिक या एक दरिद्रातिदरिद्र उनकी दृष्टिमें समान स्थान रखते थे। केवल निर्धन होने ही से कोई हीन नहीं समझा जाता था, किन्तु आज हमारे समाजमें धनी और निर्धनका भेद-भाव कितना बढ़ गया है। विवाह, श्राद्ध, यहाँ तक कि धर्मपर भी, चाहे वह आडम्बर हो, धनिकोंने अपना एकतन्त्र आधिपत्य (monopoly) जमा रखा है। फिर कहाँ महावीरके समयका स्त्रियोंको गृहलक्ष्मीका स्थान और कहाँ आज उनका पैरकी जूतियाँ माना जाना?

अहिंसाका पवित्र सिद्धान्त भी अब हमारे लिए केवल लकीर पीटना हो है। जब अपने बीचकी विधवाओं और अनाथोंके करुण क्रन्दनके लिए हम बहरे हैं, हमको सुखी बनानेवाले कृषकोंकी दारुण दशा दृष्टिमें नहीं आती, भोजोंमें माल मारते हुए हमको क्षुधासे मृतप्राय अपने देशवासी नहीं दिखते, तो हमारी अहिंसा और दया ढोंग नहीं तो क्या है?

ऊपर केवल बहुत संक्षेपमें ही विवेचन किया गया है। इसी प्रकार अन्य सिद्धान्तोंके पालनके विषयमें भी बहुत कुछ कहा जा सकता है।

इतना होते हुए भी हमारी परिस्थिति वास्तवमें पूर्ण निराशा-जनक नहीं है। हमें विश्वास है कि हमारे मुनिवर केवल भिक्षुक ही नहीं रह गये हैं, उनमें आत्मबल भी है। वह आत्मबल, जिसकी झलक अभी यरवदा-मंदिरसे प्रकट हुई थी। हमें आशा है, वे मुनि स्वयं उन महावीरके सिद्धान्तोंका पूर्णतया पालन कर जैन-जगतके सामने आदर्श रखेंगे। हमें आशा है कि हमारे वीर युवकोंको इन त्यागियोंसे पवित्र उद्देश्य-पूर्तिमें पूरी मदद मिलेगी। हमारे पारस्परिक द्वेषभाव और अज्ञानताका अन्त होगा। सत्यता अपने यथार्थ रूपमें प्रकट होगी। सामाजिक असमानताओंका नाश होगा। हमारी आशाएँ सफल हों, जिससे हम महावीर-निर्वाण मनानेके योग्य सिद्ध हो सकें।

—श्री तेजमल हरखावत

उद्धारक महावीर

[श्री रामकुमार जैन न्यायतीर्थ हिन्दी प्रभाकर]

१—संगीत जिसके गा रही है मेदिनी भर मोद में।
यह आर्य भू पावन हुई, जिसको खिला कर गोद में॥
निर्भय किया जिसने जगत को, स्वयं अभयंकर बने।
वे वीर जगको क्षेम कर हों, स्वयं क्षेमंकर बने॥

२—शुभ गुण-निकेतन है तुम्हारी वर्द्धमान महा कथा।
तेरी कथा से ही यहाँ प्रचलित शहीदों की प्रथा॥
काली निशा जाती रही, फैली अरुणता धर्म की।
तन्द्रा-विहित को नाथ दी, शिक्षा तुम्हीं ने कर्म की॥

३—हा ! क्या भयानक दृश्य था, आँखें अहो ! चकरा गईं !
रोमांच तनमें हो गया, जिह्वा अहो ! पथरा गई !!
बस ! स्वार्थ ही उद्देश्य था, जग स्वार्थ में ही लिप्त था !
भाई बहाता स्वार्थहित बस भाइयों का रक्त था !!

४—जब दीन जन के कंठ में थे रूढ़ि के ताले जड़े।
थे काग मोती चुन रहे और हँस थे भूखे पड़े॥
माया बनी थी मंजु वदनी, पुण्य करना पाप था।
हा ! जहर अमृतसा बना था, क्या प्रभो ! अभिशाप था॥

५—सारांश यह भारत न भारत रह गया था हे प्रभो !
'कब नाश होगा दुःख का' सब कह रहे थे हे विभो !
शासक बने राक्षस सभी, रक्षक अहो ! भक्षक हुए।
कल्हार थे जो कण्ठ गले के, आज वे तक्षक हुए !!

६—तब बाल-रवि सम हे प्रभो ! तुम जगतमें प्रगटित हुए !
आशा बँधी भोले जनों को, दुख सकल विघटित हुए ॥
अरिगण स्वयं ही झुक गये, "तेरी शरण में नाथ हम" ।
कर जोड़ बोले "नाथ ! रख लेना हमारी लाज तुम" ॥

७—प्रभुने विलोका, रक्त से रंगित सकल दुनियाँ हुई ।
भोले जनों के बोध हित तेरी मधुर-ध्वनियाँ हुई ॥
जो तृषित चातक के लिये हैं मेघ की कणियाँ हुई ।
तेरे अहिंसामय वचन हैं धर्म की मणियाँ हुई ॥

८—स्यन्दन बना कर धर्म का, फहरा अहिंसा की ध्वजा ।
घोड़े बना कर सत्य के तेरी बनी निजकी प्रजा ॥
आहा ! नया ही मार्ग था, हिंसा न हो और जय रहे ।
क्या ही विमल सन्देश था सारा जगत निर्भय रहे ॥

९—"हो आचरण निर्मल हमारा देव ! जग में सर्वदा ।
भक्ती तुम्हारी आमरण हे नाथ ! हो मुक्ति प्रदा ॥
इस भव्य-मानस में बसे प्रभुवर तुम्हारे चरण हों ।
हे भयहरण ! मरणान्त तक तेरी सदा हम शरण हों ॥"

१०—विस्मय भरा यह नाद था तव भक्त गणका भक्ति से ।
होकर विरत भी वे लगे तव भक्ति में अनुरक्ति से ॥
वे थे दया के कोष लेकिन शक्त थे व शक्ति से ।
शुभ कर्म में आसक्त थे, होकर रहित आसक्ति से ॥

११—हर घर, नगर, मन्दिर तथा बनमें तुम्हारी गर्जना ।
करती रही पापी जनों को, ताड़ना और तर्जना ॥
व्याख्या तुम्हारे तत्त्व की, गौतम सरीखों ने सुनी ।
सुर-नर तथा बनचर सभी सुनते रहे दिव्य ध्वनी ॥

१२—तेरा श्रमण समुदाय था प्रत्येक कूचे में फिरा ।
दे धर्म की शुभ देशना, सब शोक नरगण का हरा ॥
वे स्वावलम्बी, स्वयं सेवक, राष्ट्र सेवक संत थे ।
बस, लोक-सेवा के लिये, उनके महाव्रत पंथ थे ॥

१३—चार्वाक, नैयायिक तथा ये न्याय, मीमांसक सभी।
शौद्धोधनी अरु सांख्य भी थे दूर तत्त्वों से सभी॥
हा! धर्म की वह दुर्दशा शास्त्रार्थ की छुरियाँ चलीं।
आश्रय दिया तुमने कि जब जड़ धर्म-वृक्षों की हिलीं॥

१४—षट् स्रोत दर्शन के बहे, स्याद्वाद रत्नाकर भरा।
जिसमें निमज्जित हो गईं, एकांत क्षेत्रों की धरा॥
ऊसर पड़ी थी भूमि जो, फिर हो गई वह उर्वरा।
चलने लगी फिर वेगयुत ध्रुव धर्म की ध्रुव-तम धुरा॥

१५—हे कर्मवीर! सुमार्ग में विपदा जहाँ तुम पर पड़ी।
तुमने प्रभो! समझा उसे अपनी विजय की शुभ घड़ी॥
सत्याग्रही तुम श्रेष्ठ थे, तेरी तपस्या थी कड़ी।
उस तत्व की ही स्वच्छ-छाया आज मोहन पर पड़ी॥

१६—जब याद आती है तुम्हारे नाथ! मानस्थम्भ की।
पुलकित वदन होता तथा मिटती व्यथा दुखद्वन्द की॥
नृप, शूद्र बैठे एक आसन पर जहाँ, समभाव से।
हे साम्यवादी! मृग तथा मृगराज खेले चाव से॥

१७—क्या क्या विशेषण दें तुम्हें, तुमही हमारे सर्व हो।
तुम ही हमारी लाज हो; तुमही हमारे गर्व हो॥
हम जीर्ण-शीर्ण तथापि हैं जिन्दे तुम्हारे नाम पर।
मुख से निकलता धन्य है, प्रभुवर! तुम्हारे काम पर॥

१८—दीपावली के व्याज से, द्योतित तुम्हारी है प्रभा॥
बलिहार तुम पर हो रही, अब तक शहीदों की सभा॥
हे देव! ये दीपक नहीं केवल तुम्हारी कीर्ति है।
दीपावली स्वामिन्! तुम्हारे ही विरह की पूर्ति है॥

--:o:--

गौतम-गाथा



[श्री सिद्धराज ढड्ढा एम० ए० एल एल बी०]

दो हजार चार सौ अट्ठावन वर्ष पहिले की बात है, पीड़ित मानव जाति को शान्ति का सन्देश सुनाते हुए अनन्तज्ञान संयुक्त युग प्रधान श्री महावीर अपने शिष्यादि समुदाय के सहित विहार करते करते अपापा नगरी पहुंचे। ब्राह्मण कुलोत्पन्न गौतम गोत्रीय शिष्य शिरोमणि इन्द्रभूति भी साथ थे।

अपापा में प्रवेश करते ही गौतम की पुरानी स्मृतियाँ फिर ताज़ा हो गईं। लगभग तीस वर्ष पहिले का वह चित्र गणधर गौतम की आँखों के सामने आकर खड़ा हो गया जब इसी अपापा के निकटवर्ती महासेन उद्यान में पहिले पहल स्वयं बुद्ध भगवान महावीर से उनका साक्षात् हुआ था। वह विशाल देव रचित मनोहर समामण्डप! धर्मोपदेष्टा की वह शान्त गम्भीर तेजोमय मुखमुद्रा! और उपदेशामृत का पान करने को उत्सुक वह असंख्य प्राणी समुदाय!—एक एक करके वह सब गणधर की आँखों के सामने नाचने लगे। सभामंडप में अपना अहङ्कार युक्त प्रवेश किन्तु शंका का समाधान हो जाने पर वह अद्भुत हृदय परिवर्तन—याद आ जाने से गौतम के मुखमण्डल पर एक हलकी सी स्मित की रेखा खिंच गई।

"इस बात को आज लगभग तीस वर्ष होने आये"—गणधर ने मन ही मन सोचा—"तब से मैं निरन्तर एक चित्त से भगवान की सेवा में रहा हूँ। उनकी सेवा में अथवा उनकी आज्ञा का पालन करने में कभी मुझ से भूल हुई हो ऐसा मुझको याद नहीं। उनके बताए हुए मार्ग का भी मैं चुस्ती के साथ अनुसरण करता आया हूँ, किन्तु अभी तक मुझे अपने जीवन के ध्येय—कैवल्य, सर्वज्ञ पद—की प्राप्ति नहीं हुई। भगवान् ने मुझको अपने शिष्यों में प्रधान पद भी दिया है—मैं जानता हूं इनकी मुझपर असीम कृपा है। फिर भी मेरे पीछे होने वाले शिष्यों को—मेरे ही द्वारा दीक्षित कितने ही श्रमणों को तो त्रिकालज्ञान की प्राप्ति हो चुकी है, परन्तु मेरा अभी तक कहीं ठिकाना नहीं। अभी उसी दिन अष्टापद के दर्शन करके लौटते हुए जो पँद्रा सौ तापस मेरे उपदेश को सुनकर भगवान के श्रमण संघ में आये थे वह सब भी तो सर्वज्ञ पद प्राप्तकर चुके हैं, फिर मैं ही उस से वञ्चित क्यों हूँ? क्या तीस वर्ष की अनन्य गुरु भक्ति का यही फल है? भगवान से जब एक दो बार मैंने इस विषय में पूछा भी तो उन्हों ने मुस्कुराकर

यही उत्तर दिया कि धीरज रक्खो! किन्तु नाथ धैर्य्य की भी तो सीमा होती है।"

गणाधिपति को उस समय इस बात का विचार भी नहीं आया कि उनकी यह अनन्य गुरु भक्ति–ज्ञान पुत्र महावीर के प्रति उनकी उत्कट सराग भावना ही तो उनके वीतरागत्व को प्राप्त करने के मार्ग में बाधक थी !!!

× × ×

कार्तिक कृष्ण अमावस्या की रात्री थी। वह रात्री भी कैसी थी? बियालीस वर्ष की उग्र तपश्चर्या और,

'करेमि समाइयं सावज्जजोगं पच्चसामि
जावज्जीवाए पज्जुवासामि'

जैसी कठोर प्रतिज्ञा की आज पूर्णाहुति थी! आत्म कल्याण और पर कल्याण के कठिन मार्ग में वर्षों तक चलने वाले उस महान यात्रीकी यात्रा का आज अन्त था! तीस वर्ष के अनवरत परिश्रम से वह 'वीर' अहिंसा के—सर्वभूत मैत्री के—सन्देश को देश के कोने २ में पहुँचा चुका था। भगवान वर्द्धमान के मुख पर कर्त्तव्य पालनका संतोष झलक रहा था। अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त तेज और अनन्त सौन्दर्य्य की आभा उनकी मुखाकृति को देदिप्यमान कर रही थी। उस महान् आत्मा के शरीर त्याग की घड़ी समीप थी किन्तु इस समय भी वातावरण सर्वत्र सुखमय ही था। एक साधारण मनुष्य के और एक कर्त्तव्य परायण लब्ध सिद्धि पुरुष के अन्तिम समय में यही तो अन्तर है।

आज भगवान के प्रिय शिष्य गौतम उनके पास न थे। जिस इन्द्रभूति पर उन्होंने अपने उत्तराधिकारी होने का भार रक्खा था उसी को अपना अन्त समय निकट जानकर भी भगवान ने यह आज्ञा दी थी कि जाकर देवशर्मा नामक ब्राह्मण को उपदेश दें। क्या देवशर्मा को उपदेश करना भगवान वर्द्धमान के भी उत्तराधिकारी के लिये उनके अन्तिम शब्द सुनने से भी अधिक महत्व का कार्य था? भगवान ही जानें इस आज्ञा में क्या रहस्य था!

× × ×

प्रातः काल!—अकाश में तारागणों की ज्योति मन्द तो पड़ गई थी किन्तु सूर्योदय में अभी कुछ देर थी। रात्रि के अन्त और दिवस के आरम्भ के बीच की शून्य निस्तब्ध घड़ी थी, सन-सन करके हवा चल रही थी मानों पथिक के कानों में कोई सनसनी फैलानेवाला समाचार कहना चाहती हो। पथिक हमारे पूर्व परिचित गणाधिपति गौतम कुछ अन्यमनस्क से जान पड़ते थे। ईर्यासमिति के पालन के लिये ही नहीं किन्तु किसी अज्ञात् आशङ्का से सिर नीचा किये वे विचार करते हुए चले जा रहे थे। अपापा के निकट पहुँचते २ रात्रि की घटना के समाचार मिले। हृदयपर सहसा वज्रपात हुआ। गौतम चलते २ स्थिर हो गये किंकर्त्तव्य मूढ़ से होकर कुछ क्षण उसी तरह खड़े रहे। नेत्र खुले हुए थे किन्तु कुछ दिखाई न देता था। चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार!—कंठ भी शोकावेग से अवरुद्ध हो गया था। सहसा एक दीर्घ निश्वासके साथ २ "हा वीर!" "यह शब्द उनके मुख से निकले—विचार धारा का मार्ग खुलगया!

अब क्या था? जिन भावों के आवेग से कण्ठ अवरुद्ध हो गया था वह मार्ग पाते ही अब उतने ही आवेग से बाहर आने लगे।

"हा! वीर!" गौतम अब अपने भावों को रोकने में असमर्थ थे—"यह तुमने क्या किया तीस वर्ष की अनन्य सेवा का क्या यही फल मुझको मिला कि मैं अन्तिम समय तुम्हारे मुख कमल के दर्शन करने से भी वञ्चित रहा? तुम तो सर्वज्ञ थे, तुमको यह ज्ञात था कि निर्वाण का समय निकट है फिर ऐसे समय जान बूझ कर एक छोटे से कार्य के लिये मुझे अपने से अलग कर देने का क्या कारण था? क्या मैं इस योग्य न था कि तुम्हारे अन्तिम आदेश]को ग्रहण कर सकूँ? यदि यही बात थी तो पहिले मुझको अपने शिष्यों में प्रधान पद क्यों दिया? मैं ब्राह्मण समुदाय में एक प्रकाण्ड विद्वान और सब विद्याओं में पारंगत समझा जाता था, क्या इसी लोक व्यवहार का पालन करने के लिये मुझे उस समय अपने प्रिय भक्तों में सर्वोच्च स्थान दिया? और यदि उस लोक व्यवहार का पालन किया तो इस समय लोक व्यवहार को तिलांजलि क्यों दे दी? लोग तो अपना अन्तिम समय निकट जान लेने पर अपने प्रिय जनों को यदि वे दूर भी हों तो अपने समीप बुला लेते हैं और आपने तो निश्चय रूप से अपने निर्वाण का समय जानते हुए भी मुझको जान बूझ कर अपने से दूर किया!! हा! वीर! क्या इसी निर्दयता का नाम प्रेम है? क्या तुमने यह समझा था कि मैं पद की इच्छा से तुम्हारे पास आया था! मैंने तो तुम्हारे ज्ञान से परास्त होकर अपनी आत्मा के कल्याण के लिये तुम्हारा शिष्य होना स्वीकार किया था! और उस दिन से आज तक तुम्हारी सेवा में, आज्ञा पालन में, तुम्हारे बताये हुए मार्ग का अनुसरण करने में गौतम ने कभी त्रुटि की हो ऐसा उसको याद नहीं! किन्तु फिर भी तुमने मुझको आत्मोन्नति के शिखर पर नहीं पहुँचाया? अहो! कदाचित् तुमको यही ख्याल था कि मैं अन्तिम समय तुम्हारे पास से केवल ज्ञान का वरदान माँगूंगा! तुमने समझा होगा कि यह गौतम बालक की भाँति तुम्हारे पीछे २ आनेका आग्रह करेगा? और तुम्हें भी मुक्ति में जाने से रोक लेगा! और यदि मैं ऐसा करता भी तो क्या मोक्ष का स्थान इतना संकुचित है कि मेरे साथ आने से आपको कष्ट होता अथवा वहां स्थान न मिलता? किन्तु, अब क्या हो! किससे कहूँ! अवश्य (संसार में ऐसा कौन है जिसके सामने मैं अपना हृदय खोल कर रख सकूँ? जिन एक व्यक्ति से मैंने प्रेम का नाता जोड़ा था वही इतना निर्दय, निर्मोही निकला कि छोड़ कर चला गया! मैं समझता था कि जितनी मैं महावीर के प्रति भक्ति और प्रेम रखता हूँ उतनी ही महावीर भी मुझ पर कृपा रखते होंगे! किन्तु नहीं! केवल यह मेरा भ्रम था! मैंने भूल की जो इस 'वीतराग' पर यह विश्वास किया! ठीक है! उनको मुझी से विशेष प्रेम कैसे हो सकता था? वह तो समदर्शी थे। यह तो मेरी ही भूल थी जो मैं उनसे प्रेम का प्रतिफल चाहता था! वर्द्धमान! क्षमा करना! मैं इतने दिन भ्रम में था! मैं यह समझ ही न सकता था कि आत्मोन्नति के कठिन कष्टकाकीर्ण मार्ग में आत्मा का सहायक कोई नहीं हो सकता! यह कठिन तम मार्ग तो स्वयं आत्मा को अपने बल पर ही

पार करना पड़ता है! बाह्य परिस्थिति तो केवल साधन मात्र है! मैं अभागा था जो तीस वर्ष के तुम्हारे सहवासमें भी इस सत्यको न पहचान सका! किन्तु वीर! जो वस्तु मुझको तुमसे जीवन कालके इतने लम्बे सहवास में प्राप्त न हो सकी वही तुमने अन्तिम समय के इस वियोग द्वारा मुझको समझा दी! धन्य हो! वीतराग! सर्वज्ञ! सर्व दर्शी! अर्हन! तुम धन्य·········!!!

इतना कहते कहते तो गौतम के अन्तर में सहसा प्रकाश के पुञ्ज का उदय हुआ! मोहनीय कर्म का आवरण हट जाने से अन्तरात्मा अनन्त ज्ञान के अनन्त प्रकाश से देदिप्यमान हो उठा !!!

\+ + +

"तिहुअण ए जयजयकार केवल महिमा सुर करे ए।
गणहर ए करय बखाण, भवियण भव इम निस्तर ए॥"

—:०:—

क्रान्तिकारी महावीर



[श्री घेवरचन्द बोथरा]

(१)

जगती तल पर जब छाया था
अन्धकार चहुँ ओर महान।
हुए प्रकट थे महावीर-रवि!
तमो विनाशक श्री भगवान॥

(२)

अपने स्वारथ हित मानव जब
नर पशु का करते बलिदान।
रोके इसे भटके लोगों का
किया पाप से फिर उत्थान॥

(३)

ऐसी हिंसाओं से जग में
मचा हुआ था जब कुहराम।
धर्म अहिंसा का लोगों को
पाठ पढ़ाया तब अभिराम॥

(४)

मातृ-जाति से मोक्ष-प्राप्ति का,
छीना जाता था अधिकार।
हा ! उनका गौरवमय जीवन
सारा जाता था बेकार॥

(५)

'नर-नारी दोनों अधिकारी-
मोक्ष मार्ग के एक समान।"
यह घोषित कर प्रभुवर तूने
रक्खा मातृ-जाति सम्मान॥

(६)

ऊँच नीच के भेद भाव से
भरा हुआ था जब संसार।
नीच जाति वालों को जब थे
बन्द सभी धर्मों के द्वार॥

(७)

साम्य भाव का पाठ पढ़ाने
प्रभो लिया तुमने अवतार।
सुनो आह से पूर्ण जीव की
मानो तुमने करुण पुकार॥

(८)

समोत्सरणमें सुर, नर पशु को
साथ दिया तुमने उपदेश।
रक्खा तुमने वहाँ नहीं था
भेद भाव का किञ्चित लेश॥

(९)

अन्धी श्रद्धा को नर जीवन—
के लेते देखे जब प्राण।
सच्चा ज्ञान जगा कर जग में
किया मूढ़ता का अवशान॥

(१०)

सत्य, अहिंसा, साम्य भावके
ये उज्ज्वल आदर्श महान।
फिर भी भारत में लावेंगे
सुखद शाँति का स्वर्ण विहान॥

—०—

भगवान महावीर

[श्री कामता प्रसाद जैन एम० आर० ए० एस० सम्पादक 'वीर']

भगवान महावीर अपने समय के महापुरुषों में प्रधान थे। उनका जन्म एक स्वाधीन वातावरण में हुआ था। वह राजा सिद्धार्थ के पुत्र थे, जो ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय थे और वज्जियन राज संघ में सम्मिलित थे, जो एक तरह का प्रजासत्तात्मक संगठन था। किन्तु भ० महावीर का महत्व उनके उत्तम कुलमें जन्म लेने अथवा विशेष वैभवशाली होने में गर्भित नहीं है। उनका महत्व उस लोक-कल्याण के कार्य में है जिसके लिये उन्होंने अपने सारे वैभव और राज-पाटका त्याग कर दिया था। उन्होंने जगत के अज्ञान-तिमिर को मेटने के लिये अजोड़ ज्ञान-ज्योति को पाने का महा अनुष्ठान किया था और उसमें वह सफल भी हुए थे।

चारों ओर दृष्टि फैलाइए—अन्धकार ही अन्धकार दीख पड़ता है। आज ईर्षालु राजलिप्सा और स्वार्थमयी आकांक्षाएं निशाचरों की तरह दौड़ लगा रही हैं। कहीं भी ज्ञान-प्रकाश नहीं! नरलोक झूठी मान्यताओं में—ऊँची जाति और कुल—बड़ा नाम और अपने बल-पराक्रम के अनुचित प्रदर्शन में मग्न हो रहा है। भ० महावीर ने इन सबको ठुकरा दिया था। उनके त्याग में उन्हें दुःख नहीं सुख हुआ था। आज नरलोक इनको छाती से चिपटा कर आकुल-व्याकुल हो रहा है। वह 'लीग आफ नेन्स'—'फिडरेशन्स'—'कम्प्रोमाइजेस' और नये नये 'इज्मों' (Isms) में ज्ञान और सुख पानेका झूठा उद्योग कर रहा है। भगवान महावीर कहते हैं कि "जागरूक बनो, विवेक को अपनाओ और सच्चे ज्ञानका प्रकाश अपने में चमकने दो। स्वयं प्रकाशमान् बनोगे तो दुनियाँ में उजाला ही उजाला फैल जायगा।" उपदेश से उदाहरण कार्यकारी होता है। पाश्चात्य सभ्यता आज लोकको 'लीड' कर रही है, किन्तु उसके पांव लड़खड़ा गये हैं। पाश्चात्य विचारकों की नज़र में यह ख़तरा चढ़ गया है और उससे सावधान बनाने वाला साहित्य भी वहाँ सिरजा जाने लगा है। "The Bankruptcy of the Western civilisation." ("पाश्चात्य सभ्यता का दीवाला") आदि ग्रन्थ इस विषय में उल्लेखनीय है। वहां भौतिकवादका स्थान आत्मवाद को मिल रहा है। वहां विद्वान् भगवान महावीर का अध्ययन करते हैं और उन्हें जगत का एक त्राणदाता मानते हैं। देखिये एक जर्मन विद्वान क्या कहता है :—

"Ahimsa and 'the great love of Christ' is the way to peace for our

economically, socially, racially, politically, trodden down world of today. And that is the **outstanding importance of the figure of Mahavira even in our days.**"

भावार्थ—अहिंसा और ईसामसीह का महान् प्रेम ही हमारे आज के आर्थिक, सामाजिक, जातीय और राष्ट्रीय पतित जीवनमें शान्ति पाने का मार्ग है और यही एक बात इस जमाने में भी महावीर के महत्व की प्रदर्शक है।

इटली के एक अन्य विद्वान् डा० अल्बर्टस् पॉज्जी भगवान महावीर के महत्व को स्वीकार करते हुए कहते हैं :—

"The commandments of Mahavira sound like the triumphal song of a Victorious soul that has at last found in this very world its own deliverance and freedom......Thousands of men are looking at Him who feel so in need of purity and perfection."

भावार्थ—महावीर की शिक्षाएं ऐसी प्रतीत होती हैं मानों विजयी आत्मा का विजय गान हो, जिसने आखिर इसी लोक में स्वाधीनता और त्राण पा लिया हो! हजारों आदमी महावीर—की ओर टकटकी लगाये हुये हैं—जिन्हें कि वैसी ही पवित्रता और पूर्णता की चाह है—आकांक्षा है।

ये उद्गार और ऐसे ही सम्भाषण भगवान महावीर के प्रकाश को दसों दिशाओं में छिटका हुआ बतलाते हैं। टालस्टाय, लेनिन और गांधी के नाम और काम पर हम गर्व करते हैं—उनकी प्रतिभा के सामने हमारा मस्तक अपने आप झुक जाता है! किन्तु जब उनके लिये यह बात है तो भ० महावीर के लिये हम क्या कहें? उनकी प्रतिभा, उनकी महिमा, उनका प्रकाश, उनके गुण—इस अवस्था में सब कुछ दिव्य मालूम पड़ते हैं। मानवता में दिव्यता भगवान महावीर में दृष्टि गत होती है।

यह हम जानते और मानते हैं कि महात्मा गांधी ने इस जमाने में अहिंसा और त्याग का जीता जागता रूप लोकको दर्शा दिया है। परन्तु इतने पर भी महात्माजी ने पूर्णता का दावा कभी नहीं किया है—वह तो सत्य के उपासक हैं और उस उपासनामें वह भगवान महावीर के आदर्श अनुयायी कवि राजचन्द्रजी का नमूना अपने सामने रखते हैं। महात्माजी ने भगवान महावीर के विषय में कहा है "मैं विश्वास-पूर्वक यह बात कहूँगा कि महावीर स्वामी का नाम इस समय यदि किसी भी सिद्धान्त के लिये पूजा जाता है, तो वह अहिंसा है। ......प्रत्येक धर्म की उच्चता इसी बात में है कि उस धर्म में अहिंसा तत्वकी प्रधानता हो। अहिंसा तत्व को यदि किसी ने अधिक से अधिक विकसित किया है, तो वे महावीर स्वामी

थे।" अब कहिये, महात्मा गान्धी के लिये जो अहिंसा का अधिक से अधिक विकाश करने वाला है, वह हमारे और आपके जीवन को प्रकाशमान् बनाने के लिये कैसे न आदर्श हो! भगवान महावीर के महान् व्यक्तित्व की यही तो विशेषता है। उनका आदर्श उन्हीं के जमाने के लिये उपयोगी नहीं था, बल्कि वह आज भी उतना ही उपयोगी है। यह सत्य उन्हें एक सच्चा विज्ञान-वादी—आत्मज्ञानी प्रगट करता है। और सचमुच उस समय के बौद्ध ग्रन्थों में उन्हें ऐसा ही बताया गया है। उनमें लिखा है कि भगवान महावीर सर्वज्ञ और सर्व दर्शी हैं (मज्झिम निकाय (P. T. S.) भा० १ पृ० ९२-९३) *—वे एक अनुपम नेता हैं (संयुक्त निकाय भा० १ पृ० ६१) अनुभवी मार्ग प्रदर्शक हैं—बहु प्रख्यात् हैं—तत्व वेत्तारूप में प्रसिद्ध हैं और जनता द्वारा सम्मानित हैं (डायोलाग्स आफ दी बुद्ध पृ० ६६) भगवान का शासन जयवन्ता प्रवर्ते और लोक सत्य के दर्शन करे, यही भावना है!

---

* मज्झिमनिकाय में जो उल्लेख है वहाँ बुद्ध कहते हैं "महानाम! × × × जब मैंने उनसे ऐसा कहा तब वे निर्ग्रन्थ बोले—'निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र सर्वज्ञ और सर्व दर्शी हैं, सर्वज्ञान और दर्शन के ज्ञाता हैं। उन्होंने (ज्ञातपुत्र ने) कहा है कि निर्ग्रन्थो! तुमने पूर्व जन्म में पाप कर्म किये हैं, उनकी इस घोर दुश्चर तपस्या से निर्जरा कर डालो × × × उनका यह कथन हमलोगों को रुचि कर प्रतीत होता है, मनको ठीक जंचता है'।" इस पर से पाठक भलीभाँति समझ सकते हैं कि महावीर को सर्वज्ञ और सर्वदर्शी, सर्व ज्ञान और दर्शन के ज्ञाता निर्ग्रन्थों ने कहा है बुद्धने नहीं। 'हमको रुचिकर प्रतीत होता है' 'ठीक जंचता है' ये भी निर्ग्रन्थों के शब्द हैं। तब मालूम नहीं लेखक ने ऐसा अर्थ कैसे किया।

'भगवान महावीर' तथा 'भ० महावीर और मा० बुद्ध' नामकी अपनी पुस्तकों में भी लेखक ने ऐसा ही किया है। स्मरण होता है कि किसी जैन पत्र में प्रख्यात विद्वान पं० बेचर दास जी ने इस भूल की ओर लेखक का ध्यान आकर्षित किया था। साहित्य रत्न दरबारीलालजी न्याय तीर्थ ने अपने निबन्ध "जैनधर्मका मर्म" में लेखक की इस भूल को बहुत ही स्पष्ट तया दिखलाया है (जैन जगत ता० १६ मई सन् १९३२ ई, पृ० ३)। हम विद्वान लेखक का ध्यान पुनः इस ओर आकर्षित करते हैं

—सम्पादक



वीर का अन्तिम उपसर्ग



[श्री मोतीलाल नाहटा 'विश्वेश']

नगर नगर में विचरण करते, वर्द्धमान जग नाता त्याग।
आत्म शुद्धि, स्वोत्सर्ग भावना, उन में प्रबल उठी थी जाग॥
प्रति दिन ही उन पर होता था, उपसर्गों का कठिन प्रहार।
किन्तु न विचलित हुए कभी वे, 'महावीर' जगके आधार॥

सञ्चित कर्म-जनित पीड़ा को, शान्त हृदय से सहते थे।
कठिन तपस्या, आत्म ध्यान में, वे निमग्न नित रहते थे॥
सहनशीलता और क्षमामय-धैर्य्य-वृत्ति के थे आगार।
रों-रों था आदर्श त्याग, औ सत्य अहिंसा के अवतार॥

इस प्रकार विचरण करते, 'खणमाणि' ग्राम बाहर भगवान।
निर्जन वन में करते थे 'कायोत्सर्ग' शुचि ध्यान महान॥
उसी समय गायें लेकर इक ग्वाला उधर निकल आया।
प्रभु के सनिकट ज्योंही पहुँचा, काम याद सहसा आया॥

पर गउओं की रखवाली हित, वहाँ नहीं था कोई और।
'इनको छोड़ भरोसे किसके, जाऊँ', मची यही झकझोर॥
सहसा उसको महावीर ध्यानस्थ रूप में दीख पड़े।
जो हो विमुख दीन दुनियाँ से, ध्यानमग्न थे वहाँ खड़े॥

उचित जानकर उसने छोड़ा, प्रभु के जिम्मे यह गुरु भार।
रखवाली का प्राप्त हुआ यों, अनायास उसको आधार॥
वीर खड़े थे ध्यानमग्न, गायों का उन्हें न था कुछ ध्यान।
चरते चरते दूर खेत में, निकल गईं गायें अनजान॥



वीर का अन्तिम उपसर्ग।

यह कह प्रतिहिंसक पिशाचने, की इक काष्ट कील तैयार!
उसको फिर हा! उस निर्दय ने, किया वीर के कानों पार!!
बहिरागत सलाक भागों को, कोई जन नहिँ लेवे देख।
इस विचार से काट सिरों को, कानों में ही रक्खी मेख॥
खड़े रहे प्रभु मौन पूर्ववत, हुए नहीं वे तनिक अधीर।
कौन उन्हें विचलित कर सकता, थे वे विश्व विजेता वीर॥

कर समाप्त निज कार्य्य वहाँ कुछ, देर बाद ग्वाला आया।
देखा उसने साधु वहीं, पर गायों को न वहाँ पाया॥
अल्पकाल ही में परिवर्तन, लख यह विस्मित था ग्वाला।
किन्तु दूसरे ही क्षण उसकी, प्रकटी विकट क्रोध ज्वाला॥

दुष्ट भावना के सागर में, हाय! विमूढ़ लगा बहने।
प्रभु को चोर समझ गायों का, खोटी खरी लगा कहने॥
'रे पाखण्डी! धूर्त! तुम्हीं ने ही तो उन्हें चुराया है!
बोल बोल, ओ दुष्ट! बतादे, उनको कहाँ छिपाया है?!"

"ढोंगी! ढोंग सजाकर, क्यों यों, लोगों को तू भरमाता।
अपने कुत्सित, घृणित कार्य पर, ओ बेशर्म! न शरमाता"।
'बस अब अच्छा यही समझ लो, लौटा दो गायें चुपचाप।
वरना सह न सकोगे क्षण भी, नर्क यन्त्रणा का सन्ताप॥"

इतना कह कर स्वल्प काल हित, अधम ग्वाल खामोश हुआ।
पर आँखें थीं लाल लपट सी, शान्त नहीं था रोष हुआ॥
वर्द्धमान अविकार हृदय थे, खड़े शान्ति के मूर्ति स्वरूप।
लखा न प्रभु ने तनिक कोप से भी पिशाच का वह विद्रूप॥

रौद्र रूप यदि था ग्वाला तो, शान्ति रूप भी थे भगवान।
उधर अगर थी क्रोध लपट, तो इधर अहिंसा श्रोत महान॥
सहे बहुत उपसर्ग वीर ने, सही कठिन कष्टों की आँच।
हीरा कभी नहीं गल सकता, गले भले ही कच्चा कांच॥

साधारण जन डर जाता ये सुन उसकी विभत्स बातें।
किन्तु वीर को मौन वृत्ति से डिगा सकी नहिँ ये घातें॥
अपने से कमजोर समझ कर, ग्वाला उन्हें डराता था।
पर उनके शुचि आत्मिक बल की, थाह न वह कुछ पाता था॥

खड़े रहे प्रभ मौन पूर्ववत, हुए नहीं वे तनिक अधीर।
कौन उन्हें विचलित कर सकता, थे वे विश्व विजेता वीर ॥
ग्वाले ने सोचा मुनि ने सब, सुनी अनसुनी कर डाली।
बोला "रे सठ! क्या तू ने ली मदिरा की मादक प्याली॥"

'अच्छा ले अब इस अकराड का, तुझको मजा चखाऊँगा।
तेरे छद्म वेष का जग को, सच्चा रूप दिखाऊँगा॥"
"तू भी समझेगा कि मिला था, कोई मुझको भी उस्ताद।
जब तक यह दिन याद रहेगा, फिर न करोगे और फसाद॥"

यह कह प्रतिहिंसक पिशाच ने, की इक काष्ट कील तैय्यार।
उसको फिर हा! उस निर्दय ने, किया वीर के कानों पार॥
बहिरागत सलाक भागों को, कोई जन नहिँ लेवे देख।
इस विचार मे काट सिरों को, कानों में ही रक्खी मेख॥

हा! कैसा पाषाण हृदयता, पैशाचिकता का था कार्य्य!
प्रतिहिंसा का नग्न चित्र! था लुप्त हुआ जग से औदार्य्य!!
पूर्व जन्म के दुष्कर्मों का, उदय काल जब है आता।
राजा रंक, बड़े छोटे में, भेद नहीं फिर रह पाता॥

वीर पुरुष वीरत्व भाव से, उन्हें हर्ष से है सहता।
पर कायर विपदाकुल हो नित, जीते ही मरता रहता॥
वर्द्धमान ने इस परिषह को, शान्त भाव से सहन किया।
कील जनित पीड़ा स्वकर्म फल जान उसे भी वहन किया॥

महावीर के सब उपसर्गों, में था यह अन्तिम उपसर्ग।
किन्तु न अनुचित होगा यदि हम, कहें इसे 'महान उत्सर्ग'॥
परिषह से पीड़ित स्थिति में ही, आए प्रभु पापा नगरी।
वहाँ श्रेष्ठ सिद्धार्थ श्रेष्ठि ने, की अभ्यर्थना भक्ति भरी॥

रहता था उस भक्त सेठ के, खरक नाम का वैद्य प्रवीण ।
कर्ण कुहर में लख कर कीलें हुआ व्यथा से हर्ष-विलीन ॥
वैद्यराज ने सोचा "प्रभु को कीलों से है कष्ट अपार ।
अच्छा हो, इनको निकाल कर, कर लूं अपना भी उपकार ॥"

इस विचार से प्रेरित हो, फिर संडासी का किया प्रयोग ।
कीलें खींच निकालीं बाहर, हरा विषम परिषह दुख-योग ॥
किन्तु वैद्य के इस उपाय से, हुई वेदना उन्हें अपार ।
सह न सके असराल व्यथा को, निकल पड़ी मुँह से चित्कार ॥

विस्मय ! जिसने अब तक सारे, कठिन-कठिन उपसर्ग सहे ।
कष्टों के तूफान सामने, मेरु-शिखर सम अचल रहे ॥
वे ही हाँ वे ही प्रभु हों यों, परिषह के दुख से लाचार !
मुख से चीख निकल जा उनके, जिसने कभी न की सिसकार !।

क्या प्रभु के ऐसा करने में, छिपा नहीं कुछ मोहक सार ?
क्या यों ही उस पीड़ा से वे, चीख पड़े थे प्रेमागार ?!
नहीं नहीं यह कार्य वीर का, रखता है कुछ तत्व महान ।
पर समझें हम क्षुद्र-बुद्धि क्या, उनका वह मंगलमय मान ॥

धन्य ! वीर प्रभु धन्य !! जगत का था तू एक मात्र सम्राट ।
तेरे शासन में जल पीते, बकरी सिंह एक ही घाट ॥
हिंसा के पथ के पथिकों का भी तू ने उद्धार किया ।
राग-द्वेष-अम्बुधि में डूबत, जग का बेड़ा पार किया ॥

त्याग, अहिंसा, सत्य, शान्ति औ साम्य भाव का वह सन्देश ।
विश्व प्राणियों के कानों में, अब भी गूंज रहा 'विश्वेश' !

—:o:—

भगवान महावीर की अलौकिकता

[श्री फतहचन्द धाड़ीवाल]

भारतवर्ष की सभ्यता सब से प्राचीन है। और देशों में सभ्यता का जो प्रचार हुआ है उन सब का यदि हम भारत को ही उद्गम कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इस पुण्य भूमि में एक ऐसी विशेषता है कि समय समय पर यहाँ एक ऐसी शक्ति पैदा होती रहती है जो पतन के गड्ढे में जाते हुए मनुष्यों को बचाती है। यह वही भूमि है जहाँ पर अनेक महापुरुष और त्यागी महात्मा उत्पन्न हुए हैं, होते हैं और होते जायंगे। यहां भरत के समान चक्रवर्ती, राम जैसे आज्ञाकारी और विनयी, श्रीकृष्ण जैसे राजनीतिज्ञ एवं उपदेशक, राणा प्रताप और शिवाजी जैसे देश भक्त और गुरु गोविन्द सिंह जैसे धर्म वीर आदि असंख्य महात्मा और प्रतापी पुरुष हुए हैं। विदेशों में भी ईसा और मुहम्मद जैसे धर्म संस्थापक, शुकरात जैसे आत्म त्यागी, सिकन्दर जैसे वीर इत्यादि हुए हैं किन्तु इन सब में से किसी की भी भगवान महावीर के उच्च चरित्र के साथ तुलना नहीं की जा सकती। वे एक सर्वांगीण सिद्ध महात्मा थे।

भगवान महावीर उन दिव्य गुणों से भूषित थे जिन से सिद्धि प्राप्त हो सकती है। उनके एक एक गुण का वर्णन करना कठिन है, किन्तु खास खास बातों को देखते हुए भी हम यह कह सकते हैं कि वे एक अलौकिक महात्मा थे।

महावीर इस भव में तीर्थंकर होनेवाले थे अतः गर्भावस्था में ही तीन ज्ञानके धारक थे—पहला मति ज्ञान, दूसरा श्रुतिज्ञान और तीसरा अवधिज्ञान।

सर्व प्रथम और सब से बड़ा गुण उनमें माता, पिता और बड़ों की भक्ति और उनके प्रति विनय पूर्वक अपना कर्त्तव्य तथा आज्ञा पालन करना था। उनकी जीवनी देखने से पता चलता है कि उनमें यह गुण जब वे गर्भ में आये तब से ही था। एक समय उन्हों ने सोचा कि मेरे गर्भ में हिलने-डुलने से मेरी माता को कष्ट पहुँचता है अतः उन्हों ने हिलना बन्द कर दिया। इस प्रकार अपने गर्भ का हिलना न देख कर माता को और भी दुःख हुआ। उसने समझा कि कहीं मेरा गर्भ तो नष्ट नहीं हो गया। इसे जानकर भगवान को बड़ा खेद हुआ और उन्होंने उसी समय प्रतिज्ञा की कि मैं अपने माता-पिता के स्वर्गारोहण के पश्चात् ही दीक्षा ग्रहण करूंगा। इसी प्रकार युवावस्था में यद्यपि इनकी इच्छा विवाह करने की न थी, किन्तु वे माता-पिता की आज्ञा नहीं टाल सके और विवाह किया। वे मन वचन और काय से माता-पिता की आज्ञा पालन करते थे, उनपर भगवान का अगाध प्रेम था। यह तो हुआ मातृ-पितृ-प्रेम, अब उनका भ्रातृ-प्रेम भी देखिये। इनके बड़े भाई का नाम नन्दीवर्धन था और भगवान का नाम पहले वर्धमान था। इन में

आपस में बड़ा प्रेम था। जितना प्रेम वे अपने माता-पिता से करते थे उतना ही आपस में भी करते थे। माता-पिता की मृत्यु के उपरान्त जब महावीर ने दीक्षा लेने के लिये अपने बड़े भाई से आज्ञा मांगी तो वे कहने लगे, "अभी माता-पिता का शोक तो भूला ही नहीं हूँ, अब तुम इस प्रकार क्यों जले पर नमक छिड़क रहे हो, देखो मैं तुम्हारा इस प्रकार वियोग नहीं सह सकूंगा। यह सब राज्य शासन तुम्हारा ही है तुम इसे संभालो किन्तु मेरे से विरक्त न होओ"। भाई के ये वचन सुनकर भगवान ने दीक्षा की अवधि दो साल के लिये और बढ़ा दी। इस प्रकार के निर्मल भ्रातृ-प्रेम की तुलना केवल राम और भरत के भ्रातृ-प्रेम से ही हो सकती है और ऐसा कोई भी नहीं जिसका प्रेम इतना उच्च और निर्मल हो!

दूसरा गुण उनमें साहस और वीरता का था। यद्यपि बचपनसे ही महावीर बुद्ध देवकी तरह गम्भीर थे क्योंकि उन्हें सांसारिक झगड़ोंसे घृणा थी किन्तु फिर भी वे निर्बलों और निर्धनों की सहायता करते थे। संसार में निर्बलों की सहायता के लिये बल और साहस की आवश्यकता है, बिना बल और साहस के मनुष्य कुछ नहीं कर सकता। इससे साफ प्रगट होता है कि उनमें असीम बल और साहस था और इसी कारण से इनका नाम बाद में वर्धमान से महावीर पड़ गया।

एक समय वे अपने साथियों के साथ वृक्ष पर खेल रहे थे इतने में एक देव ईर्ष्यावश उनके बलकी परिक्षा करने के लिये सर्प रूप धारण करके आया और उस वृक्ष को घेर लिया। अब उनके सब साथी घबराने लगे। उनको घबराते देख कर महावीर नीचे उतरे और सांप को उठा कर दूर फेंक दिया। इससे सर्प और भी क्रोधित हुआ और देव रूप बना उनको कन्धेपर बैठाकर अपनी देहको ऊंचा बढ़ा लिया। किन्तु भगवान में अटल साहस था, वे डरपोक नहीं थे, देव की अच्छी तरह मरम्मत की। अन्त में वह देव अपना वास्तविक रूप प्रगट कर क्षमा मांग कर अन्तर्ध्यान हो गया।

इससे हम भगवान के शारीरिक बल और साहस का अन्दाजा लगा सकते हैं। उनमें केवल शारीरिक बल ही नहीं था किन्तु उनमें वह आत्मबल, दृढ़ता, धैर्य और सहनशीलता थी जिसने न केवल मनुष्यों के शारीरिक बल परही विजय प्राप्त की किन्तु सर्व जीव मात्रके हृदयों पर भी विजय प्राप्त की। जिनका वर्णन हम आगे जाकर करेंगे। भगवान को अपने बल पर विश्वास था; उन्हें किसी दूसरे की सहायता लेने की आवश्यकता नहीं थी। सचमुच क्षत्रिय वही है जो जीवमात्र के हृदयों तक पर भी बिना किसीकी सहायताके विजय प्राप्त करे। आहा! उपसर्गों से भगवान की रक्षा करने के लिये जब इन्द्र आता है तब भगवान कहते हैं, "हे इन्द्र! तीर्थंकर कभी दूसरों की सहायता पर अवलम्बित नहीं रहते, वे अपनी शक्ति से, अपने आत्मबल से उपसर्गों और बाधाओं का सामना कर शान्तिपूर्वक उन्हें सहन करते हैं। वे दूसरों की मदद से कभी केवल ज्ञान प्राप्त नहीं करते।" आहा! स्वावलम्बन और दृढ़ता का कितना अच्छा उदाहरण है! इसी प्रकार की दृढ़ता, अहिंसा, क्षमा और नश्वर वासनाओं पर विजय से ही उन्होंने कैवल्य प्राप्ति की। उन्होंने

अहिंसा, दृढ़ता, संयम और आत्म बल से अनेक जीवों का उद्धार किया और उन्हें पतन की ओर जाते हुए बचाया। निस्सन्देह यह शक्ति तो अलौकिक महात्मा में ही होती है।

बाल्य-काल

हम ऊपर लिख आये हैं कि गर्भ से ही भगवान तीन ज्ञान के धारक थे। किन्तु इससे हमको यह नहीं समझना चाहिये कि वे प्रारम्भ से ही परमेश्वर थे। इस प्रकार खयाल करने से उनकी सारी विशेषता नष्ट हो जाती है। उस समय वे न तो कोई परमेश्वर थे, और न कोई अवतार। जैन मत अवतारों को सदा से ही नहीं मानता। वह कहता है कि जब आत्मा परम पद को पहुँच जाता है और संसार के आवागमन से छूट जाता है तो फिर वह अवतार नहीं लेता। अब प्रश्न उठता है कि जब वे न तो परमेश्वर थे और न अवतार तो फिर गर्भ में ही ज्ञानी किस प्रकार हुए? इसका उत्तर यह है कि जब तक आत्मा पर कर्मों का आवरण रहता है तब तक जीव अज्ञानावस्था में ही रहता है और ज्यों-ज्यों कर्म क्षय होते जाते हैं त्यों-त्यों आत्मज्ञान भी बढ़ता जाता है इस प्रकार धीरे-धीरे जब सब कर्म क्षय हो जाते हैं तब जीव पूर्ण ज्ञान प्राप्तकर परम पद प्राप्त कर लेता है। इसी भांति उनके अधिक तर कर्म क्षय हो चुके थे और जो बाकि थे वे इस भवमें पूरे होनेवाले थे इसलिये उन्हें प्रारम्भावस्था में ही तीन ज्ञान थे।

उनकी दिनचर्या का सूत्रों में कोई खास वर्णन नहीं है केवल उनके पिता महाराज सिद्धार्थ की दिनचर्या दी हुई है। इससे हम उनकी भी दिनचर्या का अन्दाजा लगा सकते हैं।

शिक्षा के बारे में 'कल्पसूत्र' में लिखा है कि यद्यपि वे ज्ञानी थे किन्तु फिर भी माता-पिता ने उनको, अपना कर्त्तव्य पालन करने के लिये, गुरु के पास भेजा किन्तु महावीर ने उन्हें पहले ही दिन परास्त कर दिया।

युवावस्था

बाल्यकाल समाप्त करने के पश्चात् भगवान ने युवावस्था में कदम रक्खा। पूर्णतया ब्रह्मचर्य पालन करके बाद अब उन्हों ने गृहस्थाश्रम में पदार्पण किया। भगवान का विवाह यशोदा नाम की राजकुमारी से हुआ। ३० वर्ष की आयु तक उन्हों ने गृहस्थ धर्म पालन किया। पर यह सारा समय उन्हों ने केवल सांसारिक सुख और ऐश्वर्य भोगने में ही नहीं लगा दिया किन्तु धीरे २ दीक्षा की भी तय्यारी करते रहे क्योंकि वह यह तो जानते ही थे कि गृहस्थाश्रम के सत्य से सन्यासाश्रम का सत्य कहीं बड़ा है और उसी से ज्ञान प्राप्त हो सकता है। अतः उन्हों ने अपनी ३० वर्ष की अवस्था में ही तमाम सांसारिक सुख, मोह, माया को छोड़कर दीक्षा ग्रहण करली।

भगवान महावीर का त्याग

आज संसार में महावीर का त्याग एक उत्कृष्ट श्रेणी का त्याग गिना जाता है। इनके इतने ऊंचे त्याग से बिरले ही महात्माओं के त्याग की तुलना हो सकती है। इन के त्याग का पलड़ा सदा नीचे ही रहेगा। जो महावीर ऊँचे सुन्दर भवनों में भाँति भाँति के सुख भोग रहे थे वे अपनी परम प्रियापत्नी यशोदा और कन्या को त्याग कर निर्जन वन में

घोर तपस्या कर रहे हैं। जो महावीर अपनी सुन्दर देह को सुन्दर वस्त्रों और आभूषणों से सजाया करते थे वे अपने इस नग्न देह की तनिक भी परवाह नहीं कर रहे हैं। जो महावीर हर प्रकार के ऋतुओं के कुप्रभाव से अपनी रक्षा करते थे वे हर प्रकार के ऋतु कष्टों को सह रहे हैं। जिनके साथ हर समय कुछ आदमी उनकी सहायता में रहते थे वे जंगली जीव जन्तुओं से घिरे हुए हैं। भगवान ने केवल परिवार, परिग्रह ही नहीं छोड़ा किन्तु उन्हों ने क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, रागद्वेष इत्यादि १८ पापों का त्याग किया। वे संसार के प्रत्येक प्राणी पर समान दृष्टि रखने लगे। न तो वे किसी को अपना शत्रु समझते थे और न किसी को मित्र ही। न उपसर्ग करने वाले को श्राप देते थे और न भक्ति करने वाले को वर ही। इस प्रकार उन्होंने अपना सारा ध्यान आत्म शुद्धि और ज्ञान प्राप्ति पर ही लगा दिया।

ज्ञान की प्राप्ति

दीक्षा लेते समय भगवान को चौथा ज्ञान मनःपर्यय ज्ञान भी हो गया था किन्तु फिर भी अभी तक उन्होंने किसी प्रकार का उपदेश नहीं दिया। वे अपने सब कर्मों को क्षय करने और संसार का पूर्ण ज्ञान अर्थात् केवल ज्ञान प्राप्त करने के लिये घोर तपस्या कर रहे थे। उनका यह सिद्धांत था कि जबतक मनुष्य पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं कर ले तब तक दूसरों का उद्धार पूर्णतया नहीं कर सकता। इसलिये उन्होंने दीक्षा से लेकर कैवल्य प्राप्ति तक अर्थात् १२ वर्ष से कुछ ऊपर तक अधिकांश मौन व्रत रक्खा और तपस्या करते रहे।

इसी बीच में वे इधर-उधर भ्रमण भी करते रहे और भयङ्कर से भयङ्कर उपसर्गों का सामना किया। उन्होंने शान्ति पूर्वक सब सहन किया और उपसर्ग करने वालों पर तनिक भी क्रोध नहीं किया और न रक्षा करने वालों पर प्रसन्नता। उनको अपनी देहतकका मोह नहीं था। उनका एक मात्र उद्देश्य केवल ज्ञान की प्राप्ति था। उपसर्ग करने वालों पर उनके आत्म संयम और क्षमा भाव का अच्छा प्रभाव पड़ता था और वे आगे जाकर भगवान के कथनानुसार चलने लगते तथा उनमें से कईयों ने अच्छी गतियाँ प्राप्ति कीं।

कर्म दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो तपस्या से नष्ट हो जाते हैं और दूसरे वे जिनका फल भोगना ही पड़ता है। भगवान पर उपसर्ग करने वाले और कोई नहीं वे ही प्राणी थे जिनके साथ पूर्व भव में उन्हों ने अन्याय किया था उन पर अत्याचार किया था। इस प्रकार ये उपसर्ग उनकी आत्माको पवित्र बनाते जाते थे और इसी से वे मनुष्यत्व से परम पद की ओर बढ़ते जाते थे। अलौकिकता भी इसी में है। एक अंग्रेज विद्वान का भी ऐसा ही कथन है। वह कहता है कि मैं भगवान महावीर का जीवन चरित्र इसी लिये आदर्श रूपमें देख रहा हूँ कि वे मनुष्यत्व से परमेश्वरत्व को प्राप्त हुए न कि ईश्वरत्व से परमेश्वरत्व को। यदि ऐसा होता तो मैं उनकी जीवनी छूता तक नहीं। हम मनुष्य हैं और मनुष्य को मनुष्य का ही आदर्श ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि हम मनुष्यों को, शिक्षा ग्रहण करने योग्य, बहुत-सी वस्तुएँ उसमें मिलती हैं।

अब उपसर्गों का वर्णन पढ़ने से ज्ञात होता है कि वे ऐसे भयङ्कर थे कि क्रूर से क्रूर मनुष्य का भी हृदय पिघल जाय। एक ग्वाले ने भगवान को पीटा। सङ्गम नामक देव ने भाँति भाँति के मच्छर, डांस, सिंह, सर्प, बिच्छू इत्यादि विषैले जङ्गली जानवरों से डराया और कटवाया, उनपर धूल की वर्षा की। अन्त में सुन्दर सुन्दर अप्सराएं उनका मन डिगाने के लिये भेजी गईं किन्तु सब विफल हुआ। भगवान ने जरा भी चूं नहीं की और उसी प्रकार ध्यान में निमग्न बैठे रहे। अन्त में सङ्गम पराहत हुआ और भगवान से क्षमा मांग उनकी स्तुति करता हुआ चला गया। इसी प्रकार चण्ड कौशिक नामक सर्प जैसे उपसर्ग करने वाले को दिव्य उपदेश देकर उसको सन्मार्ग पर लगाया। इसी भांति उन्होंने अहिंसा और आत्म बलसे कठोर से कठोर हृदय पर भी विजय प्राप्त की। दूसरे स्थान पर उनके कानों में कीलें ठोकीं गयीं। परन्तु प्रभु ने इसे भी शाँति पूर्वक सहन कर लिया।

इस के पश्चात् धीरे धीरे कर्म क्षय होते गये, आत्मा पर से कर्मों का आवरण हटता गया और आत्म-ज्ञान रूपी सूर्य्य दिन-दिन अधिक चमकने लगा। अन्त में पूर्ण कर्म क्षय करके पूर्ण ज्ञान अर्थात् केवल ज्ञान प्राप्त किया।

महावीर की महान क्रान्ति

भगवान महावीर ने सारे भारत में एक क्रांति मचा दी। वह क्रांति हिंसात्मक नहीं थी किन्तु अहिंसात्मक थी। इनका खास उपदेश "अहिंसा परमोधर्मः" था। इसी अहिंसासे इन्होंने सम्पूर्ण विश्व पर विजय प्राप्त की और ज्ञान प्राप्त कर अहिंसा का महत्व बताया। यह वही अहिंसा है जिसके कारण से आज भी आर्य्यों की जाति जीवित है। उधर अहिंसा के न होने से आज मिश्र और रोम देश के प्राचीन निवासियों का पता तक नहीं। हमारी सारी सभ्यता इसी अहिंसा पर निर्भर है। आजतक आर्य्यों की सन्तान सभ्यता के ऊंचे शिखर पर रही है। अहिंसा का अर्थ है किसी जीव को दुःख नहीं देना। कई लोगों का यह खयाल हो गया है कि यह कायरों का धर्म है। किन्तु ऐसा नहीं। जैन मत कहता है कि खूब बलवान और शूर वीर बनो ताकि हिंसा करने वाला मनुष्य भी तुम्हें देख कर हिंसा करना छोड़ दे।

आज भी हम महात्मा गांधी की अहिंसात्मक क्रांति को देख रहे हैं और उसका फल भी हमारे सामने है। यह है अहिंसा का महत्व। यह है भगवान महावीर का प्रथम सिद्धांत। इसीके कारण भारत में १२०,००० वीर सन्तान आज भी दिखाई दे रही हैं किन्तु इसकी समानता करने वाले बौद्ध धर्म का भारत में पता तक नहीं है। इसी से हम अहिंसा की महत्ता जान सकते हैं।

दूसरा सिद्धान्त स्याद्वाद का है। इसको अपेक्षा वाद भी कह सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक बात किसी अपेक्षा से ठीक है। जैसे एक मनुष्य है वह किसी का पिता है लेकिन वह किसी का चाचा भी हो सकता है। इसी प्रकार अपेक्षा से आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी। इसी स्याद्वाद के कारण ही जैन धर्म में संसार के प्रत्येक धर्म का सार आ गया है और यह स्याद्वाद ही है जो जैन धर्म को उन्नति के शिखर पर ले गया।

सामाजिक और धार्मिक बातों में क्रांति

उस समय की राजनैतिक अवस्था तो ठीक थी किन्तु सामाजिक और धार्मिक अवस्था एक दम पतित थी। प्राचीन समय में त्यागियों और मुनियों ने समाज में विश्रृङ्खलता को मिटा कर शान्ति और सुव्यवस्था रखने के उद्देश्य से चार वर्णों की स्थापना की थी। यह व्यवस्था इतनी सुसङ्गठित थी कि जब तक यह असली रूपमें चलती रही तब तक समाज उन्नति की ओर अग्रसर होता रहा। किन्तु जब मनुष्यों में ऊंच, नीच और स्वार्थपरता के भाव आने लगे तो समाज का भी पतन होने लगा। समाज में ब्राह्मण वर्ण का मान अधिक होता था क्योंकि वह ऐश्वर्य और विलास से विरक्त रहता था। इसलिये क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ग पर उनका ही अधिकार रहता था। जब तक ब्राह्मण समाज की सेवा निस्वार्थ भाव से करते गये तब तक समाज उन्नति की ओर बढ़ता गया, किन्तु जब से उनमें स्वार्थ ने समावेश किया तब से वे नीच वर्णों पर भांति भांति के अत्याचार करने लगे। सत्ता उनके अधिकार में थी और रोकने वाला कोई नहीं था। वैश्यों, शूद्रों और स्त्रियों के प्रति यह घोषित किया कि वे मोक्षाधिकारी नहीं हैं। शूद्रों के मुख से धार्मिक श्लोक या मन्त्र सुनाई पड़ता तो उनकी जान ले ली जाती थी! वे अगर नगर में दिखाई पड़ते तो अपशकुन गिना जाता था! इस प्रकार के अत्याचारों से मनुष्य ऊब उठे थे। पहले क्षत्रिय भी थोड़े दिनों तक ब्राह्मणों के साथ रहे किन्तु बाद में वे भी उनसे घृणा करने लगे।

धार्मिक कार्य्यों में लोगों का अन्ध विश्वास बहुत बढ़ गया था। स्थान-स्थान पर यज्ञ और बलिदान होते थे। यज्ञ स्थान रक्त से रंगे रहते। पशुओं की बलि दी जाती थी। इस प्रकार सहस्रों निरपराध मूक पशु तलवार की धार उतारे जाते थे। उनको बचाने वाला कोई नहीं था। जितनी अधिक बलि दी जाती थी उतना ही अधिक पुण्य समझा जाता था! यहां तक कि यज्ञ कभी २—२ सालतक होते रहते थे!! एक दिन जो ब्राह्मण दया की मूर्ति गिने जाते थे वे ही उस समय अपने हाथों से सहस्रों पशुओं का संहार करते थे!!!

यज्ञों में उनको भारी भारी दक्षिणायें मिलती थीं। ये दक्षिणायें केवल धनी ही दे सकते थे इस लिये वे ही मोक्ष के अधिकारी समझे जाते थे। निर्धनों को हर स्थान पर ताड़ना होती थी। लोगों का सिद्धांत यह हो गया था कि "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।"

कुछ ऐसे भी मनुष्य थे जो इन काण्डों से घृणा करते थे। वे केवल घोर तपस्या को ही अपना मुक्ति मार्ग समझते थे। इस प्रकार समाज में एक दूसरे के विरोधी दो दल हो गये थे और कहीं कहीं इसी कारण से मनुष्यों की भी गुप्त बलियाँ दी जाती थीं।

ठीक उस समय जब ये अत्याचार और अनाचार अपने उच्च शिखर पर पहुंच गये थे—भारत में इन सब का विरोध करनेवाले दो महा पुरुष उत्पन्न हुए—एक भगवान महावीर और दूसरे म० बुद्धदेव।

भगवान महावीर ने यज्ञों और बलिदानों का घोर विरोध किया। उन्होंने कहा इन बातों से मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। इसी प्रकार घोर तपस्या से भी मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती किन्तु अहिंसा सत्य

सदाचार, ब्रह्मचर्य, और परिग्रह परिमाणों का व्रत रखनेसे और उनके अनुसार चलने से, शुद्ध और पवित्र अंतःकरण रखने से, संयमी बनने से और इन्द्रियों और मन को वश में करने से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

ये उपदेश प्रत्येक प्राणी अर्थात् उच्च-नीच, धनी-निर्धन, स्त्री और पुरुष सब को दिये। उनका उपदेश सब के लिये खुला था। प्रत्येक प्राणी इनका पालन कर सकता था। वे सब मोक्ष के अधिकारी समझे जाते। उन्होंने सबको अपने २ कर्त्तव्य बताये और उनको उनके अनुसार चलने का उपदेश दिया।

इस प्रकार फिर से देश में शान्ति की लहरी बहने लगी। यज्ञ और बलिदान बन्द हो गये। "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" के स्थान पर फिर से "अहिंसा परमो धर्मः" का प्रचार खूब जोरों से हुआ। छुआछूत का झगड़ा भी बन्द हो गया। थोड़े दिनों के पश्चात् शंकराचार्य ने, हिन्दु धर्म के पुनरुद्धार के समय में, इस का प्रचार फिर किया जिससे इसके घोर विरोधी जैनियों के ऊपर, भी प्रभाव पड़ा। जिसका दुष्परिणाम आज हम अपनी आँखों से देख रहे हैं। स्त्रियों की श्रेणी भी पुरुषों के समान गिनी जाने लगी किन्तु पाश्चात्य देशों कि तरह प्रतिद्वन्दता नहीं आयी, आपस में सहयोग रहता था। जैनी लोग अब भी विदुषी स्त्रियों को आदर की दृष्टि से देखते हैं।

जो आदर महावीर के प्रधान शिष्य गौतम स्वामी का होता था वही सती साध्वी शिरोमणि चन्दन बाला का होता था। जैनी लोग मिरियादेवी (मल्लिनाथ) को स्त्री रूप में तीर्थंकर मानते हैं और उनकी उसी प्रकार भक्ति और पूजा करते हैं जिस प्रकार दूसरे तीर्थंकरों की। स्त्रियोंको यह महत्व उस समय जैन धर्म में ही प्राप्त था।

भगवान के पास सब वर्णों के शिष्य थे। कोई वैश्य था, कोई ब्राह्मण था, कोई क्षत्रिय था और कोई शूद्र। इन सब के साथ एकसा ही व्यवहार होता था। कोई ऊँच-नीच का झगड़ा नहीं था।

भगवान का चरित्र

यद्यपि सर्व प्रथम जैनधर्म का प्रचार इतने ज़ोरों से नहीं हुआ जितने दूसरे धर्मों का किन्तु फिर भी भगवान अपने मत को फैलाने को कोशिश नहीं करते थे। वे केवल उपदेश देते थे, जिसकी इच्छा हो वह अपना उद्धार करे, कोई प्रकार की ज़बरदस्ती नहीं थी। वे न तो अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाना चाहते थे और न दूसरे धर्मों का विरोध करते थे। किसी के भी प्रति किसी प्रकार का रागद्वेष नहीं था। वे केवल लोक का कल्याण करना चाहते थे।

उनकी व्याख्यान शैली इतनी सुन्दर थी कि पापी से पापी मनुष्य के हृदय पर भी प्रभाव पड़ता था। इस प्रकार की कई कथाओं का वर्णन जैन सूत्रों में किया गया है। वे अपने उपदेशों में न तो किसी को बुराई करते थे और न किसी की बड़ाई। वे केवल सत्य मार्ग के बताने वाले थे। उनका उपदेश सरल भाषा में होता था जिसको हर कोई समझ सकता था, साथ में गम्भीरता और शान्त भाव भी टपकते थे। यही कारण है कि थोड़े समय के पश्चात् जैनधर्म के अनुयायी बहुत अधिक संख्या में हो गये।

इसी प्रकार उपदेश देते देते, भ्रमण करते करते संसार के प्राणियों को तारते हुए भगवान अपापा नगरी में पधारे। कार्तिक मास की अमावस्या की घोर रात्री में अपना अन्तिम दिव्य उपदेश देते हुए सांसारिक प्रलोभनों से प्राणियों को बचाते हुए उन्होंने सर्व सिद्धी प्राप्त की। उनकी वह अलौकिक आत्मा परमात्मा हो गयी। उनके पश्चात् उनका कार्य भार इनके प्रधान शिष्य गौतम स्वामी ने ग्रहण किया। इनको भी केवल्य प्राप्ति हो गई थी।

आज इस समय संसार में कोई सच्चा जैनी या वीर की सन्तान कहलाने वाला नहीं है। अगर कुछ जैनी हैं तो वे भगवान महावीर का पवित्र नाम मात्र ही स्मर्ण करने वाले हैं।

—:✽:—

श्रावक के व्रत और उनकी उपयोगिता

[*श्री श्रीचन्द रामपुरीया बी० काम*]

धर्म सब से पवित्र वस्तु है। आत्माको उसकी नैसर्गिक अवस्थामें पहुँचा कर उसकी ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुख की अनन्त और अव्याबाध शक्तियाँ स्फुरायमान करने वाला धर्म ही है। आत्मा को, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त अवस्था धर्माचरण से ही मिलती है। आत्मा को प्रकाशमान करने वाला इससे बढ़ कर और कोई तत्व नहीं है। इसीलिये कहा है 'धम्मो मङ्गल मुक्किट्ठ" अर्थात् धर्म उत्कृष्ट मंगल है। 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' का भी यही रहस्य है अर्थात् धर्म जो सत्य है वही शिव (कल्याण कारक) और सुन्दर है।

हमने ऊपर लिखा है कि धर्म महान सिद्ध—मुक्ति को प्राप्त कराता है। जब धर्म मुक्ति जैसी दुर्लभ वस्तु को प्राप्त कराने में समर्थ है तब सांसारिक भोगों और सुखों की बात तो तुच्छ है। धर्म तत्वमें केवल आत्म कल्याण के ही साधन नहीं रहते परन्तु ऐहिक सुख शाँति और उन्नति के साधन भी भर-पूर रहते हैं। वास्तव में जो धर्म जितना ही अधिक आत्म कल्याण कारक होगा वह उतना ही भौतिक सुख शाँति और संपदा को देनेवाला होगा। इस-लिए लौकिक और पारलौकिक उन्नति चाहने वालों के लिए धर्माचरण ही सबसे सहज पथ है। जिस व्यक्ति, समाज व राष्ट्र का ध्यान अधिक से अधिक धार्मिक तत्व अपने जीवन, समाज नीति और राष्ट्रनीति में दाखिल करने की ओर होगा वह व्यक्ति, वह समाज और वह राष्ट्र उतना ही सबल उन्नत और वैभवयुक्त होगा।

धर्माचरण साधु और गृहस्थों की दृष्टि से दो प्रकार का है। आज हमें गृहस्थ—धर्म में रहे हुए श्रावक के व्रतों पर विचार करना है। यह तो मानी हुई बात है कि गृहस्थ के धार्मिक आचारण की रचना उतनी विशाल व सम्पूर्ण नहीं हो सकती जितनी कि एक साधूके आचारण की।

व्रतका उपयोग यहाँ साधारण "उपवास" के अर्थ में नहीं किया गया है। व्रत का अर्थ है हेय प्रवृतियों का पच्चखाण करना, उत्तम नियमों के पालने की प्रतिज्ञा करना। समाज और राष्ट्र के नियम हमारे बाह्य प्रत्यक्ष आचारण को सुव्यवस्थित, दूसरोंके हितोंमें दखल न देनेवाला और लोक रुचिकर बनाते हैं वहाँ धर्मिक नियम बाह्य कर्मों की निमित मूल इच्छाओं को ही सुव्यवस्थित और सद् भावनामय करते हैं। इन से हमारी आन्तरिक भावनाएँ ही कोमल हो जाती हैं जिनसे फिर कार्यों के मलीन वह दूसरों को क्षति पहुँचाने वाले होने की कोई सम्भावना ही नहीं रहती। इसलिये धार्मिक नियमों का मूल्य राजकीय बन्धनों व सामाजिक नियमों से कहीं बढ़ कर है।

हमने ऊपर व्रत—नियमों का महत्व देखा है अब हमें व्रतों के विवेचन पर आना चाहिये। परन्तु व्रतों को अच्छी प्रकार से समझने के लिये उनके गठन और रहस्य को पहिले भली भाँति जान लेना होगा।

जैन-धर्म मुक्ति-धर्म होने से बहुत ही उच्चादर्शमय है। यह उच्चादर्शता उसकी एक बहुत बड़ी विशेषता है। साधु श्रावक दोनों को ही इस उच्च लक्ष्य की ओर अग्रसर होना चाहिये। साधु तो गृहस्थी के झगड़ों और झंझटों से परे होता है अतएव इन आदर्शों को आचरण में दाखिल करना उसके लिये सम्भव होता है परन्तु श्रावक क्या करे? एक ओर गृहस्थी में बाल बच्चे तथा स्त्री आदिके साथ रहना और दूसरी ओर सम्पूर्ण अहिंसा सत्य, अचौर्य्य, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह का पालन करना दो विरोधी बातें हैं। इन गार्हस्थिक कठिनाइयों को ध्यान में रख कर ही गृहस्थों के लिये अलग अणुव्रतों की रचना की गयी है। इन अणुव्रतों की रचना का चातुर्य्य इसी में रहा हुआ है कि वे आदर्शों और सत्यों को उतना ही विशाल रखते हुए अधिक से अधिक अहिंसा, सत्य, अचौर्य्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को श्रावकों के जीवन में दाखिल करते हैं अर्थात् महान सत्यों को जीवन में उतारते हैं। "जैन शास्त्रकार अहिंसा के विषय में ही नहीं किन्तु दूसरे दूसरे विषय में भी अत्यन्त उच्च आदर्श निर्देश करके जिस प्रकार जन साधारण उस आदर्श की ओर धीरे धीरे अग्रसर हो सके, उसकी पूरी व्यवस्था कर गये हैं। जैन शास्त्र में संसार से विरत सन्यासी के लिये हिंसा, असत्य, चौर्य्य आदि विषयों से हमेशा अलग रहने का विधान किया है, उन्हें इन विषयों में महाव्रत करने का उपदेश दिया है। वही आदर्श उनके (गृहस्थों के) जीवन का भी लक्ष्य है, यह बात उन्हें अच्छी तरह समझायी गयी है और उनके हृदय में बैठा दी गई है। किन्तु पहले से ही उस उच्च आदर्श के योग्य काम करना उनके लिये सम्भव नहीं होगा, ऐसा विचार करके जैन शास्त्रकारों ने उनके लिये महाव्रत की व्यवस्था न करके अणुव्रत व आंशिक व्रतकी व्यवस्था की है—पूरे तौर से नहीं, यथा सम्भव हिंसादि से विरत होने के लिये उन्हें चेष्टा करने

की आज्ञा दी है। गृहस्थ के अनुष्ठान के बारे में इस अणुव्रत शब्द का व्यवहार करके जैन शास्त्रकारों ने स्पष्ट रूप से गृहस्थ को समझाने की चेष्टा की है कि यह अणुव्रत है, यह उनके जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता, महाव्रत ही उनके जीवन का लक्ष्य है। अस्तु, अणुव्रत महाव्रत अनुष्ठान करने का उपयोगी सोपान है" *। इन व्रतों की रचना से मानस शास्त्री भगवान महावीर की चातुरी और अतुल बुद्धिमानी का आश्चर्यकारी परिचय मिलता है। गार्हस्थिक कठिनाइयों और बाधाओं के साथ उच्चादर्शता का कैसा अद्भुत सामञ्जस्य बैठाया है। श्रावकों के व्रत बारह हैं और वे इस प्रकार हैं :—

१—स्थूल हिंसा विरमण

इस व्रत का अर्थ है सर्व प्राणियोंकी हिंसा से विरत होना—अधिक नहीं तो कम-से-कम स्थूल हिंसा का त्याग करना। जितनी हिंसा का आगार रखा जाता है वह आश्रव है अर्थात् उससे जीव को कर्म लगते हैं। ये जितने भी व्रत हैं सब निवृत्ति रूप हैं इसलिये इनसे ऐसा अर्थ नहीं निकालना चाहिये कि सूक्ष्म हिंसा आदि करने की आज्ञा दी गई है और आवश्यक होने से उनके अनुष्ठान करने में पाप क्रिया नहीं लगती। ऐसा अर्थ करना व्रतों को न समझने के समान होगा।

इस व्रत को शुद्ध प्रकार से पालन करने के लिये निम्न अतिचारों को न करना चाहिये।

१—कठिन बंधन से जीव को बांधना २—निर्दयता के साथ जीवको मारना ३—अङ्गोपाङ्ग छेदन करना ४—अधिक बोझा लादना ५—अन्न पानी बन्द करना।

अहिंसा सम-भावका प्रथम और सब से मजबूत स्तम्भ है। जहाँ अहिंसा का प्रवेश हो जाता है वहाँ प्रेम, मध्यस्थता, समभाव और विशाल दृष्टि स्वयमेव उत्पन्न हो जाती है। इस अहिंसा-तत्व द्वारा व्यक्तिगत जीवन ही सुख और शांति पूर्ण नहीं होता है परन्तु सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन भी अधिक सुख सम्पन्न और शान्ति पूर्ण बनता है। निर्बल और कमजोरों के अधिकारों और हकों पर दखल करने की प्रवृति सबलों में सदा से रही है। केवल व्यक्ति व्यक्ति के बीच ही नहीं परन्तु समाज समाज और राष्ट्र राष्ट्र के बीच भी ऐसी कुत्सित प्रवृति रहती है। इस प्रवृतिका मूल अपनी कीर्ति, सुख-सुविधा और ऐहिक उन्नति को अधिक मूल्यवान समझना और दूसरों के सुखों और सुविधाओं की ओर उपेक्षा की दृष्टि से देखना है। इसका फल यह होता है कि निर्बल भीतर ही भीतर संगठित होते जाते हैं और एक न एक दिन अपने पर अत्याचार करने वाले से बदला लेने पर तुल जाते हैं। फल स्वरूप दोनों दलोंमें भीषण संघर्ष होता है, असंख्य प्राणियोंके खून से पृथ्वी रंग जाती है। यदि प्रयास सफल होता है तो अब सत्ता इन पीड़ितों के हाथों में आती है। ये धीरे धीरे अपनी हीनावस्था के समय की तकलीफों और कष्टों को भूलने लगते हैं और उनके बाद की पीढ़ियां तो बिलकुल ही विस्मरण कर बैठती हैं और वे स्वयं पीडक, और मानवता के शत्रु बन बैठते हैं। ऐसा परिवर्तन अनेक बार हुआ है परन्तु चिरस्थायी शांति

* जैन धर्म की विशेषता—पृ० १३—१४

में उसका परिणाम कभी भी न मिला। इस पट—परिवर्तन व उलट-उलट से बड़े बड़े रोमाञ्चकारी संहार अवश्य होते हैं परन्तु मानव हृदय में रही हुई आसुरी प्रवृतियों का संहार कभी नहीं होता। अहिंसा इन्हीं आसुरी प्रवृतियों का संहार करती है। वह मनुष्य को दूसरे के सुखों के प्रति सहिष्णु बनाती है, दूसरे के हकों की रक्षा करने की प्रेरणा करती है। वह कहती है "सब जीवों को सुख प्रिय है, दुःख सब को अप्रिय है, अतएव किसी भी जीव सत्व व प्राणी की हिंसा मत करो, अपनी कीर्ति, मान, सुख और सुविधा के लिये दूसरों को कष्ट न दो। इस से तुम्हारी आत्मा का भी अपलाभ होगा।" जब ऐसी भावना एक व्यक्ति समाज या राष्ट्र के हृदयंगम हो जाती है तो "खुद जीवो और दूसरों को जीवित रहने दो" का सिद्धांत अपने आप फलित होजाता है। उस समाज में—उस राष्ट्र में प्रेम, मैत्री और शाँति का साम्राज्य छा जाता है। इसलिये अहिंसा समाज और राष्ट्र का अस्तित्व और आधार है। वह विश्व के सारे विग्रहों का नाश कर देने वाली शक्ति है। इस शक्ति को हम जितना ही अधिक अपनावे उतना ही हमारा कल्याण है। जगत के सर्व श्रेष्ठ पुरुष महात्माजी ने आज इसी शक्ति को काम में लाकर भारत का आश्चर्यकारी उपकार और उत्थान किया है।

२—स्थूल असत्य विरमण व्रत

सत्य बोलना, झूठ न बोलना, बोले भी तो कम से कम झूठ बोलना। स्थूल असत्य के बोलने का त्याग करना। इस नियम को ग्रहण करने वाले को इन निम्नलिखित अतिचार न करने पर खास लक्ष्य रखना पड़ता है क्योंकि इनके द्वारा लिये हुए व्रत का अप्रत्यक्ष रूप से भंग होता है।

(१) बिना विचारे मिथ्या दोषारोपण करना (२) किसी की गुप्त बात प्रकाशित करना (३) अपनी स्त्री का रहस्य खोलना (४) असत्य लेख लिखना व जाली कागज तय्यार करना (५) बुरी सलाह देना।

दूसरों के मनोभावों को कष्ट पहुँचे ऐसे अतिचार न करे यह तो सत्याचारी के लिये ठीक ही है। सत्य अहिंसा का आधार और पोषक होना चाहिये। दूसरों के मनोभावों को चोट पहुँचे ऐसी बातें कहना अहिंसा का पोषण नहीं शोषण है। मनुष्य अपनी कन्या व सन्तान के रूप व रंग के लिये झूठ बोलता है, पशुओं के सम्बन्ध में झूठ बोलता है, जमीन आदि के लिये झूठ बोलता है। दूसरे की रखी हुई चीज को इन्कार करने में झूठ बोलता है और दूसरे की बात को पुष्ट करने के लिये झूठी साक्षी देता है। झूठ और भी असंख्य प्रकार के होते हैं। परन्तु उपरोक्त झूठ तो ऐसे हैं जो शीघ्र ही प्रकाश में आ सकते हैं। इन सब झूठों के लिये राजकीय दण्ड मिलता है। सत्य बोलने वाले को इस दण्ड रूपी आपत्ति का भय नहीं रहता।

सत्य में जीवन विकाश का महान मंत्र छिपा हुआ है। सत्य के द्वारा आज गांधी जी ने पृथ्वीको हिला दिया है। सत्य मनुष्यकी साखको सींचता है। दूसरों की आँखों में सत्यवादी का विश्वास बढ़ता है। सत्य बोलने वाले मनुष्य का प्रभाव सूर्य्य की किरणों की तरह चारों ओर फैल जाता है।

सत्य बोलने वाले की विचार शक्ति बहुत प्रबल होती है क्योंकि सत्य बोलने के लिये उसे अपने वाक्य निकालने के पहिले कई बार विचार कर लेना पड़ता है इससे उसकी विचार शक्ति नवीन २ बातों को खोज निकालती है। एक जगह श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा कि 'मिथ्यावादी वक्ता नहीं हो सकता' इसका अर्थ भी शायद यही है। मिथ्यावादी कभी विचारता नहीं, विचार करने की उसे आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती इससे वह श्रोताओं को नवीन विचार सामग्री नहीं दे सकता है और वह असफल वक्ता साबित होता है।

"समान्य बातचीत में भी कहा जाता है कि, सत्य जगत का धारण है अर्थात् सत्य के आधार पर यह पृथ्वी रही हुई है। इस कथन से यह शिक्षा मिलती है कि धर्म, नीति, राज और व्यवहार ये सत्य से ही प्रवर्तन कर रहे हैं; यदि ये चार न हों तो जगत का रूप कितना भयंकर हो जाय? इसलिये यह कहना कि सत्य जगत का आधार है कोई अतिशयोक्ति व नहीं मानने योग्य बात नहीं है।"

३—स्थूल चोरी विरमण

अदत्त ग्रहण न करना। बिना दिये हुए रास्ते में पड़े हुए एक तिनके को भी लेना चोरी है। श्रावक इतना कठिन नियम पालन नहीं कर सकता इसलिये उसे स्थूल चोरी करने का त्याग करना चाहिये। राजा दण्ड देवे और लोगों में निन्दा हो ऐसा अदत्त ग्रहण तो जितना हो सके छोड़ देना चाहिये। स्थूल चोरी के त्याग करने वाले को, निम्नलिखित बातों के करने से व्रत में दोष लगता है इसलिये उनको कभी भी न करना चाहिये।

(१) चोरी की वस्तु लेना (२) चोर को सहायता व रक्षा करना (३) खोटा तोल और खोटा माप करना (४) एक वस्तु में अन्य मिलने वाली वस्तु को मिलाना * (५) राज्य नियम को उल्लंघन कर दूसरे राज्य में जाना

स्वयं तो चोरी का त्याग करना और दूसरों को चोरी करने में सहायता पहुँचाना व्रत नहीं व्रत का ढोंग है इसलिये व्रत शुद्धि के लिये पहली दो बातों को छोड़ने की अनिवार्य आवश्यकता स्पष्ट है।

जिन बातों के करने से राज दण्ड देता हो उनको करने से कोई भी सुखमय जीवन की आशा नहीं रख सकता। जब कभी भी उसकी चोरी पकड़ी जावेगी तो दण्ड अवश्य मिलेगा। इससे उस मनुष्य की मानसिक शाँति का अपहरण होगा। इसलिए ऐसे काम सदा त्याज्य ही होने चाहिए।

आज हमारा व्यापारिक सम्बन्ध बहुत दूर दूर के देशों से है। यह सारा व्यापार केवल विश्वास पर ही चलता है। यदि एक व्यक्ति दूसरे देश को चोरी से संख्या व परिमाण में कम वस्तु भेजे या शुद्ध में अशुद्ध वस्तु को मिलाकर भेजे तो इसका नतीजा यह होगा कि केवल वह व्यक्ति ही जुवा चोर न ठहरेगा परन्तु समूचे देश के व्यापारियों पर कलंक आवेगा। एक व्यक्ति की चोरी का फैलाव समूचे देश के मस्तक को नीचा कर देगा।

---

* जैसे घी में चर्बी मिलाना, अथवा वनस्पति घी मिलाना, आटे में चिकना पत्थर मिलाना, दूध में जल मिलाना, पाट में पानी मिलाना आदि आदि

में उसका परिणाम कभी भी न मिला। इस पट —परिवर्तन व उलट-उलट से बड़े बड़े रोमञ्चकारी संहार अवश्य होते हैं परन्तु मानव हृदय में रही हुई आसुरी प्रवृत्तियों का संहार कभी नहीं होता। अहिंसा इन्हीं आसुरी प्रवृत्तियों का संहार करती है। वह मनुष्य को दूसरे के दुःखों के प्रति सहिष्णु बनाती है, दूसरे के हकों की रक्षा करने की प्रेरणा करती है। वह कहती है "सब जीवों को सुख प्रिय है, दुःख सब को अप्रिय है, अतएव किसी भी जीव सत्व व प्राणी की हिंसा मत करो, अपनी कीर्ति, मान, सुख और सुविधा के लिये दूसरों को कष्ट न दो। इस से तुम्हारी आत्मा का भी अपलाभ होगा।" जब ऐसी भावना एक व्यक्ति समाज या राष्ट्र के हृदयंगम हो जाती है तो "खुद जीवो और दूसरों को जीवित रहने दो" का सिद्धांत अपने आप फलित होजाता है। उस समाज में—उस राष्ट्र में प्रेम, मैत्री और शाँति का साम्राज्य छा जाता है। इसलिये अहिंसा समाज और राष्ट्र का अस्तित्व और आधार है। वह विश्व के सारे विग्रहों का नाश कर देने वाली शक्ति है। इस शक्ति को हम जितना ही अधिक अपनावे उतना ही हमारा कल्याण है। जगत के सर्व श्रेष्ठ पुरुष महात्माजी ने आज इसी शक्ति को काम में लाकर भारत का आश्चर्यकारी उपकार और उत्थान किया है।

२—स्थूल असत्य विरमण व्रत

सत्य बोलना, झूठ न बोलना, बोले भी तो कम से कम झूठ बोलना। स्थूल असत्य के बोलने का त्याग करना। इस नियम को ग्रहण करने वाले को इन निम्नलिखित अतिचार न करने पर खास लक्ष्य रखना पड़ता है क्योंकि इनके द्वारा लिये हुए व्रत का अप्रत्यक्ष रूप से भंग होता है।

(१) बिना विचारे मिथ्या दोषारोपण करना (२) किसी की गुप्त बात प्रकाशित करना (३) अपनी स्त्री का रहस्य खोलना (४) असत्य लेख लिखना व जाली कागज तय्यार करना (५) बुरी सलाह देना।

दूसरों के मनोभावों को कष्ट पहुँचे ऐसे अतिचार न करे यह तो सत्याचारी के लिये ठीक ही है। सत्य अहिंसा का आधार और पोषक होना चाहिये। दूसरों के मनोभावों को चोट पहुँचे ऐसी बातें कहना अहिंसा का पोषण नहीं शोषण है। मनुष्य अपनी कन्या व सन्तान के रूप व रंग के लिये झूठ बोलता है, पशुओं के सम्बन्ध में झूठ बोलता है, जमीन आदि के लिये झूठ बोलता है। दूसरे की रखी हुई चीज को इन्कार करने में झूठ बोलता है और दूसरे की बात को पुष्ट करने के लिये झूठी साखी देता है। झूठ और भी असंख्य प्रकार के होते हैं। परन्तु उपरोक्त झूठ तो ऐसे हैं जो शीघ्र ही प्रकाश में आ सकते हैं। इन सब झूठों के लिये राजकीय दण्ड मिलता है। सत्य बोलने वाले को इस दण्ड रूपी आपत्ति का भय नहीं रहता।

सत्य में जीवन विकाश का महान मंत्र छिपा हुआ है। सत्य के द्वारा आज गांधी जी ने पृथ्वीको हिला दिया है। सत्य मनुष्यकी साखको सींचता है। दूसरों की आँखों में सत्यवादी का विश्वास बढ़ता है। सत्य बोलने वाले मनुष्य का प्रभाव सूर्य्य की किरणों की तरह चारों ओर फैल जाता है।

सत्य बोलने वाले की विचार शक्ति बहुत प्रबल होती है क्योंकि सत्य बोलने के लिये उसे अपने वाक्य निकालने के पहिले कई बार विचार कर लेना पड़ता है इससे उसकी विचार शक्ति नवीन २ बातों को खोज निकालती है। एक जगह श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा कि 'मिथ्यावादी वक्ता नहीं हो सकता' इसका अर्थ भी शायद यही है। मिथ्यावादी कभी विचारता नहीं, विचार करने की उसे आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती इससे वह श्रोताओं को नवीन विचार सामग्री नहीं दे सकता है और वह असफल वक्ता साबित होता है।

"सामान्य बातचीत में भी कहा जाता है कि, सत्य जगत का धारण है अर्थात् सत्य के आधार पर यह पृथ्वी रही हुई है। इस कथन से यह शिक्षा मिलती है कि धर्म, नीति, राज और व्यवहार ये सत्य से ही प्रवर्तन कर रहे हैं; यदि ये चार न हों तो जगत का रूप कितना भयंकर हो जाय? इसलिये यह कहना कि सत्य जगत का आधार है कोई अतिशयोक्ति व नहीं मानने योग्य बात नहीं है।"

३—स्थूल चोरी विरमण

अदत्त ग्रहण न करना। बिना दिये हुए रास्ते में पड़े हुए एक तिनके को भी लेना चोरी है। श्रावक इतना कठिन नियम पालन नहीं कर सकता इसलिये उसे स्थूल चोरी करने का त्याग करना चाहिये। राजा दण्ड देवे और लोगों में निन्दा हो ऐसा अदत्त ग्रहण तो जितना हो सके छोड़ देना चाहिये। स्थूल चोरी के त्याग करने वाले को, निम्नलिखित बातों के करने से व्रत में दोष लगता है इसलिये उनको कभी भी न करना चाहिये।

(१) चोरी की वस्तु लेना (२) चोर को सहायता व रक्षा करना (३) खोटा तोल और खोटा माप करना (४) एक वस्तु में अन्य मिलने वाली वस्तु को मिलाना * (५) राज्य नियम को उल्लंघन कर दूसरे राज्य में जाना

स्वयं तो चोरी का त्याग करना और दूसरों को चोरी करने में सहायता पहुँचाना व्रत नहीं व्रत का ढोंग है इसलिये व्रत शुद्धि के लिये पहली दो बातों को छोड़ने की अनिवार्य आवश्यकता स्पष्ट है।

जिन बातों के करने से राज दण्ड देता हो उनको करने से कोई भी सुखमय जीवन की आशा नहीं रख सकता। जब कभी भी उसकी चोरी पकड़ी जावेगी तो दण्ड अवश्य मिलेगा। इससे उस मनुष्य की मानसिक शांति का अपहरण होगा। इसलिए ऐसे काम सदा त्याज्य ही होने चाहिए।

आज हमारा व्यापारिक सम्बन्ध बहुत दूर दूर के देशों से है। यह सारा व्यापार केवल विश्वास पर ही चलता है। यदि एक व्यक्ति दूसरे देश को चोरी से संख्या व परिमाण में कम वस्तु भेजे या शुद्ध में अशुद्ध वस्तु को मिलाकर भेजे तो इसका नतीजा यह होगा कि केवल वह व्यक्ति ही जुदा चोर न ठहरेगा परन्तु समूचे देश के व्यापारियों पर कलंक आवेगा। एक व्यक्ति की चोरी का फैलाव समूचे देश के मस्तक को नीचा कर देगा।

---

* जैसे घी में चर्बी मिलाना, अथवा वनस्पति घी मिलाना, आटे में चिकना पत्थर मिलाना, दूध में जल मिलाना, पाट में पानी मिलाना आदि आदि

अच्छी चीज में बुरी को मिलाकर बिक्री करना तो और भी बुरा है। इससे और बुराइयों के साथ-साथ बड़ी भारी शारीरिक हानी भी होती है। आजकल ऐसा ढंग हो गया है कि कहीं भी खास कर बड़े शहरों में तो, कोई भी खाद्य पदार्थ शुद्ध नहीं मिलता। सब में कुछ न कुछ भेजाल रहती है। लोग चर्बी जैसी घृणित वस्तु की भी भेजाल देते पकड़े गये हैं। इस से हमारा शारीरिक ह्रास होता जा रहा है। भीषण रोगों के हम शिकार हो रहे हैं। स्वतन्त्र देशों में राजकीय कड़े नियमों के कारण फिर भी शुद्ध वस्तु मिलने की व्यवस्था है। परन्तु वहाँ भी मौका मिलने पर दूषित मिश्रण (Adulteration) बराबर होता रहता है। जो मनुष्य इस व्रत को स्वीकार करता है वह न केवल अपने सुनाम की रक्षा करता है परन्तु सारे देश की सुख्याति करता है। वह अपने, अपने समाज और देश के स्वास्थ्य की तो रक्षा करता ही है परन्तु इस अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के युग में दूसरे देशों के लोगों के स्वास्थ्य की भी रक्षा करता है। यही पाँचवे अतिचार का महत्व और उपयोगिता है।

४—स्वदार संतोष

इस व्रत का अर्थ है ब्रह्मचर्य पालन करना। पर स्त्री से, देवाङ्गना से, तिर्यञ्चनी से तो कभी भी संसर्ग न करना, अपनी स्त्री से भी संसर्ग करना तो लघु, व्यवस्था पूर्वक करना। व्रत की रक्षा के लिये इन बातों को अवश्य पालन करना चाहिये —(१) वेश्या गमन न करना (२) कुमारी व विधवा से संसर्ग न करना (३) दूसरी स्त्रियों के साथ शृंगार चेष्टा न करना (४) दूसरों के विवाह नहीं कराना (५) काम-भोग की तीव्र लालसा न करना।

जो ब्रह्मचर्य का तो व्रत लेता है और मनमें विषय भावनाओं को पोषण करता है उसका पतन तो एक दिन न एक दिन अवश्य होता है। मन में विषय वासनाओं के रखने से ब्रह्मचर्य पालन करने के पीछे रहा हुआ उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है इसीलिये पाँचवे अतिचार की आवश्यकता है। कुमारी, विधवा, तथा अन्य स्त्री के साथ संभोग करना सामाजिक सदाचार के विरुद्ध है। इस से समाज में नाना प्रकार के पाप और कुकर्म फैलते हैं। गर्भपात, भ्रूण हत्याएँ तथा और भी कितने ही प्रकार के अमानुषिक अत्याचार इस व्यभिचार से होते हैं। वेश्यागमन जैसा भयंकर, दुःख परिणामी तो दूसरा कृत्य है ही नहीं। इस से ऐसे भयंकर रोग उत्पन्न होते हैं जो उस वेश्यागामी मनुष्य को ही नहीं परन्तु उसके बाल बच्चे और उनके संसर्ग में आने वाले लोगों तक को भोगने पड़ते हैं।

इस व्रत की रचना भी बड़ी चातुरी से की गयी है। इस व्रत द्वारा भोग की सीमा स्व विवाहित स्त्री से तो आगे बढ़ने दी ही नहीं है परन्तु पत्नी के साथ भी बहुत ही संयम पूर्वक रहने का निर्देश किया है। इसका रहस्य यही है कि हम अधिक से अधिक ब्रह्मचर्य पालन करें। आज कल सन्तान वृद्धि निग्रह का जमाना है। कई प्रकार के कृत्रिम उपायों द्वारा संतान निग्रह किया जाता है। महात्मा जी जैसे महान पुरुष को इन उपायों की हानियों पर प्रकाश डालने के लिये पुस्तक तक लिखनी पड़ी। यदि हम ब्रह्मचर्य व्रत को अपना कर अपनी भोग इच्छा पर ही लगाम डाल दें तो हम कितने लाभ पूर्वक संतान वृद्धि निग्रह कर सकेंगे। भोग की इच्छा जब तक मन में रहेगी तब तक चाहे हम

कितने ही उपायों से सन्तान होना बन्द करदें तथापि हमारा नैतिक और शारीरिक पतन ज्यों का त्यों बना रहेगा।

जैन धर्म में ब्रह्मचर्य पालन करने वाले अनेक शूरवीर उत्पन्न हो चुके हैं। सुदर्शन शेठ ने जिस दृढ़ता के साथ इन्द्रिय दमन किया था—यह प्रत्येक जैनी जानता है। विजय और विजया सती का दृष्टान्त तो बहुत ही बोधप्रद है। इन में से एक को शुक्ल और एक को कृष्ण पक्षमें ब्रह्मचर्य पालन करने का व्रत था। विवाह करने के बाद जब यह बात मालूम हुई तो दोनों ने पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने की ठान ली। गृहस्थ ब्रह्मचारियों और ब्रह्मचारिणियोंके जितने उदाहरण जैन साहित्य में मिलते हैं उतने शायद और किसी साहित्य में न मिलें।

श्रीमद् स्व० कवि राजचन्द्र ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में गाया है—

निरखी ने नव यौवना, लेश न विषय निदान ;
गणे काष्ठनी पूतली, ते भगवान समान।
आ सघला संसारनी, रमणी नायक रूप;
ए त्यागी, त्याग्युं बधुं, केवल शोक स्वरूप।
एक विषय ने जीततां, जीत्यो सौ संसार ;
नृपति जीततां जीतिए दल, पुर, ने अधिकार।
विषय-रूप अंकूर थी, टले ज्ञान ने ध्यान ;
लेश मदिरा पान थी, छाके ज्यम अज्ञान।
जे नव वाड़ विशुद्ध थी, धरे शियल सुखदाइ ;
भव तेनो लव पछी रहे, तत्त्व वचन ए भाइ।
सुन्दर शीयल सुर तरू, मन वाणी ने देह ;
जे नर नारी सेवशें, अनुपम फल ले तेह।
पात्र विना वस्तु न रहे, पात्रे आत्मिक ज्ञान ;
पात्र थवा सेवो सदा, ब्रह्मचर्य मतिमान !

ब्रह्मचर्य के गुणों का इससे अच्छा चमत्कारिक वर्णन और क्या हो सकता है ? सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन करने से मुक्ति प्राप्त होती है—मनुष्य भगवान के समान हो जाता है। यह तो आत्मिक कल्याण हुआ। हम गृहस्थोंके लिये तो ब्रह्मचर्य अमृत घूंट के समान है। शरीर को बलिष्ठ करने वाला, मनको स्फूर्ति देने वाला, हृदय को उत्साहित करने वाला ब्रह्मचर्य ही है। इससे सामाजिक सदाचार बढ़ता है। भयंकर रोगों से छुटकारा मिलता है।

५—परिग्रह परिमाण

पाँचवां व्रत परिग्रह संकोच व्रत कहलाता है। अपने पास की चीजों को कम करते जाना व अधिक से अधिक त्यागी बनते जाना ही इस व्रत का उपदेश है। गृहस्थ श्रावक को अपनी घरेलू आवश्यकताओं के लिये परिग्रह रखना पड़ता है। वह रखे भी परन्तु कम से कम रखे। परिग्रह बाह्य और अन्तर भेद से दो प्रकार का है। बाह्य वस्तुओं पर मूर्छा व ममत्व भाव होना आभ्यन्तर परिग्रह है। बाह्य परिग्रह की जड़ यही है। ममता व मूर्छा जितने ही अंशों में कम होती जायगी बाह्य चीजों का आकर्षण उतना ही कम और फीका मालूम होता जायगा। बाह्य परिग्रह नौ प्रकार का है—(१) खेत अर्थात् खुली भूमी, (२) वस्तु अर्थात् मकानादि बनाई हुई भूमि (३) हिरण—चाँदी आदि धातु (४) सुवर्ण-सोना (५) धन-रुपया गहनादि (६) धान (७) कुम्भी धातु अर्थात् ताम्बा, पीतल, काँसी, लोहादि (८) दास दासी आदि

द्विपद (६) ग्राम; भैंस, घोड़ा, ऊँट आदि पालतू पशु। श्रावक को मोह और मूर्छा कम करते हुए इन बाह्य परिग्रहों की सीमा बाँध लेनी चाहिये। सीमा बाँध कर उसका उलंघन तो कभी भी न करना चाहिये।

परिग्रह की बुराइयों को दिखाने वाले कुछ पद्यों को यहाँ उद्धृत करने का लोभ निरोध नहीं कर सकता:—

'ऐ मोटो प्रतिबंध पाश, करे बोध बीजरो नाश।
मार्ग छै कुगति रो ए, नहीं छै मुक्ति रो ए॥
श्री भिखू स्वामी

''मांठी लेश्या होय, आर्त रौद्र ध्यान नें।
न्याय न सूझे कोय, लिप्त धनवान ने॥
सुमति शुचि सौभाग्य, विनासण यही।
जन्म मरण भय अथाग, हुवै परिग्रह थकी॥
कड़वा कर्म विपाक, तणों हेतु सधै।
सींचे तृष्णा बेल, विषय इन्द्री बधै॥
दारुण कर्कश दुःख, वेदन असरालही।
कूड कपट परपंच करै विकराल ही॥
इण सरीखो नहीं मोहपाश, प्रतिबंध है।
स्नेह राग करि जास, मूर्छा अन्ध है॥''
श्री गुलाब चन्द

यह व्रत भी सामाजिक, राष्ट्रीय और समस्त मानव जाति के हित के दृष्टि कोण से ही बहुत लाभ प्रद है। संसार में जितने भी विग्रह व अशांतियाँ होती हैं उनका मूल विषम साम्पत्तिक बंटवारा होता है। जहां धनिक अधिक धनवान होते जाते हैं और गरीबों की गरीबी दिन पर दिन बढ़ती जाती है वहां पर शान्ति का साम्राज्य नहीं रह सकता। गरीब एक न एक दिन विप्लव करते हैं और इस घोर अत्याचार जनित प्रति क्रियाके फलस्वरूप धनवानों के रंग महल ढह कर मिट्टी में मिल जाते हैं। साम्पत्तिक असमानता के कारण आज सारे यूरोप और अन्य पाश्चात्य देशों में अशान्ति के भाव फैले हुए हैं।

साम्यवाद, संघवाद और बोलशेविज्म इसी अशांति के कड़ुए परिणाम हैं। असमानता और आर्थिक विषमता को दूर करने के लिये ये विविध सिद्धान्त अनेक प्रकार से काम में लाये जा रहे हैं। परन्तु इन की असफलता का बीज इन्हीं में समाया हुआ है। उदाहरण के लिये बोलशेविज्म को ही लीजिये। वह मनुष्य को उसकी बुद्धि और परिश्रम का यथोचित स्वत्वपूर्ण पुरस्कार प्राप्त करने में बाधा देता है। मेहनत एक करे, बुद्धि एक दौड़ावे और उसका फल मिले दूसरों को जो या तो मूर्ख है, निरुद्यमी है अथवा बदमाश है—यह सम्पूर्ण अस्वाभाविक और मानव भावनाओं के विपरीत है। इससे मनुष्यके निरुद्यमी बनने का भय रहता है। परिश्रम के बदले में फल प्राप्ति की आशा से उत्साह, स्फूर्ति और जोखिम उठाने का बल बढ़ता है। बोलशेविज्म आदि प्रतिक्रियाएं असमानता को तो दूर करना चाहती हैं परन्तु जिस प्रणाली से वेह यह उद्देश्य सिद्धि करती हैं वह उपरोक्त कारणों से अधूरी और बहुत ही दूषित हैं। महावीर ने मानों इन बुराइयों से अछूता रह कर भी 'परिग्रह—संकोच व त्याग व्रत में साम्पत्तिक प्रभुता, व विषमता को नाश करने का उपाय निकाला था। इस व्रत में उन्हों ने त्याग के असली महत्व और मूल्य को

दिखाते हुए सब को स्वेच्छा से अपनी धन धान्य सामग्री का यथेच्छ परिमाण व संकोच करने की प्रेरणा की है। इस त्याग का, परिग्रह-संकोचका व्यापक प्रभाव दूसरों के आर्थिक अभाव को दूर करने में बहुत कुछ पड़ता है। ऊपर जिन नौ परिग्रहों का वर्णन किया गया है यदि प्रत्येक मनुष्य इन को एक निश्चित परिमाण से अधिक अपने लिये न रखे तो वह बचा हुआ धन धान्य स्वयं गरीब और उन चीजों की आवश्यकता रखने वालों के पास चला जाय। धनवानों के त्याग से गरीबों को अपने आप जीवनोपयोगी सामग्रियाँ मिलने लगें। यदि हम विचार करें तो यह स्पष्ट मालूम होगा कि गरीबों की तकलीफ का कारण यह नहीं है कि वसुधा पर उनके लिये यथेष्ट खाद्य सामग्री उत्पन्न नहीं होती अथवा पृथ्वी का क्षेत्र इतना विस्तृत नहीं कि रहने के लिये उनको भूमि मिले—परन्तु इसका वास्तविक कारण है बलवान व सत्ता धारियों की संग्रह-ममता है। ये लोग अपनी आवश्यकताओं से अधिक भूमि धन धान्यादि वस्तुओं पर अपना कब्जा व दखल कर लेते हैं और इसी से गरीबों के लिये कुछ भी नहीं बच जाता। इस संग्रह प्रवृत्ति को रोकने का सबसे सरल उपाय लोगोंके हृदयमें त्यागके भावों को भरना है। भगवान महावीरने परिग्रह—त्याग के उज्वल सिद्धान्त का प्रचार कर गरीबों को सम्पन्न करने का उपाय बताया है। इसी उपाय को अङ्गीकार करने से हमारी वर्तमान आर्थिक असमानता भी दूर हो सकती है, अन्य उपायों से नहीं।

६—दिग्व्रत

ऊपर पाँच अणुव्रतों का वर्णन किया है। इन अणुव्रत-रूपी वृक्षों की रक्षा के लिये तीन गुणव्रत रूपी बाड़ है। उपरोक्त व्रतों द्वारा बहुत सी स्थूल प्रवृत्तियाँ बंद कर दी गयी हैं फिर भी सूक्ष्म अव्रत बहुत रह गयी है। गुण-व्रत इस रही हुई अव्रत को और भी संक्षिप्त—परिमित करता है। गुण व्रत निम्न लिखित हैं :—

एक, दसों दिशाओं में मर्यादा उपरांत जाने का त्याग करना। यह रहे हुए अव्रतों की क्षेत्र-मर्यादा करता है अर्थात् एक खास परिधि के भीतर ही हमें अपनी रखी हुई छूटों का उपयोग करना सिखलाता है। इस सीमा के बाद व्रती को महाव्रत करने का फल मिलता है। जो श्रावक दसों दिशाओं की मर्यादा कर लेता है वह हिंसा, चोरी, झूठ, विवाह अथवा ब्रह्मचर्य भंग और परिग्रह-आश्रव उस सीमा के बाहर सेवन नहीं कर सकता। वह उस सीमा के बाहर की वस्तु तक भीतर नहीं मंगा सकता और न भीतर की वस्तु ही बाहर भेज सकता है। दूसरे शब्दों में कहें तो इसका अर्थ यह हुआ कि पाप का अनुष्ठान एक खास क्षेत्र में ही रुक जाता है उसके बाद उसका फैलाव नहीं होता।

इस व्रत में एक बात खास ध्यान देने योग्य है कि जो मनुष्य इस व्रत को स्वीकार करता है वह बाहर की वस्तु नहीं मंगा सकता और न बाहर भेज ही सकता है। यदि मंगा व भेज भी सकता है तो एक पूर्व निश्चित परिमाण में। स्वदेशी के इस जमाने में इससे बहुत अधिक बोध प्राप्त करने का है। आज प्रत्येक देश का दूसरे देश से व्यापारिक सम्बन्ध है। कई देशों के बीच संरक्षण

(Protection) रहता है तो कईयों के बीच स्वतन्त्र व्यापार चलता है। इस पिछली रीति के व्यापार में भी एक देश दूसरे देश पर कर लगाता है। इससे बराबर Tariff wars होते ही रहते हैं। दिशि मर्यादा व्रत एक खास क्षेत्र के भीतर व्यापार करने की छूट देता है उसके बाद व्यापार करने की छूट नहीं देता। इसका तात्पर्य्य यह हुआ कि वर्जित क्षेत्र से व्यापार करने की मनाई से संरक्षित व्यापार (Protected Trade) के सारे लाभ परोक्ष रूप से देश को मिल गये। अर्थात् बाहर की चीजें देश में न लाने से निम्न लिखित फायदे होंगे—(१) देशकी कृषि और उद्योग धन्धों की उन्नति होगी क्योंकि विदेशों से चीजें न मंगाने से देश में ही आवश्यक चीजें तय्यार करनी होंगी (२) मजूरों की मजूरी बढ़ेगी और काम मिलेगा। देश स्वाश्रयी होगा। दूसरे देशों को वस्तुएँ न भेजने से वहाँ के लोगों को भी ऐसे ही फायदे होंगे। इन सब का महा फल यह होगा कि सभी देश अपनी अपनी उपजसे संतुष्ट रहेंगे। एक देशको दूसरे के लिये चिन्ता करने की आवश्यकता न रहेगी। इससे बहुत से व्यर्थ हिंसा पूर्ण आरम्भ न होंगे। गरीब देश धनवान देश के साथ स्वतन्त्र व्यापार कर जो हानि उठाता है और दिन पर दिन अधिक निर्धन होता जाता है—वह बन्द होगा। ऊपर जो बातें कही गयी हैं वे काल्पनिक नहीं हैं हाँ उनकी सत्यता का पता तो तभी लग सकता है जब कि अधिक से अधिक जनता इस व्रतको अपने जीवन में उतारे।

"सेवा कराते व स्वार्थ की दृष्टि से सेवा करते मनुष्य को दिशा का परिमाण अवश्य करना चाहिये और पीछे से उसे कम भी करना चाहिये। इससे संकुचितता फैलेगी ऐसी कइयों की धारणा है परन्तु वह मिथ्या है। स्वार्थ, लोभ, द्रोह, अधिकार और सत्ता का विस्तार करने से किसी का भी लाभ नहीं होता। निरपेक्ष सेवा, प्रेम, अहिंसा हृदय के विकाश और कल्याण चिन्तन करने की मर्यादा करने को कोई नहीं कहता।" इन वाक्यों में काका कालेलकर ने एक बहुत बड़ी गलतफहमी, जो इस व्रत के विषय में हो सकती है, दूर कर दी है।

७—उपभोग परिभोग परिमाण

उपभोग परिभोग परिणाम व्रत दूसरा गुण व्रत है। जो चीजें केवल एक ही बार काम में आ सकती हों उन्हें उपभोग * और जो चीजें बारबार काम में आ सकती हों—उन्हें परिभोग * कहते हैं। दिग्व्रत द्वारा प्रथम पाँच व्रतों में रही हुई छूट का क्षेत्र परिमाण होता है और इस शिक्षाव्रत द्वारा इस सीमित क्षेत्र में रही हुई बहुत सी अनावश्यक वस्तुओं को छोड़ने का नियम करना पड़ता है।

व्रत लेने वाले को निम्न लिखित छबीस बोलों की सीमा करनी चाहिये—

(१) अंगोछा (२) दाँतन—इसमें सब प्रकार के दँतमज्जन सामिल हैं।

(३) फल—यहाँ उन फलों से मतलब है जो

---

* द्वादश व्रत की टीप, श्री भीखणजीकृत द्वादस व्रत की ढाल तथा वर्द्धमान चरित्र नाम की पुस्तक में ऐसा ही अर्थ किया है परन्तु इसका ठीक उलटा अर्थ हारनोल कृत 'उपासक दशाओ' के अंग्रेजी अनुवाद में है—पृ० १४ नोट २५। गुजराती दश उपासकों में भी बादवाला अर्थ है।—ले०

केश धोने के काम में आते हों—जैसे आमला आदि अब साबुन इसी में समझना चाहिये (४) तेल (५) उबटन, शरीर के लगाने की साबुन, पाउडर आदि (६) स्नान विधि (७) वस्त्र (८) विलेपन—चन्दन, केसर, इतर, आधुनिक ढंग की मुख मालिस (जैसे हैजलिन स्नो), सेण्ट आदि (९) पुष्प (१०) आभूषण (११) धूप (१२) पेय (१३) भक्ष (१४) मोदन (१५) सूप (१६) घृत गुड़ आदि (१७) शाक (१८) मेवादि (१९) भोजन (२०) जल (२१) ताम्बूलादि—पान, बिड़ी, सिगरेट आदि (२२) वाहन—ट्राम, रेल, हवाई जहाज, जहाज, मोटरादि (२३) जूती (२४) शय्या—बिछौने की वस्तुएँ (२५) सचित वस्तुएँ—वनस्पति, फल, (२६) अन्य द्रव्य।

इस व्रत से हमें सादगी पूर्ण जीवन व्यतीत करने की शिक्षा मिलती है। विलास सामग्री के छोड़ने से ही जीवन पवित्र बनता है। जब तक मनुष्य नाना प्रकार की भोग सामग्रियों में लुभायमान रहता है तब तक सच्चा ज्ञान उदित नहीं होता। सादगी और उच्च भावनाओं का प्रायः मेल-जोल रहता है। जब तक सादगी और जितेन्द्रियता नहीं आती तब तक मनुष्य ऊँचा नहीं उठ सकता। भारत जैसे गरीब देश के लिये तो भोग की इच्छा कम करने से ही छुटकारा है। शराब, सेण्ट, लवेण्डर, सिगरेट, वस्त्र, टायलेट, मोटर, जूते आदि सामग्रियोंमें भारत के करोड़ों रुपया सालाना व्यय होते और विदेश को जाते हैं—इससे सब कोई परिचित हैं, यहाँ आँकड़े देकर दिखाने की आवश्यकता नहीं। इससे देश की गरीबी में बहुत कुछ बढ़ती हुई है। क्या ही अच्छा हो यदि प्रत्येक भारतवासी अपने उपभोग परिभोग का परिमाण करले। इससे स्व आत्मकल्याण तो होगा ही साथ ही देश की आर्थिक दशा भी उन्नत बनेगी। क्षेत्र सीमा कर यदि देश के बाहर की वस्तुएँ मंगानी बन्द करदी जाँय, और फिर जो क्षेत्र आगार में रखा हो उसके भीतर की विलास सामग्रियों का अधिक से अधिक त्याग कर दिया जाय तो इससे हमारी आकांक्षाएँ व आवश्यकताएँ (Wants) बहुत कम रह जाँय। हमें इतना विकट जीवन संग्राम न करना पड़े और विलास सामग्रियों से बचे हुए करोड़ों रुपयों से देश सेवा व जन सेवा के के बड़े से बड़े काम हो सकें।

इस व्रत में पन्द्रह: कर्मादान भी सामिल हैं। इन व्यापारों को करने से हिंसा की बहुत वृद्धि होती है अतएव उनका त्याग करना चाहिये।

१—जिन में अग्नि प्रयोग अधिक होता हो जैसे लोहारादि का काम (२) वन-कर्म अर्थात् वन बगीचों में उत्पन्न होने वाले फल, फूल, वृक्ष, पत्र, जड़ी बूँटी आदि का व्यापार।

(३)-शकट कर्म अर्थात् मोटर, गाड़ी, जहाज, हवाई जहाज, लड़ाई के जहाज, रेल, ट्राम, आदि बनाने का व्यापार।

(४) भूमि आदि फोड़ने अर्थात् खानों से धातु आदि निकालने का व्यापार।

(५) दंत वाणिज्य, जैसे हाथी के दाँत, उल्लू के नख, जीभ, सिंह के नख, चमड़ा, रेशम, ऊन तथा त्रस जीवों के अङ्ग उपांगों का वाणिज्य।

(६) लाक्ष वाणिज्य—जैसे लाख, सरेस, कुसुंबा, आदि के वाणिज्य जिसमें प्रत्यक्ष हिंसा होती है।

(७) रस वाणिज्य-मद्य, मदिरा, मक्खन, माँस तेल आदि का व्यापार।

(८)केशवाणिज्य—बाल चामरादि का व्यापार।

(९) विष वाणिज्य—भांग, अफीम, गांजा, चरस आदि का व्यापार।

(१०) गाड़ी आदि चलाकर आजीविका चलाना जैसे घोड़ा गाडी वाले, टीकसे वाले, पालकी वाले, बैल गाडीवाले आदि।

(११) घाणी आदि यंत्रों का काम—इस में मसीनरी से होनेवाले कामों का समावेश होता है।

(१२) कसाई का काम

(१३) जंगल काटने व दह करने का काम

(१४) तलावादि का जल शोषण करने का व्यापार

(१५) असंजती प्राणियों को पोषण करना (जैसे सरकस आदि में जंगली पशुओं कोपालने वाले), दास दासीयों का व्यापार करना।

इन में वनों को नाश करने और वनों में आगी लगाने के धन्धे आर्थिक दृष्टि से देश के लिये हानिकारक हैं। भारत ही क्या सभी देशों में जंगल लगाने और उनकी रक्षा के लिये खास बंदोबस्त रहता है। जंगलों से कई प्रकार के लाभ होते हैं जैसे लकड़ी, फलफूल, जड़ी बूंटी, नाना प्रकार के खाद्य पदार्थ तथा खाद्य वस्तुओं का प्राप्त होना, वृक्षों की जड़ों में वर्षा ऋतु में जो जल संचित हो जाता है उससे जमी बहुत उपजाऊ बन जाता है। वर्षा और तूफानों के ज़ोर को कम करने में भी जंगल बहुत असर डालते हैं। वृक्षों के पत्तों की खाद से उनके नीचे की भूमि कभी कभी बड़ी उपजाऊ हो पड़ती है। इससे इस पेशे को न करना चाहिये।

जिन कामों से हिंसा की अत्यधिक वृद्धि होती हो—जैसे केशों का धन्धा, दाँतों का धन्धा, लाख का धन्धा, कसाई का धन्धा, जिन धन्धों से लोगों में बुरी आदतें उत्पन्न होती हों जैसे शराब, अफीम भांग आदि का धन्धा, जो काम मनुष्यता के विपरीत हों—जैसे दास दासियों की बिक्री का धन्धा ऐसे कुत्सित व्यापारों को तो छोड़ने में ही लाभ है।

८—अनर्थ दण्ड परिहार

तीसरा गुण व्रत अनर्थ दण्ड परित्याग है। इसका अर्थ निम्नलिखित पदों से स्पष्ट होगा—

सात व्रत आदरतां थकां,
बाकी अव्रत रही छे ताय ॥
तिण सें निरन्तर जीव रै,
पाप लागै छै आय ॥
तिण अव्रतरा दोय भेद छे,
तिण में एक अनर्थ दण्ड जान।
दूजी अव्रत अर्थ दण्ड तणी,
त्यासूं पाप लागै छै आण ॥
अर्थ ते मतलब आपरै,
सावद्य करे विविध प्रकार।
अनर्थ ते मतलब बिना,
पाप करतां डरै न लिगार ॥

पाप करै अर्थ अनर्थ कारणै,
त्याने रूड़ो रीत पिछाण ।
अर्थ दण्ड छोड़णूं दोहिलो
पिण अनर्थरा करै पचखाण ।।"
— श्री भीखू स्वामी

अर्थ—स्थूल हिंसा, असत्य, चौर्य, मैथुन, परिग्रह के त्याग का नियम प्रथम पाँच अणु व्रतों में किया जाता है। हिंसा आदि पाँच आश्रवों की छूट रखी है वह दिग्व्रत ग्रहण करने से संकुचित होती है क्योंकि दिग्व्रत स्वीकार कर लेने पर इन आश्रवों को एक खास निश्चित क्षेत्र के भीतर ही सेवा जा सकता है। इस सीमित क्षेत्र में रही हुई बहुत-सी उपभोग परिभोग की वस्तु और कर्मादानों का परिमाण व त्याग सातवें व्रत से हो जाता है फिर भी जो छूट (अव्रत) अवशेष रहती है उससे बराबर कर्म लगते रहते हैं। इस छूट का दो उपयोग हो सकता है—एक स्वअर्थ और दूसरा निष्प्रयोजन। जब अपने स्वार्थ के लिये नाना सावद्य कार्य किये जाते हैं तो कर्म आने रूप आत्मा को जो दण्ड मिलता है वह अर्थ के लिये है (सप्रयोजन है)। जब बिना किसी हेतु के सावद्य कार्य किये जाते हैं तो कर्म आने रूप आत्मा को जो दण्ड मिलता है वह बे मतलब (निरर्थक व निष्प्रयोजनीय) होता है। यह भली भाँति समझ लेना चाहिये कि इन दोनों प्रकार के कार्यों के लिये पाप लगता है, क्योंकि दोनों ही सावद्य क्रिया हैं। स्वार्थ के कामों को छोड़ना मुश्किल हो सकता है फिर भी निष्प्रयोजनीय (अनर्थ) सावद्य कृत्यों का अवश्य पच्चखाण करना चाहिये। जिस कृत्य से अपना, अपने परिवार का अपने समाज व राष्ट्र का हित न सधता हो वे सभी कार्य निरर्थक हैं।

अनर्थ दण्ड चार प्रकार का है—

१—अपध्यान। यह दो प्रकार का है। एक आर्त्त ध्यान दूसरा रौद्र ध्यान। अनेक प्रकार के हर्ष शोक करना, पाँच इन्द्रियों के तेबीस विषयों में लोलुपता रखना, इष्ट संयोग, अनिष्ट वियोग की आकांक्षा रखना, सुखमें प्रसन्नता, दुःख में खेद आदि अनेक प्रकार के आर्त्त ध्यान हैं। खयाली पुलाव बाँधना, विविध प्रकार के मनोरथ मनमें करना, उत्कण्ठा, अधैर्य, उद्विग्नता, विकलता आदि भी इसी में सामिल हैं। होता है वही जो होने का होता है फिर ऐसे मानसिक विकारों को मन में स्थान देने से कुछ भी लाभ नहीं होता। इसलिये व्यर्थ कर्म लगाने वाली इन मानसिक चिन्ताओं और विकारों को छोड़ देना चाहिये।

हिंसा, चोरी, झूठ, मैथुन, परिग्रह आदि के कार्य कर उनमें प्रसन्नता मानना, दूसरों से अपनी प्रशंसा सुनने की आकांक्षा रखना, दुश्चिंता करना, दूसरे का मरण वांछना आदि रौद्र ध्यान में आते हैं।

२—प्रमाद। उन्माद, आलस्य, कषाय आदि प्रमाद के भेद हैं। अयतना व अनुपयोग भी इसी में सामिल हैं।

३—हिंसा प्रदान। किसीके माँगे बिना अग्नि आदि हिंसा के उपकरण प्रदान करना। हिंसा के अधिकरण बनाने की विधि बताना व बनाकर दूसरों को देना। इसमें तलवार, बन्दूक पिस्तौल, गोलियाँ बारूद, भाले बर्छे, लड़ाई के हवाई जहाज़, पानी के

लड़ाई जहाज तथा नाना प्रकार के विस्फोटक पदार्थ तय्यार कर देने वालों का सुमार है। गर्भ स्थापन व गर्भ पात की औषधियाँ बनाना व बनाने की विधि बताना भी इसी में समझिये।

४—पाप कर्मोपदेश। दूसरे को आश्रव सेवन करने का उपदेश देना। हिंसा, चोरी, झूठ, अब्रह्मचर्य और परिग्रह आदि पाप कर्मों में प्रविष्ट होने का उपदेश देना भी इसी में सामिल है। विधवा विवाह का प्रचार करना, बालविवाह का समर्थन करना, वृद्ध विवाह को अच्छा बताना, कृत्रिम उपायों से सन्तान निग्रह करने का प्रचार करना सब इस में आ जाते हैं।

जितने बाह्य अनर्थ कर्मों को करने का पच्चखाण किया है उसको अपने मन में भी अनर्थ मूलक भावों को न रहने देना चाहिये क्योंकि निरर्थक बुरी भावनाएँ भी उतने ही बुरे फल देने वाली होती हैं जितने कि बुरे कर्म। इससे चित्त की अशांति, मन की उद्विग्नता और अनेक मलीन संकल्प विकल्प बढ़ते हैं।

आलस्य प्रमाद असावधानी तो सदा हेय है क्योंकि जो काम वैसे सफल हो सकते हैं वे ही इन कारणों के उपस्थित होने पर असफल हो जाते हैं।

विधवा विवाह का प्रश्न आज कल बड़े जोरों से उठ रहा है। कोई विधवा, विवाह करना चाहे अथवा करे यह एक बात है और विधवाओं का जीवन बिना विवाह किये सुखमय रह ही नहीं सकता, उन्हें विवाह करना ही चाहिये—उनका सुख विवाह करने ही में रहा हुआ है आदि विचारों को फैलाना और विधवाओं को भावावेग में लाना दूसरी बात है। आजकल का आन्दोलन बहुत कुछ दूसरी प्रकार का है। लोगों ने इस काम को आदर्श मान लिया है और ऐसे लोगों की जो विधवा विवाह करते हैं प्रायः छापों में तसवीरें निकला करती हैं। इसका नतीजा यह हो रहा है कि क्या पुरुष और क्या स्त्रियाँ दोनों ही बहुत emotional हो गये हैं और थोड़ी-थोड़ी सी विपतियों से घबड़ा का आदर्शच्युत हो जाते हैं। इस कमजोरी से मानव जाति दूर रह सके इसीलिये परपापोपदेश करने की मनाई की गयी है।

आज बड़े बड़े युद्धों के होने का कारण शस्त्र सम्पत्ति और विस्फोटक पदार्थों का पास में रहना ही है। जो युद्ध के अधिकरणोंको तय्यार करते हैं—दूसरों को देते हैं वे अवश्य ही मानव जाति के बड़े शत्रु हैं। जिनके हृदय में मानव प्रेम होगा —जो अहिंसा के पूजारी होंगे क्या वे कभी भी दूसरों को हिंसा दान करेंगे ?

इस व्रत को दोष पहुचाने वाले ये पाँच अतिचार वर्जनीय हैं:—(१) कामोतेजक बातें करनी, (२) कुचेष्टा करनी (३) बकझक करना (४) शस्त्रादि हिंसा के उपकरणों से संयुक्त रहना (५) उपभोग परिभोग की सीमा बढ़ाना।

कामोद्दीपक बातें करना तथा भाँति भाँति की अनीति मूलक कुचेष्टाएँ करना, शारीरिक शक्ति के लिये बहुत हानिकारक हैं। अप्राकृतिक रूप से ब्रह्मचर्य तोड़ना मानसिक, शारीरिक और आध्यात्मिक शक्तियों को छिन्न-भिन्न करता है।

इसलिये इन अतिचारों के वर्जन की उपयोगिता स्पष्ट है।

चौथे अतिचार के सम्बन्ध में काका कालेलकर लिखते हैं :—"मुशल, कुदाली, तलवार आदि प्रहार के साधनों से संयुक्त नहीं रहना अनर्थ दण्ड त्याग का यह एक लक्षण आज हमारे ध्यान को अधिक आकर्षित करे ऐसा है। यूरोप, अमेरिका में शस्त्र सन्यास (Disarmament, निरस्त्रीकरण) का जो आन्दोलन चल रहा है वलीका तत्व इसके पीछे रहा हुआ है। हाथ में शस्त्र आने से हिंसा करने का मन तो होता ही है।"

अब नीचे जिन चार व्रतों का वर्णन है वे शिक्षाव्रत कहलाते हैं। शिक्षा व्रत उन व्रतों को कहते हैं जो श्रावक के जीवन को साधु अवस्था के लिये अभ्यस्त बनाते हों। अणुव्रत और गुण व्रत जीवन भर के लिये स्वीकार किये जाते हैं वहाँ शिक्षा व्रत एक खास समय के लिये ही किये जाते हैं।

९—सामायिक

यह पहिला शिक्षा व्रत है। सामायिक एक मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनिट की होती है। "आत्म शक्ति को प्रकाश करने वाला, सम्यग् ज्ञान दर्शन को उदय करने वाला, शुद्ध समाधि भाव में प्रवेश कराने वाला, सम्यग् ज्ञान दर्शन को उदय करने वाला, निर्जरा का अमूल्य लाभ देने वाला, रागद्वेष से मध्यस्थ बुद्धि करने वाला ऐसा यह सामायिक नामका शिक्षा व्रत है। सामायिक शब्द की व्युत्पत्ति सम+आय+इक इन शब्दों से होती है। 'सम' अर्थात् रागद्वेष रहित मध्यस्थ परिणाम, 'आय' अर्थात् उस सम भावना से उत्पन्न होता ज्ञान दर्शन चारित्र रूप मोक्ष मार्ग का लाभ और 'इक' कहने से भाव यह अर्थ होता है। अर्थात् जिसके द्वारा मोक्ष मार्ग को देने वाले भाव उत्पन्न हों वह सामायिक है"

सामायिक मन वचन और काया के बतीस दोष तथा पाँच अतिचारों को टालकर एकाग्र भाव से करना चाहिये। इससे मनोविकार शांत होते हैं। विश्व के प्राणियों के साथ मैत्री भाव स्थापित होता है। अविरति दूर होती है।

१०—देशावगासी व्रत

देशावगासी व्रत शिक्षा व्रत का दूसरा भेद है। इस व्रत को भी जीवन पर्यन्त धारण करने का नियम नहीं है। इस की अवधि व्रतधारी की इच्छा पर रहती है। दिग्व्रत में दिशाओं की जो सीमा की जाती है उस सीमा को यह व्रत और भी संकुचित करता है तथा रखे हुए उपभोग परिभोग के परिमाण को भी घटाता है। इस व्रत के धारक को निम्न लिखित बातों से सर्वथा दूर रहना पड़ता है।

(१) आज्ञा कर बाहर की वस्तु मंगाना (२) वापिस भेजना (३) शब्द संकेत द्वारा अपने को प्रकट करना (४) रूप दिखाकर अपने को प्रकट करना (५) पुद्गल फेंक कर अपने को प्रकट करना।

यह व्रत दिग्व्रत का विस्तृत रूप है और इससे त्याग दिनों दिन बढ़ता है। मनुष्य की भोग प्रवृति

को कम कर यह उसके भीतर दबे हुए मनुष्यत्व को जगाता है ।

११—पोषध

शिक्षा—व्रत का तीसरा भेद पोषध करना है। पोषध व्रत ब्रह्मचर्य पूर्वक चारों आहारों के सम्पूर्ण त्याग के साथ किया जाता है। चोसराये हुए रत्नादिक आभूषण, फूल मालादि, गुलाल, अबीर रंगादि, विलेपन, शस्त्र आदि सावद्य वस्तुओं का भी त्याग करना पड़ता है। यह त्याग एक दिन और एक रात का होता है।

सामायिक से जैसे ४८ मिनिट के लिये वैसे ही पोषध से रात दिन के लिये घरेलू झंझटों से निवृति मिलती है। इस से आत्मा पाप पूर्ण काम से निवृत होकर स्वरूप चिंतन में अपना समय लगाता है। साधु अवस्था के बहुत कुछ नजदीक पहुँचने का यह प्रयास है। इससे सारी अविरति दूर होती है। समभाव और मैत्री बढ़ती है।

१२—अतिथि-संविभाग

अतिथि संविभाग अन्तिम बारहवां व्रत है। यह शिक्षा व्रतका चौथा भेद है। इसका अर्थ यह है कि जो अपने पास हो उसका, अतिथियों के साथ बांटकर, भोग करो। श्रमण, निर्ग्रंथ, अणगार साधु को प्रासुक, एषणीय आहार तथा अन्य द्रव्यका दान दो। इस व्रत के पूरे होने का आधार योग्य पात्र के मिलने पर निर्भर करता है।

इस व्रत पर से दो शिक्षाएँ मिलती हैं—(१) यह कि सर्वस्व त्याग कर आत्म चिन्तन करने वाले महात्माओं के पोषण के लिये उत्साह रखना। (२) यह कि पास में जो परिग्रह रखा है उसको भी योग्य पात्र मिलने पर देने का भाव रखना जिससे बाह्य और आन्तरिक भोग वाञ्छा का नाश हो तथा कर्मों के आने का रहा हुआ मार्ग संकुचित हो।

जिन मनुष्यों के पोषण करने से समाज में निरुद्यम, आलस्य, प्रमाद और मिथ्याचार फैलें वैसे मनुष्यों को दान देना दान का दुरुपयोग करना मात्र है। दान सार्थक करने के लिये पात्र योग्य होना चाहिये।

ऊपर में श्रावक के बारह व्रतों पर विवेचन करते हुए उनकी उपयोगिता दिखायी है। पार लौकिक दृष्टि से तो ये व्रत महा कल्याणकारी हैं ही पर समाज हित और राष्ट्र हित की दृष्टि से भी बहुत महत्व पूर्ण हैं। इन व्रतों की लौकिक उपयोगिता को ऊपर दिखाया ही है, फिर भी खूब संक्षेप में कहना हो तो स्व० विद्वान मोतीलाल वाड़ीलाल शाह के शब्दों में इस प्रकार कहेंगे—

"श्रावक के बारह व्रतों में सादा, मितव्ययी और और संयमी जीवन व्यतीत करने की आज्ञा दी है। एकव्रत में स्वदेश रक्षा का गुप्त मंत्र भी समाया हुआ है। एक व्रत में सब से बन्धुत्व रखने की आज्ञा है, एक व्रत में ब्रह्मचर्य—पालन (स्वस्त्री संतोष) का नियम है जो शरीर बल की रक्षा करता है, एक व्रत बालविवाह, वृद्धविवाह और पुनर्विवाह के लिये खड़े होने को स्थान नहीं देता, एक व्रत जिससे आर्थिक, आत्मिक या राष्ट्रीय हित न हो ऐसे किसी भी काम में, तर्क वितर्क में, अपध्यान में, चिन्ता उद्वेग और शोक में, समय और शरीर बल के खोने का निषेध करता है और एक व्रत आत्मा में स्थिर रहने का अभ्यास डालने

के लिये कहता है। इन सब व्रतों का पालन करने वाला श्रावक अपनी उत्क्रान्ति और समाज तथा देश की सेवा बहुत अच्छी तरह कर सकता है"। *

उपरोक्त व्रतों से यद्यपि लौकिक और पार लौकिक दोनों प्रकार के फायदे होते हैं तथापि इन व्रतों को सम्बर और निर्जरा के लाभ से ही अङ्गीकार करना चाहिये अर्थात् इन्हें केवल सांसारिक लाभ के लिये ही न करना चाहिये। ये सांसारिक लाभ तो इन व्रतों के साथ बन्धे हुए हैं। ज्यों ही हम व्रतों को अपने जीवन में उतारेंगे त्योंही ये लाभ तो हमे परोक्ष रूप से मिले बिना नहीं रह सकते। याद रखना चाहिये कि आत्मसिद्धि ही सर्वोत्कृष्ट सिद्धि है। आत्मसिद्धि ही हम जैनियों का लक्ष्य होना चाहिये। जो आत्म सिद्धि के साधन हैं उन्हें यदि ऐहिक लाभ के लिये उपयोग में लाया गया तो इसमें उलटा जहाँ आत्म-कल्याण और ऐहिक उन्नति दोनों होती वहाँ अब केवल ऐहिक उन्नति ही प्राप्त होगी। जहाँ पहिले एक पत्थर से दो मेंढक मरते थे अर्थात् आत्मा के कर्म रूपी शत्रुओं का नाश होता था और हमारे समाज और राष्ट्र की भौतिक उन्नति के मार्ग में रही हुई बुराइयों का भी नाश होता था वहाँ अब हमारे कर्म-रूपी महान शत्रुओं का नाश तो न होगा परन्तु बाह्य रूप से हमें हमारी उन्नति होती हुई दीख पड़ेगी। प्राप्त होते हुए बड़े लाभ को छोड़ कर केवल छोटे लाभ को स्वीकार करना क्या एक बहुत बड़ी मूर्खता न होगी?

आज तो जैनियों के लिये सुवर्ण युग है। मानों शताब्दियों के बाद आज उनके जीवन को प्रकाशमान करने के लिये अरुणोदय हुआ हो। महात्मा गान्धीजी ने जैन सिद्धान्तों के प्रचार द्वारा देश में जीवन-जागृति बल और बलिदान के भावों को भर दिया है। राजनीति में अहिंसा का प्रथम प्रयोग इसी महात्मा ने किया और लोग की सामाजिक और राष्ट्रीय भावनाओं में भी धर्म के तत्व भरे हैं। आज सारा संसार उनके सिद्धान्तों पर मुग्ध हो रहा है। मानो यह अप्रत्यक्ष रूप से जैन सिद्धान्तों और उन सत्यों की ही विजय है जो सत्य और सिद्धान्त भगवान महावीर ने आज के ढाई हजार वर्ष पहिले पीड़ित और पीड़क मानव समुदाय के हृदय में भरे थे। क्या ही सौभाग्य का विषय हो यदि हम इन सत्यों को हमने जीवन में उतारें और फिर विश्व में उनके रहस्य को, उनकी उपयोगिता और सार्थकता को प्रकट करें। समय अपने आप हमारे सामने उपस्थित हुआ है और अब हमारा कर्त्तव्य है कि हम उसका सदुपयोग करें तथा हमारे धार्मिक सिद्धान्तों में रहे हुए विश्व प्रेम, मैत्री, शांति और सुख के संदेश को घर घरमें फैला दें।

* जैन हितैषी— भाग-११ अङ्क ३ पृ० ११५

—:०:—

युग-प्रवर्तक महावीर

[कविवर– श्री कन्हैयालाल जैन (कस्तला)]



वे युग-प्रवर्तक कौन थे ? "महावीर भगवान थे"

× × +

१— अखिल देश में शेष रहीं जब क्लेश-कथायें,
बढ़ीं पाशविक हत्या अत्याचार-प्रथायें,
अनृत, द्वेष, छल बढ़े, मिटीं प्रिय प्रेम-छटाय,
छाईं थीं चहु ओर पाप की घोर घटायें,
प्रगटे तब वे--जो ज्योति में कोटि सवितृ समान थे।
वे युग-प्रवर्तक कौन थे ? 'महावीर भगवान थे' ॥

२— जिनसे जग में जगी ज्योति की जगमग ज्वाला,
तिमिर-पटल फट गया, छट गया बादल काला,
हंसे पुण्य जलजात निरख चहुं ओर उजाला,
हिंसा अत्याचार बहा बन प्रेम—पनाला,
जिनकी तन्त्री के तार से झंकृत त्रिजग महान थे।
वे युग-प्रवतक कौन थे ? 'महावीर भगवान थे' ॥

३— जिनकी लीला ललित लोक में भी लहराई,
स्नेहामृत मयि सरस मनो स्रोतस्विनि आई,
बनकर नव-रस-धार सुधा वसुधा पर धाई,
छिति पर मोहक प्रेम-माधुरी छवि छिटकाई,
सुर नर किन्नर तिर्य्यञ्च सब वशी एक-लय-तान थे।
वे युग-प्रवर्तक कौन थे ? 'महावीर भगवान थे' ॥

४— कुसुम सुकोमल कली हुईं तब क्रूर कटारें,
मातृ-दुग्ध की धार हुईं गलकर तलवारें,
मूक अबल-पशु अभय हुए तज चीख-पुकारें,
यज्ञ-कुण्ड से बंद हुईं शोणित की धारें,
रुधिराक्त बधिक भी प्रेम-रस जिनसे करते पान थे।
वे युग-प्रवर्तक कौन थे? 'महावीर भगवान थे' ॥

५— पावन प्रेम-प्रचार, पुण्य का पाठ पढ़ाया,
स्नेह, शान्ति, सङ्गठन-सार सन्देश सुनाया,
मद, मत्सर की मधुर मोह ममता मयि माया,
क्षिति पर छिटका रही छिद्र छल मयि छवि छाया,
जिनके भैरवनाद से थे पञ्च शत्रु भयभात थे।
वे युग प्रवर्तक कौन थे? 'महावीर भगवान थे' ॥

६— 'समदर्शन' 'गतराग द्वेष' सिद्धान्त सुनाया,
सबल अबल को साम्यभाव का तत्व सिखाया,
राजा रङ्क समान जिन्होंने कर दिखलाया,
ब्राह्मण शूद्र समान भाव से गले लगाया,
प्रिय प्रेम अहिंसा धर्म्म के जग में उड़े निशान थे।
वे युग-प्रवर्तक कौन थे? 'महावीर भगवान थे' ॥



भगवान महावीरके प्रधान श्रावक

[श्री माणिकचन्द सेठिया]

कल दिन मुझे सम्पादकजी से आदेश मिला कि 'महावीर के प्रधान श्रावक' इस विषय पर इसी अंक के लिये लेख लिखूं। इसे कर्तव्य रूप समझ कर आज दीपावली की रात को जागृत रहना आवश्यकीय था अतः इसी लेख को आरम्भ कर मैं 'एक पन्थ दो काम' वाली कहावत चरितार्थ करने बैठा हूँ।

श्री महावीर स्वामी के एक लाख उणसठ हजार श्रावक एवं तीन लाख अठारह हज़ार श्राविकाओंका परिवार होने का वर्णन आया है जिसमें से केवल दश श्रावकों की नोंध सूत्रों में विशेष कर ली गई; इससे सहज ही समझ में आता है कि इनका जीवन चरित्र हम गृहस्थों के लिए एक दृष्टान्त स्वरूप है। इन मुख्य दस श्रावकोंके नाम निम्न प्रकार हैं:—

१—आनन्द २—कामदेव, ३—चुलनी पिता ४—सुरादेव, ५—चुलशतक ६—कुण्डकोलिक ७—सद्दालपुत्र ८—महाशतक ९—नन्दनीपिता १०—तेतलीपिता।

इन दश महापुरुषों के जीवन चरित्र पर एक स्वतन्त्र पुस्तक लिखी जा सकती है अतः इस निबन्ध में केवल नोंध रूप इनकी जीवनी का समावेश होना ही सम्भव है।

आनन्द श्रावक वाणिज्य ग्राम नामकी नगरी का निवासी था। उसके पास प्रचुर धन राशि थी, जिसकी गिनती बारह करोड़ सोनैया बताई गई है। इसमें से चार करोड़ जमींदोज़ करके रखे गये थे, चार करोड़ ब्याज पर चालू थे और चार करोड़ व्यापार में लग रहे थे। इसके उपरान्त उनकी अधीनता में चार गोकुल थे, जो प्रत्येक दश हज़ार गायों का होता है। उनकी भार्या का नाम शिवानन्दा था जो शील एवं अन्यान्य सद्गुणों की धारक परम सुन्दरी थी।

श्रावक आनन्दजी के पास जितनी ऋद्धि थी, उसी प्रमाणमें चम्पानगरी के गृहस्थ कामदेव के पास अठारह कोटि सोनैया एवं छः गोकुल थे। वाराणसी नगरी के चुलनीपिता नामक गाथापति गृहस्थ के पास चौबीस कोटि सोनैया एवं आठ गोकुल थे। इसी नगरीके सुरादेव नामक श्रावक के पास कामदेवके बराबर सम्पत्ति थी। आलभिका नगरी के चुल्लशतक नामक गृहस्थ के पास भी कामदेव जितनी ही ऋद्धि थी। कांपिल्य नगर के निवासी कुंडकोलिक के पास भी गृहस्थ कामदेव के समकक्ष लक्ष्मी का संग्रह था। पोलासपुर के सद्दालपुत्र के पास तीन कोटि सोना मोहर एवं एक गोकुल था। यह सद्दाल पुत्र जाति का कुंभार था और इसके कुंभार व्यवसाय की पाँच सौ दुकानें थीं। महाशतक

गाथा पति राजगृह नगरीका था, उसके पास चौबीस करोड़ सोनैयों का धन था। इसके उपरान्त उनकी प्रधान पत्नी रेवती के पिताकी तरफ से आठ करोड़ सोनैया एवं आठ गोकुल प्राप्त हुए थे और अन्य बारह स्त्रियों के पिहर से बारह कोटि सोनैया एवं बारह बारह गोकुल प्राप्त हुए थे इस प्रकार महाशतक के पास धन का संग्रह था। श्रावस्ती नगरी के नन्दनीपिता नाम के गाथा पतिके पास आनन्द श्रावक के समान द्रव्य एवं गोकुल थे, इसी तरह इसी नगरी के दशवें श्रावक तेतलीपिता के पास भी इतनी ही लक्ष्मी थी।

इन सब महानुभावों ने भगवन्त महावीर के पास धर्म श्रवण कर श्रावक-व्रत अङ्गीकार किये थे और उनका पालन निरतिचार किया था।

इन दशों ही श्रावकों ने श्रावक व्रत ग्रहण करने के बाद १५।१५ वर्ष तक गृहस्थ के व्यापारमें अपनी बुद्धि संलग्न रखी थी जिसके उपरान्त गृह-भार अपने ज्येष्ठ पुत्रों को अथवा अन्य योग्य व्यक्तियों को सौंप कर बाकी का जीवन पौषध शालामें रह कर बिताया था। इन दशों श्रावकों में प्रथम छट्ठे, नवें और दशवें श्रावक को कोई उपसर्ग नहीं हुआ। बाकी के छः श्रावकों को देवकृत उपसर्ग हुए पर वे इन उपसर्गों को दृढ़ता पूर्वक सहन कर अपने धर्म पर अटल रहे। प्रथम आनन्द श्रावक के साथ गौतम स्वामी का अवधि ज्ञान के विषय में प्रश्नोत्तर हुआ। छट्ठे श्रावक के साथ देवताकी वार्तालाप हुई। सातवें सद्दालपुत्र को प्रतिबोध देने के लिये भगवान महावीर का समाधान जानने लायक है। महाशतक श्रावकको अवधि ज्ञान उत्पन्न हुआ था। उन्होंने सत्य बात होने पर भी अपनी स्त्री को आक्रोश भाव से जो बात कही—वह उनके लायक नहीं थी, इसलिये इसका प्रायश्चित कराने के लिये भगवान ने गौतम स्वामी को इनके पास भेजा था।

कामदेव को उपसर्ग

श्रावक-व्रत ग्रहण करने के बाद १५ वर्ष उपरान्त कामदेव, गृहभार ज्येष्ठ पुत्र के हाथ में सौंप कर, स्वयं पौषधशाला में रह कर अपना धार्मिक जीवन निर्वाह करने लगा। एक दिन कामदेव पौषध व्रत धारण किये हुए था तब प्रायः अर्ध रात्रि के समय एक मिथ्यात्वी देवता विकराल और भयंकर रूप वैक्रिय कर, हाथ में तीक्ष्ण धार वाली तलवार लिये हुए वहाँ पर आया और भय संचारक शब्दोंमें सम्बोधित कर पौषध व्रत छोड़ने के लिये उससे बार बार कहने लगा। परन्तु इससे कामदेव भयभीत न हुआ—अपने धर्म जागरण में संलग्न रहा। इसकी धर्म में इस प्रकार तल्लीनता देख कर देव अधिक क्रोधमें आया और खड्गसे प्रहार करने लगा, परन्तु कामदेव इन कठोर चोटोंको समभाव से सहन करता गया। देवने और भी नाना प्रकार के शारीरिक कष्ट दिये परन्तु कामदेव बिलकुल चला नहीं और अपने धर्म ध्यान में अविचल रहा।

तब शेष में देवता अपने असली स्वरूप में प्रकट होकर इस प्रकार कहने लगा "हे कामदेव! तुम धन्य हो, धन्य है तुम्हारी करणी, देवलोकमें इन्द्रराज ने तुम्हारी प्रशंसा की थी परन्तु मुझे वह रुचि कर न लगी अतः तुम्हारी परीक्षा करने मैं यहाँ आया था। अब मुझे विश्वास हो गया है कि तुम्हारी शक्ति

को जो देवलोक में प्रशंसा हुई थी वह सत्य है। मैं अब तुमको खमाता हूँ मेरा कृत अपराध क्षमा करेना।"

सद्दालपुत्रके साथ प्रभुका सम्वाद

प्रभु महावीर के समय में गोशाला नामक एक नामधारी धर्मचार्य ने नियतिवाद का प्रचार किया था। सामान्य रीति सदा से ही ऐसी चली आई है कि जो जिधर झुकाने वाला हो, वह जनसाधारण को उधर ही झुका लेता है। विचारवान पुरुष जन समूह की अपेक्षा थोड़े ही हुआ करते हैं। सद्दालपुत्र गोशाला का उपासक था एवं नियतिवाद को मानने वाला था। एक दिन उसे ज्ञात हुआ कि प्रभु त्रिकाल ज्ञानी हैं और वह उसकी नगरीमें पधारे हैं। यह जान कर वह प्रभु के समीप दर्शन करने को गया। वहाँ पर प्रभु के मुख से अपने मनकी बात श्रवण कर सद्दालपुत्र ने अपने दुकानों में रहने के लिये महावीर से विनति पूर्ण प्रार्थना की। एक दिन जब कि महावीर स्वामी वहाँ पर ठहरे हुए थे सद्दालपुत्र स्व निर्मित माटी के बर्तनों को अग्नि में तपाने के लिये बहार निकाल रहा था, उस समय महावीर ने उससे प्रश्न किया।

"सद्दालपुत्र! ये बर्तन किस तरह उत्पन्न होते हैं? सद्दाल पुत्रने माटीसे लेकर बर्तन बनाने की आखिरी क्रिया तकका वर्णन कर बताया। फिर प्रभुने प्रश्न किया कि ये उद्यम करने से बने हैं कि बिना उद्यम ही बन गये।

"हे स्वामी! इन बर्तनों को बनाने में कोई उद्यम की आवश्यकता नहीं यह तो बनने वाले थे इस लिए बन गये।"—सद्दाल पुत्रने कहा। "जो कोई पुरुष तुम्हारे इन बर्तनों को चोरी करके ले जावे अथवा फोड़ फाड़ देवे तो तुम उस व्यक्ति का क्या करो"—प्रभुने पूछा।

"मैं उसको अच्छी तरह शिक्षा दूं"—सद्दालपुत्रने कहा। इस पर महावीर ने कहा—"समझो कि एक व्यक्ति निश्चय करके न तो तुम्हारे बर्तन ले जाता है और न नुकशान पहुँचाता है तो तुम उसको शिक्षा कैसे दे सकते हो? जो तुम्हारा अपराध करता है उसीको तो तुम शिक्षा देते हो। दूसरी तरफ तुम कहते हो कि उद्यमादिक कुछ नहीं मात्रोमात्रा होने को होता है वही होता है, तो ऊपर कथित प्रसंग से यह धारणा बिलकुल मिथ्या ठहरती है, यह तुम्हारी समझमें आया?

प्रभु के इस प्रकार सरल बोध से बोधित होकर सद्दाल पुत्रने उनको नमस्कार किया एवं गृहस्थ के बारह व्रत अंगीकार कर समकित में दृढ़ हो गया।

गोशाला को इस बात की खबर मिली तो वह अपने अनुयायियों को साथ में लेकर सद्दालपुत्रको वापिस अपनी पक्ष में करने के लिये उसके पास आया।

गोशाला को आते देख कर भी सद्दालपुत्र अपने आसनसे नहीं उठा, और मौन धारण करके बैठा रहा। अपने श्रावक की यह गति देख कर गोशालाने महावीर स्वामी का इन शब्दों में गुण कीर्तन करना आरम्भ किया "हे देवानुप्रिय! यहाँ पर महामाहण महा-गोप, महा सार्थवाह, महा धर्मकथक, और महा निर्यामक पधारे थे?"

"वे इन उपमाओंके धारक क्यों हैं?"—सद्दालपुत्र ने पूछा। गोशालाने इनके कारणोंका वर्णन किया। सद्दालपुत्र ने पूछा—"आप महावीर कि साथ

चर्चा करने को तैयार हैं ?" इसपर गोशाला ने अपनी असमर्थता प्रकट की। जब गोशाला ने इस प्रकार संभाषण किया तब सद्दालपुत्र ने कहा, "देवानुप्रिय! आप मेरे धर्माचार्य के गुण कीर्तन करते हैं अतः आप को जो कोई वस्तु चाहिये कहिए मैं देने को तैयार हूँ, परन्तु आप को धर्म गुरु तरीके कुछ भी अर्पण नहीं करता हूँ।"

सद्दाल पुत्र को श्रद्धा से विचलित करने की अपने में असमर्थता समझ कर गोशाला ने जिस किसी वस्तु का प्रयोजन था वह ग्रहण कर वहां से प्रस्थान किया।

महाशतक

आठवें श्रावक महाशतक के तेरह स्त्रियाँ थीं। महाशतक के बारह व्रत अंगीकार करने के बाद रेवती नामा स्त्री के मनमें कुविचार उत्पन्न हुआ कि मैं इन बारह सौतों के कारण से सांसारिक सुख भोगों से वंचित रहती हूँ अतः किसी प्रकार से इनको मार कर मैं मेरे पतिकी अकेली भार्य्या हो जाऊँ तो सब प्रकार का आनन्द ही आनन्द है। इस कुविचार से विचलित हो उसने येन केन प्रकार करके उन १२ स्त्रियों को मरवा डाला और उनके धन की सुद स्वामिन बन गई। महाशतक श्रावक व्रत ग्रहण करने के १४ वर्ष उपरान्त १५वें वर्ष में गृह भार अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौंप कर स्वयं केवल धर्म कथा में रत रहने लगा। परन्तु श्रीमती रेवती इसकी स्त्री प्रतिदिन इनको पोषध शाल में आकर उपसर्ग दिया करती थी इस पर भी महाशतक अपने धर्माचरण में अटल था। इस तरह "शुद्ध अध्यवसाय" से जीवन निर्वाह करते रहने से उनको अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ। रेवती पहिले की तरह आज भी उपसर्ग देने के लिये आई। इस बार महाशतक को क्रोध चढ़ आया और उन्होंने उससे कहा "हे रेवती! तू सात दिन में अलसक व्याधि से पीड़ित हो मरेगी और पहली नारकी के लोलुच्चय नामके नरक वासा में चोरासी हजार वर्ष की स्थिति से नारकी अवस्था में उत्पन्न होगी।"

रेवती ये वचन श्रवण कर बहुत भयभीत हुई और महाशतक के कथनानुसार सात दिनों में ही मरकर नर्कावास में उत्पन्न हुई। इसी अवसर पर महावीर स्वामी इस प्रदेश में पधारे और गौतम स्वामी को बुलाकर महाशतक को क्रोध उत्पन्न होने का सारा हाल वर्णन कर कहा "हे गौतम! पौषधशाला में आखिरी संलेषना कर महाशतक ने अनशन किया है। उसका शरीर दुर्बल हो गया है। भात पानीका उसने त्याग कर दिया है। ऐसे श्रावक को यदि सत्य बात भी हो तो भी दूसरे आदमी के लिये अप्रीतिकारी वचन नहीं भाषण करना चाहिये, अतः तुम उसके पास जाओ और कहो कि तुम ने जो रेवती को वचन कहे वे सत्य अवश्य थे परन्तु फिर भी अनिष्टकारी थे और तुम्हारे योग्य नहीं थे अतः उनकी आलोचना करो।"

प्रभु की आज्ञानुसार गौतम स्वामी महाशतक के पास गये। गौतम स्वामी को आते देख कर महाशतक अति आनन्दित हुआ एवं वन्दना की। गौतम स्वामी ने भगवान के संदेश को अक्षरशः कह सुनाया और महाशतकने गौतम स्वामी के वचन को अंगीकार कर आलोचना की।

ये दसों ही श्रावक आयु के अन्त भाग में अनशन कर सर्व सौधर्म देवलोक में चार पल्योपम स्थिति की आयु से उत्पन्न हुए।

इन दशों महापुरुषों के विषय में सविस्तार जानने की इच्छा रखने वालों को उपासकदशांग सूत्र का श्रवण करना चाहिये। उत्तम श्रावक के आचार एवं विचार कैसे होने चाहिए—इस बातका बोध हमें उत्तम श्रावकोंके जीवन चरित्र ही से प्राप्त हो सकता है। इन मोटे मोटे श्रावकों ने, जिनकी ऋद्धि अपार थी, संसारमें मूर्च्छित न होकर, भगवान के उपदेश से किस तरह अपनी आत्मा का कल्याण किया यही बोध हमें इस से प्राप्त करना चाहिये।

उपरोक्त दशों ही श्रावक वैश्य जाति के हैं। इससे यदि कोई यह अनुमान करे कि महावीर का धर्म प्रचार केवल वैश्य जाति तक ही सीमा बध था तो ऐसा ठीक नहीं है। स्वयं महावीर स्वामी क्षत्रिय कुल में उत्पन्न राजपुत्र थे और इनके धर्मानुयायियों में भी बहुत से राजा थे, जिन में, एक, चेटक राजा विशाली नगरी का अधिपति था। वह महावीर का परम भक्त था, एवं इसकी सातों कन्याएं महासतियाँ एवं महावीर की परम श्राविकायें हुई हैं। द्वितीय, श्रेणिक राजा जो पहिले बौद्ध मतावलम्बी था, उससे प्रधान पटराणी चेलणाने, जो राजा चेटककी पुत्री थी, महावीर के सिद्धान्तनुसार चर्चा कर उसको महावीर का अनुयायी कर दिया। श्रेणिक राजा अब महावीर के इतने दृढ़ विश्वासी हो गये थे कि एक बार देवता इनकी परिक्षा करने के लिये आया। और महावीर के साधु साध्वी का भेष धारण कर साध्वी को गर्भावस्था में दिखाया एवं साधु भ्रष्टाचारी के रूप में अपना परिचय देने लगा। परन्तु श्रेणिक ने यह देख कर स्पष्ट कह दिया कि तुम महावीर के साधुओं के अनुकूल भेष धारण करने वाले हो परन्तु महावीर के साधु नहीं। महावीर के साधु शुद्ध संयम धारी होते हैं—इसमें मुझे तनिक भी शंका नहीं है। तृतीय, उदयन राजा, जो उस समयका एक महा प्रतापी राजा था महावीर का श्रावक था एवं अवशेष जीवन में महावीर के समीप दीक्षा ग्रहण कर उदयन राजर्षि के नाम से प्रसिद्ध हुआ। चतुर्थ, राजा कोणिक महावीर का परम उत्साही श्रावक था। इसने धर्म प्रभावनादिमें जितना धन व्यय किया उतना शायद ही किसी ने अब तक किया हो। वह नित्य प्रति महावीर स्वामी के समाचार श्रवण करने के बाद अन्नजल ग्रहण करता था। इत्यादि अनेक क्षत्रिय वंश के स्त्री पुरुष महावीर के श्रावक थे और ब्राह्मण जाति के तो गौतमादि ग्यारह गणधर जो महावीर के बाद पाटानुपाट हुए हैं सभी ब्राह्मण थे अतः ब्राह्मण जाति महावीर की अनुयायी थी इस में शंका नहीं। शूद्र जाति के लिये भी महावीर स्वामी के हृदय में वही स्थान था जो अन्य तीन जातियों के लिये। शूद्र जाति के अनेक पुरुष महावीर से दीक्षा ग्रहण कर साधु साध्वी हुए हैं—ऐसी नौंध सूत्रों में मिलती है जिनमें से हरिकेशि बल जो चाण्डाल जातिके थे बड़े प्रतापी साधु हुए हैं इन्हों ने परदेशी राजाको समझाकर जैन मतावलम्बी बनाया था।

एवं वर्तमान में भी जो महावीर के संदेश का प्रचार करते हैं उनके यहाँ भी शूद्र जाती बाद नहीं है (?), प्राणी मात्र के लिये उनका उपदेश है सो मनुष्यको तो बाद वे दे ही कैसे सकते हैं!

महावीर के हृदय में जैसा चारों वर्णों के लिये समान स्थान था वैसाही अमीर और गरीब के लिये। यद्यपि उपरोक्त दशों श्रावकों की नोंध धन सम्पन्न व्यक्तियों में ली गई है तथापि कोई यह नहीं समझे कि महावीर के लिये गरीब मनुष्य नगण्य थे। महावीर का एक श्रावक, जिसकी आजीविका केवल मात्र दैनिक ≠) दो आना थी वह रुई की पुणियाँ बना कर बेचा करता था, इसी लिये उसका नाम पूणिया श्रावक प्रसिद्ध हुआ था। वह महावीर का परम भक्त था और उसकी सामायिक क्रिया का महावीर कितना मूल्य समझते थे इसका एक जगह यह वर्णन आया है। एक दिन श्रेणिक राजा ने महावीर से प्रश्न किया कि यदि किसी पुरुष का नारकी गोत बंध जावे तो कौन सी करनी करने से उससे निस्तार पा सकता है तो महावीर ने कहा कि पुणिये श्रावक की एक सामायिक मोल लेने पर नारकी गोत छूट जावेगो।* यह श्रवण कर श्रेणिक राजा पुणिये श्रावक के पास गया और अपना अभिप्राय कह बतलाया। पर पुणिये श्रावक ने कहा कि हे राजन्! मुझे इस सामायिक की कीमत कितनी लेनी चाहिये यह मालूम नहीं है अतः यह कीमत भी उनसे पूछनी चाहिये जिन्होंने इस वस्तु को खरीदने को बताया है। अब श्रेणिक ने महावीर से कथित सामायिक की कीमत पूछी तो उन्होंने सामायिक की इतनी कीमत बतायी कि जिसकी पूर्ति श्रेणिक अपनी समस्त राज्य सम्पदा दे कर भी नहीं कर सकता था। ऐसे कई गरीब श्रावकों की प्रशंसा महावीर ने समस्त संघ के समक्ष की थी, जिसके दृष्टान्त प्रचुर हैं परन्तु इस लेख में अधिक लिखना सम्भव नहीं है।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि महावीर ने श्रावकों के अनुसार श्राविकाओं के जीवन चरित्र की तो कोई नोंध नहीं बतायी तो क्या स्त्री जाति को वे उच्च स्थान देना नहीं चाहते थे? परन्तु बात ऐसी नहीं है। महावीर ने तीर्थों की स्थापना की तो चार तीर्थों की—यानी साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका। द्वितीय जहाँ पर श्रावकोंकी संख्या १,५६ हजार बतायी है वहाँ पर श्राविकाओं की संख्या ३,१८ हजार है जो पुरुष समाज के द्विगुण है। इतनी श्राविकाओंमें क्या श्रावकों की तरह पड़िमा धारण करने वाली कोई नहीं थी? मुझे तो सम्भव जान पड़ता है कि नन्दी सूत्रकी टीकाके अनुसार उपासक दशांग सूत्र के लाखों श्लोक होने चाहिये परन्तु कुछ ही प्राप्त हैं बाकि के विच्छेद हो गये हैं, इन विच्छेद श्लोकों में हो शायद अन्य श्रावक एवं श्राविकाओं के जीवन के प्रसंग की बातें भी विच्छेद हो गई हों।

—:०:—

भगवान महावीर और मंखलिपुत्र गोशाला

[मुनि श्री न्याय विजयजी, आगरा]

ज्ञातृ पुत्र भगवान महावीर का जन्म स्थान क्षत्रियकुण्ड नगर था। आपके पिता का नाम सिद्धार्थ राजा और माता का नाम त्रिशला देवी था। ई० स० पूर्व ५१८ वर्ष (?) में आपका जन्म हुआ था और पहले आपका शुभ नाम वर्द्धमान कुमार था। परन्तु देवकृत परीषह और उपसर्गों में अटल रहने के कारण आपको 'महावीर' उपनाम दिया गया। ई० स० ५६८ वर्ष में आपने राजपाट, घरबार, पत्नी, पुत्री तथा बड़े भाई आदि को छोड़ कर ३० वर्ष की अवस्था में साधुपना स्वीकार किया। दीक्षा के समय में आप अकेले ही थे और कर्म-शत्रुओं को काटने के लिये नंगे सिर और नंगे पांव जगत् में विचरने लगे। आपका प्रथम चतुर्मास अस्थिक ग्राम के बाहर शूलपाणि यक्ष के देवालय में व्यतीत हुआ था।

आपने द्वितीय चतुर्मास राजगृह में व्यतीत किया। उसी समय वहाँ आपका मिलाप गोशाला से हुआ, जिसके पिता का नाम मंखलि और माता का नाम सुभद्रा था। अपने पुत्र का जन्म गोबहुल ब्राह्मण की गोशाल में होने से मंखलि ने इसका नाम गोशाला रक्खा। इसने महावीर स्वामीके मासोपवास के पारणों में उनके प्रति लोगों के सम्पूर्ण सम्मान, प्रेम और भक्ति को देखा और उससे मोहित होकर मन में विचार किया कि महावीरका शिष्य होने में अतीव लाभ है। चतुर्मास संपूर्ण होने पर भगवान महावीर विहार करके कोल्लाग सन्निवेश में गये और वहाँ चतुर्मासोपवास का पारणा किया। अब गोशाला ने राजगृह में जब महावीर को न देखा तो वह अपने सब वस्त्रादि ब्राह्मणों को देकर अपनी मूँछ, दाढ़ी और मस्तक को मुंड़ा कर उनकी खोज में निकला। अन्त में कोल्लाग में प्रभु को पाया और स्वतः उनका शिष्य हो गया। इस समय से वह महावीर स्वामी के साथ साथ विचरने लगा।

बौद्ध ग्रन्थों में गोशाला के सम्बन्ध में बहुत से उल्लेख मिलते हैं। बुद्धदेव के, उपालम्भ के लिये चुने हुए छः भिक्षु संघ के मुखिओं में इस गोशाला, मंखलिपुत्र, का नाम भी मिलता है। बुद्धघोष (ई० स० ४१०) दीघनिकाय की अपनी टीका में गोशाला का इस प्रकार परिचय लिखता है—"मंखलिपुत्र—गोशाला का नाम था। इसका जन्म गोशाला में हुआ था। इसी से उसका नाम गोशाला हुआ था। एक दिन इसने अपने मालिक का तेल से भरा हुआ एक पात्र बेपरवाही से गिरा दिया। मालिक ने इसको पकड़ लिया, परन्तु मार के भय से यह अपने कपड़े को छोड़ कर भाग निकला। नगरजनों ने इसको वस्त्र देना चाहा। मगर गोशाला ने वस्त्रों को स्वीकार न किया और साधु बन कर पूज्य-पद प्राप्त करने की धुन में भाग निकला।"

यद्यपि जैन और बौद्ध ग्रन्थों के वृत्तान्तों में अन्तर है तथापि इनमें इतना तो जरूर मिलता है कि गोशाला मंखलि का पुत्र था और गोशाल में जन्म होने से यह गोशाला कहलाया और अन्त में नग्न साधु हुआ। गोशालाने दीक्षा तो ली परन्तु मश्करे पनका उसका स्वभाव न गया। भगवान महावीरके साथ पर्यटन आरम्भ करने के बाद भी गोशाला अपने जन्मजात स्वभावानुसार बहुत से ग्रामों में बीभत्स और छोटी मश्करी और कौतुहल करता था, जिससे बहुत से स्थानों में पीटा जाता था। एकाध बार तो यहाँ तक नौबत आई कि उसके कारण भगवान महावीर पर भी आक्रमण होने वाला था।

ज्ञातृपुत्र वर्द्धमान कुमार उच्चराजवंशीय कुल के थे और साधुपना केवल आत्म कल्याण तथा जगत् के उद्धार के लिये ही ग्रहण किया था किन्तु गोशाला मूल मंखलि वामस्करिन नाम के भिक्षु वर्ग का था। भारत में पूर्व काल में ऐसे भिक्षुवर्ग की बहुत सी जातियां वर्तमान थीं जिनका उल्लेख जैन और बौद्ध ग्रन्थों में अच्छी तरह से उपलब्ध होता है। प्रसिद्ध वैयाकरणी पाणिनि भी अपने व्याकरण में "मस्करिन" नाम कैसे हुआ इस बात का उल्लेख करता है। यह जाति बाँस की एक लकड़ी रखती है और भिक्षा से अपनी आजीविका चलाती है। गोशाला, एक छोटी जाति का भिक्षु होने के कारण, उसके लिये भगवान महावीर के समान उच्च चारित्र बल और आदर्श साधुत्व का पालन करना मुश्किल था। गोशाला छः वर्ष तक भगवान महावीर के साथ रहा और अंत में अलग होकर अपना नवीन पंथ चलाया। इस नवीन पंथ का सिद्धान्त तो गोशाला ने भगवान महावीर के साथ में हो अपने मन में निश्चित कर लिया था। इसका वर्णन कल्प सूत्र पृष्ठ ३१८ में इस प्रकार मिलता है :—

"एक बार प्रभु सुवर्णखल ग्राम की ओर जा रहे थे; गोशाला भी आपके साथ ही में था। मार्ग में अहीर मुसाफिर अपना भोजन पका रहे थे। गोशालाने प्रभु से कहा—यहाँ भोजन करके जायेंगे। भगवान ने जवाब दिया 'रसोई का बर्तन टूट जायगा'। बहुत प्रयत्न करने पर भी रसोई का बर्तन टूट गया। इस समय गोशाला ने ठान लिया कि जो होनेवाला है वह होता ही। इस प्रकार उसने एकान्त नियतिवाद का स्थापन किया।

ऐसे ही एक दिन प्रभु कूर्म मार्ग आ रहे थे। मार्ग में एक तिल के छोटे से पौधे को देखकर गोशाला ने प्रभु से पूछा—"यह उत्पन्न होगा या नहीं?" भगवान ने कहा—"सात तिल—पुष्प के जीव मृत्यु प्राप्त करके एक ही फली में तिल रूपसे जन्म लेंगे। गोशाला ने प्रभु के वचनों को मिथ्या करने के लिए पौधे को जड़से उखाड़ कर फेंक दिया। मगर वहाँ वृष्टि हुई और फिर से पौधा खड़ा हो गया। वहाँ से सिद्धार्थ ग्राम आते समय गोशाला ने प्रभु से कहा—'वह पौधा नहीं उगा है।' भगवानने कहा—'तैयार हो गया है।' गोशाल ने आकर देखा और फली तोड़ कर देखने से उसे मालूम हुआ कि सात पुष्प जीव मर करके तिल रूपसे उत्पन्न हुए हैं। इसी समय गोशाला ने निश्चय किया कि वही जीव मृत्यु प्राप्त करके पुनः उसी पूर्व शरीरमें जन्म लेता है (कल्प सूत्र पृ० ३१४)—यह सिद्धान्त मन में

निश्चित किया। गोशाला ने एक दिन तपस्यारत वैशिकायन नामक तापस से मश्करी की जिससे उसने गोशाला पर उष्ण तेजोलेश्या फोड़ी और इस समय दयालु महावीर प्रभु ने शीतलतेजो लेश्या द्वारा उसको बचा लिया था। गोशाला ने महावीर प्रभु से विनती की कि आप तेजोलेश्या विद्या मुझे सिखा दीजिये। फिर महावीर प्रभु से अलग होकर श्रावस्ती नगरी में कुम्भकार की शाला में जाकर उसी विद्या को सिद्ध किया और फिर पार्श्वनाथ प्रभु के शिष्यों से 'अष्टांग निमित्त' पढ़ कर अपना नया मत चलाया। गोशाला ने इस प्रकार जो नवीन मत चलाया उसका नाम आजीविक था।

आजीविक का निश्चित अर्थ क्या था यह किसी ग्रन्थ से स्पष्टतया प्रकट नहीं होता है। तोभी संस्कृत शब्द 'आजीव' का अर्थ किसी भी वर्ग के लोगों के जीवन-मार्ग या व्यवसाय से है—पीछे वह चाहे संसारी, गृहस्थ अथवा त्यागी परिव्राजक का हो। × × × गोशाला ने भिक्षुक वृत्ति मोक्ष के साधन के लिये नहीं किन्तु उदरनिर्वाहार्थ और सिर्फ़ अपना व्यवसाय चलाने के लिये ही स्वीकार की थी और अपने दंभपूर्ण व्यवहार से ही उसने ऐसा उपनाम प्राप्त किया था। गोशाला और उसके अनुयायियों को, जो कि एक प्रकार का दंभपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे, आजीविक नाम बदनाम करने के लिये दिया गया था। यही नाम पीछे से दूसरे नाम में परिवर्तित भी हुआ था। (मज्जिम निकाय)

गोशाला के आचार-विचार के विषय में इसके अनुयायी कुछ भी नहीं लिखते हैं तथापि बौद्ध और जैन ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में कुछ प्रमाणिक उल्लेख मिलता है। बौद्ध मज्झिमनिकायमें गोशालाकी अब्रह्मचारी वर्ग में गिनती की गई है। बुद्धदेव का गोशाला के साथ में नैतिक कारणों से ही मतभेद था। गोशाला सिद्धांत से और निमित्त से अयुक्त-अनीतिमान आचार करता था। इसीलिये इसकी पद्धति को बुद्धदेव ने बिलकुल अपकारी कहा था। ऐसे संप्रदायके नेताओं को (मोघपुरिस) खल-पुरुष —मछुवा के समान मनुष्यों को सिर्फ़ उनके नाश के लिये ही जाल में फँसाने वाला (बदमाश) कहा है।

गोशाला के सिद्धान्तों का सार बौद्ध निकाय में संपूर्ण रीत्या इस तरह लिखा है—

"प्राणियों की भ्रष्टता के लिये नजदीक या दूर का कोई भी कारण नहीं है। प्राणी वर्ग बिना निमित्त और कारण ही भ्रष्ट होते हैं। प्राणिओं की पवित्रता के लिये भी नज़दीक या दूर का कोई कारण नहीं है। प्राणी वर्ग बिना निमित्त और कारण ही पवित्र होते हैं। कोई भी कार्य, अपने खुद या दूसरे के अवलंबन की दरकार नहीं रखता। संक्षेप में कोई भी कार्य किसी भी मानव-प्रयत्न पर निर्भर नहीं है। कारण शक्ति या पौरुष या मनुष्य परिश्रम या मनुष्य बल जैसी कोई भी चीज विद्यमान नहीं है। प्रत्येक सविचार वस्तु (अर्थात् उन्नततर प्राणी), प्रत्येक सेन्द्रिय (अर्थात् अधमतर कोटि के प्राणी), प्रत्येक प्रजनित वस्तु (अर्थात् प्राणी मात्र), प्रत्येक सजीव वस्तु (अर्थात् सभी पौधे)—बल प्रभाव या शक्तिसे रहित हैं। प्राणी मात्र की भिन्न भिन्न अवस्था किसी भी समय विधिवशात् या उनकी खुद की प्रकृति वशात् है। और छहवर्गों में से एक या दूसरे वर्ग

की स्थिति अनुसार स्वयं मनुष्य ही सुख दुःख के भोक्ता बनते हैं।"

गोशाला के वाद का पृथक्करण करने का यहाँ स्थान नहीं है परन्तु यह वाद संपूर्ण नियतिवाद है। यह सिद्धान्त जीवन में उतारने में बहुत ही भयंकर है तथापि गोशालाने यह वाद अपने जीवन में उतारा था। इस सिद्धान्तानुसार ही इसका जीवन था। जैन और बौद्ध दोनों इस बात में पूर्ण रूप से सहमत हैं। बुद्ध देवने गोशाला के ऊपर अब्रह्मचर्य का आरोप किया था और महावीर प्रभु भी इस बात पर जोर देते हुए एक स्थान पर कहते हैं कि गोशाला का मत था कि यदि तपस्वी स्त्रियों के साथ संभोग करे तो कुछ भी पाप नहीं करता। इस प्रकार स्पष्ट है कि गोशाला स्त्रियों का गुलाम था और अब्रह्मचारी जीवन व्यतीत करता था। (देखो सुयगडांग सूत्र, आर्द्र कुमार और गोशाला का वाद) गोशाला ने भी अपने रहने का स्थान एक कुम्भार की स्त्री के मकान में रख कर ऐसे आक्षेपों को और भी पुष्टि की थी।

यद्यपि गोशाला की मान्यता जैन दर्शन से कुछ कुछ मिलती जुलती थी तथापि उसके नियतिवाद और पुनर्जन्म के सिद्धान्त में बड़ा भारी अंतर था। उसके आचार विचार में भी जैन त्यागियों से बहुत अंतर था।

गोशाला छः प्रकार के जीवों का वर्गीकरण इस प्रकार करता है:—(१) कृष्णाभि जातीय अर्थात् शिकारी, कसाई, खूनी, चोर, डाकू—संक्षेप में कुकर्म करने वालों का वर्ग (२) निलाभिजातीय भिक्षुओं अर्थात् बौद्ध भिक्षुओं का वर्ग (३) हितार्थ जातीय अर्थात् निग्रंथों का वर्ग (४) हारिद्राभि जातीय अर्थात् सर्व वस्त्र त्यागी अचेलक साधु के उपासक गृहस्थ अनुयायी (५) शुक्लाभिजातीय अथवा आजीविक व आजीविनियों (स्त्री आजीविकाओं) का वर्ग और (६) परमशुक्लाभि जातीय अर्थात् आजीविक नेता नंदवच्छ, किस्ससंकिच्च और गोशाला मंखलिपुत्र का वर्ग।

गोशाला प्रभु महावीर के सिद्धान्त के साथ अपनी मान्यता की समानता बताता था किन्तु इसमें सत्यता बहुत कम दीख पड़ती है। प्रभु महावीर के कहे हुए पाँच महाव्रतों को गोशाला ने स्वीकार नहीं किया था। किन्तु पार्श्वनाथ प्रभु के चार महाव्रतों को ही स्वीकार करके उसने यह ठान लिया था कि स्त्री स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है। यह उसकी गल्ती थी। (इस के सम्बन्ध में देखो सूयगडांगसूत्र का पृ० ३१०)

ठंडा पानी पीना, कच्चा फल खाना, अपने लिए किया हुआ आहार खाना और स्त्री संभोग करने में तपस्वीको पाप नहीं है—ऐसा गोशालक कहता था। भगवान महावीर खास करके इस सिद्धान्त के पक्के विरोधी थे। (सुयगडांगसूत्र पृ० ३११)

बौद्धों के विनय पिटक में लिखा है कि "आजीविक नग्न साधु थे और गोशाला के अनुयायी थे। ५—२११ अनुवाद ५—२१६ ff.)

आजीविकों के आगे के इतिहास के सम्बन्ध में स्थानाभाव से यहाँ कुछ लिखना ठीक नहीं होगा।

गोशाला प्रभु महावीर के निर्वाण से १६ वर्ष पूर्व मृत्यु को प्राप्त हुआ। मृत्यु के समय उसको अपने कर्मों के लिये बहुत ही पश्चात्ताप हुआ था जैसा कि भगवती सूत्र श० १५, गोशाला के विषय से अवगत होता है।

—०—

स्वावलम्बी महावीर



[श्री मोतीलाल नाहटा. 'विश्वेश']

अखिल जग विख्यात वीर शिरोमणी
वर्द्धमान विहार जब थे कर रहे।
देवराज शक्रेन्द्र ने आ पास ये
वचन उनको जोड़ कर निज कर कहे॥

"देव! केवलज्ञान पाने के प्रथम,
वर्ष बारह कष्ट होंगे आपको।
पूर्व भव कृत आपके सब अशुभ कर्म,
नित बढ़ायेंगे प्रभो! सन्ताप को॥

"इसलिये आज्ञा अगर होवे मुझे,
बन वदन रक्षक विभो! सेवा करूँ।
कष्ट औ उपसर्ग जो हों आप पर,
यन्त्रणा उनकी क्षणिकमें मैं हरूँ"॥

श्रवण कर यह वीर भगवन ने कहा—
"देवराज! कभी हुआ ऐसा कहीं?
याद रक्खो वर्तमान, भविष्य के,
काल में भी कार्य्य यह होगा नहीं॥

"आज तक देवेन्द्र या असुरेन्द्र की,
लब्ध करके हे शक्रेन्द्र! सहायता।
कर्म क्षय कर विमल केवलज्ञान को,
प्राप्त तीर्थंकर हुआ तो तू बता!!

"सर्व तीर्थंकर स्वबल, पुरुषार्थ से,
आत्म शुद्धि कार्य्य करते हैं सदा।
सहन करते कष्ट औ उपसर्ग सब,
जो उन्हों के सबल कन्धों पर लदा।

"देख आते कष्ट सम्मुख, वे विकल
हो, न होते पर मुखापेक्षी कभी।
दुःख सुख उनके लिये नित एक से,
क्यों कि होते स्वावलम्बी वे सभी॥

"देवपति! जिस चरम साधनके लिये,
मैं तपस्या कठिन यह जो कर रहा।
जानता हूँ झेलने होंगे मुझे,
कष्ट औ परिषह दुखद इसमें महा॥

"किन्तु उनकी शान्ति रक्षा हित न मैं
हू, मदद लेना किसी की चाहता।
विश्व को प्रतिकार करने का नया,
और पावन मार्ग मैं दूँगा बता॥

"इन्द्र! आगत कठिन कष्टों का सदा
मैं करूँगा आत्म-बल से सामना।
किन्तु हिंसा और बल से स्वप्न में
भी न बदले की करूँगा कामना॥

"पूर्व भव में जो किये शुभ अशुभ कर्म,
फल मुझे देवेन्द्र होगा भोगना।
वे सुखद औ मधुर होंगे या दुखद
और कटु, इसका भला क्या सोचना॥



स्वावलम्बी महावीर

"आज तक देवेन्द्र या असुरेन्द्र की, लब्ध करके हे शक्रेन्द्र ! सहायता।
कर्म क्षय कर विमल केवलज्ञान को, प्राप्त तीर्थंकर हुआ तो तू बता ??
"सर्व तीर्थंकर स्वबल, पुरुषार्थ से, आत्म शुद्धि कार्य्य करते हैं सदा।
सहन करते कष्ट औ उपसर्ग सब, जो उन्हों के सबल कन्धों पर लदा॥
"इन्द्र ! आगत कठिन कष्टों का सदा, मैं करूँगा आत्म-बल से सामना।
किन्तु हिंसा और बल से स्वप्न में, भी न बदले की करूँगा कामना॥
"यदि हुताशन में जलावें वे मुझे, औ पछाड़ें कठिन प्रस्तर-फर्श से।
तो किये सब कर्म जब आह्लाद से, क्यों न प्रतिफल भी सहूँगा हर्ष से॥"

"दुःख का मेरु पड़े मम शीश पर,
तो न होऊंगा जरा भी अनमना।
वे अगर आएंगे बनकर वज्र तो,
शाँति मेरू बन करूँगा सामना ॥
"यदि हुताशन में जलावें वे मुझे,
औ पछाड़ें कठिन प्रस्तर-फर्श से।
तो किये सब कर्म जब आह्लाद से,
क्यों न प्रतिफल भी सहूँगा हर्ष से॥"

× × ×

धन्य प्रभु तू ! धन्य तव उपदेश वह !
आपने देवेश का भ्रम हर लिया।
और उस उपदेश मिस सन्देश से,
अखिल त्रिभुवन को उपकृत कर दिया ॥

विगत द्वय औ अर्द्ध शदियों से सदा
कर्ण कुहरों से श्रवण हम कर रहे।
जगत्-जन चिर शान्ति सुख की खोज में
प्रभु-प्रदर्शित-पंथ पर पग धर रहे ॥
विश्व को रौरव नर्क सम यन्त्रणा,
दे रही जीवन दुखों की जो चिता।
शान्त करने के लिये उसको अहा !
नजर उसकी आ रही उपयोगिता ॥
आज भी सच्ची अहिंसा, स्वावलम्ब
का विमल उपदेश करुणाधार का।
है बना गौरव-विषय 'विश्वेश' इस
विश्व का, वह मार्ग शुचि प्रतिकारका ॥



महावीरकी धर्म कथाएं

[श्री धर्मचन्द लोढ़ा]

मल्लि

"विदेह की राजधानी मिथिला में कुम्भ नामक राजा था। उसके प्रभावती राणी तथा मल्लि नाम की पुत्री और मल्लदिन्न नामक पुत्र था। मल्लि रूप, लावण्य और यौवन में सर्वोत्कृष्ट होने पर भी कुमारी थी और आजीवन कौमारव्रत पालन का उसका संकल्प था। तदनुसार राजकुमारी होने पर भी उसका रहन-सहन और खान-पान ब्रह्मचर्य के अविरोधी सादा था।

इस समय कोशलमें पडिबुद्धि, अङ्ग में चंद्रच्छाय, काशी में शंख, कुणाल में रूप्पि, कुरुमें अदीन शत्रु और पंचालमें जितशत्रु नामक राजा राज्य करते थे।

कोशल के राजा ने अपने मन्त्री सुबुद्धि से, अंग के राजा चंद्रच्छाय ने चम्पा के वहाण वटियों से, काशी के शंख राजा ने सुनारों से, कुणाल के रूप्पि ने अपने वर्षधर से, कुरु के अदितशत्रु ने एक चित्रकार के चित्र से और पञ्चाल के जित शत्रु ने अपनी राजधानी में आयी हुई एक तापसी के मुख से मल्लि के अपूर्व लावण्य की कीर्ति सुनी। उन सब ने राजकुमारी से आकर्षित होकर विवाह के लिये अपने अपने दूत कुंभ राजा के पास भेजे।

राजा कुंभ के पास आकर उन दूतों ने अपने अपने राजा की मांग कह सुनायी। परन्तु कुंभ ने उन सबको नकार में जवाब दिया।

इन मांगों की बात कुमारी मल्लि के पास भी पहुंची। उसने विचार किया कि ये सब राजा क्रुध होकर अवश्य उसके पिता पर चढ़ाई करेंगे। इसलिये उन सब को शांत कर संयमशील बनाने के लिये उसने एक युक्ति ढूंढ निकाली।

अपने महल के एक सुन्दर और विशाल कमरे के मध्य में उसने अपनी एक हूबहू सुवर्णमूर्ति बनवायी। वह मूर्ति भीतर से थोथी थी और उसके सिर पर एक ढकण था। वह मूर्ति देखने में साक्षात् मल्लि ही स्वयं न खड़ी हो ऐसी मालूम होती थी।

राजकुमारी उस मूर्ति के पेट में रोज सुगन्धित खाद्य डाला करती। ऐसा करते करते जब वह मूर्ति ऊपर तक भर आयी तब उसने उपरोक्त पेचवाला ढकण उसके मुख पर खूब मजबूती से बैठा दिया।

अब इधर उन राजाओं ने दूतों के लाये हुए जवाब को सुन कर खूब क्रुध होते हुए कुम्भ राजा पर चढ़ाई करने का विचार किया। यह जान कर

कुंभ ने भी युद्ध की तय्यारी करना आरम्भ की। थोड़े दिवसों में ही दोनों पक्षों में एक भयंकर युद्ध हुआ। परन्तु कुम्भ अकेला होने से कामयाब न हुआ। फिर भी हताश हुए बिना उसने युद्ध चालू रखा और इस बीच में बहु संख्या में आये हुए प्रबल शत्रुओं पर विजय पाने के उपाय की उद्वेग पूर्वक चिन्ता करने लगा।

दोनों ओर से मनुष्यों के संहार करनेवाले इस भयंकर युद्ध को देख कर मल्लि ने अपने पिता से विनती की कि मेरे लिये ऐसी घमसान लड़ाई बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। आप यदि उन सब राजाओं को एक बार मेरे पास आने दें तो मैं अवश्य उनको समझा कर शांत कर दूंगी।

राजा कुम्भने,—"राजकुमारी आप सबसे मिलना चाहती है"—यह संदेश दूत के जरिये उन राजाओं के पास भेज दिया। राजाओं ने इससे संतुष्ट होकर अपनी सेनाओं को रणक्षेत्र से वापिस कर लिया।

अब जिस कमरे में मल्लि की सुवर्ण मूर्ति रखी हुई थी उसी कमरेमें सब राजाओं को ले जाया गया। राजा सब उस मूर्ति को ही मल्लि समझ कर उसके रूप में और भी लुब्ध हो गये। इसके बाद जब वस्त्राभूषण से सुसज्जित हो राजकुमारी मल्लि ने उस कमरे में प्रवेश किया तब ही राजाओं को भान हुआ कि यह मल्लि नहीं उसकी मूर्ति है। वहाँ आकर अपना आसन ग्रहण करते हुए राजकुमारी ने मूर्ति के ऊपर का ढकण उतार दिया।

ढकण दूर होते ही अंदर से निकलती हुई तीव्र दुर्गंध से सारा कमरा एकदम भर गया और राजाओं ने घबड़ा कर अपना २ नाक कपड़े से ढक लिया। उनको इस प्रकार करते देखकर मल्लि नम्रभाव से बोली:

"हे राजाओ! तुम लोगों ने अपने नाकों को कपड़ों से क्यों ढका है? जिस मूर्ति के सौन्दर्य को देख कर तुमलोग लुब्ध हुए थे उसी मूर्ति में से यह दुर्गन्ध निकल रही है।

"मेरा सुन्दर दिखने वाला शरीर भी इसी तरह लोही, रुधिर, थूक, मूत्र और विष्टा आदि अनेक प्रकार की घृणा उपजाने वाली वस्तुओं से भरा हुआ है। शरीर के भीतर जानेवाली अच्छी से अच्छी सुगन्धवाली और स्वादिष्ट वस्तुएं भी दुर्गन्धरूप विष्टा बनकर बाहर निकलती हैं। तो फिर ऐसी दुर्गन्ध से भरे हुए और विष्टा के भण्डार रूप इस शरीर के बाह्य सौंदर्य पर क्या कोई विवेकी पुरुष मुग्ध होगा?"

मल्लि की यह मार्मिक वाणी सुनकर वे राजा सब शर्मा गये और अपने अंतर पट को खोलकर अधोगति के मार्ग से बचाने वाली मल्लि को कहने लगे:—"हे देवानु प्रिय! जो तू कहती है वह सम्पूर्ण ठीक है। हमें हमारी भूल का अत्यन्त पच्छतावा है।"

उसके बाद मल्लि ने उनसे फिर कहा—"हे राजाओ! मनुष्य के काम सुख ऐसे दुर्गन्ध युक्त शरीर पर ही अवलम्बित हैं। पर यह बाह्य सौंदर्य भी स्थायी नहीं है। जब यह शरीर जरा से अभिभूत होता है, तब उसकी कांति भी विवरण हो जाती है, चमड़ी निस्तेज होकर ढीली पड़

जाती है, आँखे धस जाती हैं ढांचा सूख जाता है, मुख से लार गिरने लगती है और सारा शरीर चलते फिरते समय थर थर कांपने लगता है। तो हे देवनुप्रियो! इस प्रकार के शरीर से उत्पन्न हुए काम सुखों में कौन आशक्ति रखेगा और कौन मोह करेगा?

"हे राजाओ! मुझे इस प्रकार के काम भोगों में जरा सी भी आसक्ति नहीं है। मैंने इन सर्व सुखों को त्याग कर दीक्षा लेने और आजीवन ब्रह्मचारिणी रह, संयम पालन कर, मन में रहे हुए काम क्रोध वगैरह असद्वृतियों को निर्मूल करने का विचार ठान लिया है। इस सम्बन्ध में आप सब का क्या विचार है मुझे कहें?"

यह बात सुनकर राजाओं ने अति नम्रभाव से कहाः—"हे महानुभाव! आपका कहना सत्य है। हम लोग भी आप जैसा करना चाहते हैं उस प्रकार काम भोग छोड़ कर प्रव्रज्या लेने को तैयार हैं।

मल्लि ने उनके विचारों का अनुमोदन किया और एकबार राजधानी में जाकर अपने २ पुत्रों को राज्यभार सौंप, उनकी अनुमति ले उन्हें वापिस अपने पास आने को कहा।

यह निश्चय कर लेने पर वह सब राजाओं को लेकर अपने पिता के पास आयी। वहाँ उन राजाओं ने अपने दिये हुए त्रास के लिये कुम्भ राजा से क्षमा मांगीं। कुम्भ ने भी उन सब का यथेष्ट सत्कार कर उनको अपनी २ राजधानी की ओर विदा किया।

उन राजाओं के चले जाने के बाद मल्लि ने प्रव्रज्या ली। वह राजकुमारी होने पर भी गांव गांव विचरने लगी तथा भिक्षा द्वारा मिलते लूखे-सूखे अन्न से अपना निर्वाह करने लगी। उसका इस प्रकार का सामर्थ्य देख कर अन्य और भी अनेक स्त्रियाँ उससे दीक्षित होकर इस मार्ग पर आयीं।

वे राजा सब भी, अपनी अपनी राजधानी में जाकर, अपने पुत्रों को राज्य भार सौंप कर, मल्लि के पास आये और प्रव्रजित हुए।

मल्लि तीर्थंकर हुई और मनुष्य समाज के उत्कर्ष के लिये अधिक से अधिक प्रयत्न करने लगी। इस प्रवृति में वे छः राजा भी आजीवन उसके सहचारी रहे।

इस प्रकार मध्यदेश में विहार करती मल्लि ने अपना अन्तिम जीवन विहार में आये हुए समेत पर्वत पर बिताया और अजरामरता का मार्ग सिद्ध किया।

हे! जम्बू! श्रमण भगवान महावीर ने स्त्री जीवन के पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए विकास का इस अध्ययन में वर्णन किया—जो मैंने तुम्हें कहा है"—इस प्रकार आर्य सुधर्मा बोले।

तुम्बा

"गांवो गांव विचरते विचरते और तप तथा संयम से आत्मा को वासित करते श्रमण भगवान महावीर राजगृह के गुणशिलक नामक चैत्य में आ कर उतरे। उनका आगमन सुन कर राजा श्रेणिक तथा अन्य प्रजाजन उनके दर्शन के लिए आये और उनका धर्म प्रवचन श्रवण किया।

एक बार उनके प्रधान शिष्य, शुक्लध्यानी इन्द्रभूति अनगार ने भगवान महावीर से पूछाः—

"हे भगवन् ! जीव किस प्रकार गुरुत्व को पाता है और किस प्रकार लघुत्व को !"

भगवान बोलेः—"हे गौतम ! जैसे कोई पुरुष एक बड़े सूखे, मुख बिना के, समूचे तूम्बे को दाभ से घेरे, उसके ऊपर मिट्टी का लेप करे, फिर उसे धूप में सूखावे तथा इसी प्रकार एक के बाद एक आठ बार करे और उसके बाद उसे उंडे पानी में फेंके तो हे गौतम ! माटी के आठ लेपों से भारी हुआ वह तुम्बा पानी के सतह के नीचे चला जाता है, इसी प्रकार हे गौतम ! जीव—हिंसा, असत्य, चौर्य, परिग्रह, अब्रह्मचर्य, क्रोध, मान, माया. लोभ वगैरह कुसंस्कारों से भारी होता है। ऐसे जीव मरण पाकर अधोगति में जाते हैं।

"अब हे गौतम ! पानी में पड़ा हुआ तुम्बा, ऊपर के लेप का पहिला तह जब गल कर गिर जाता है, तब नीचे से कुछ कुछ ऊपर आता है। इसी प्रकार जब उसके ऊपर के सब तह गिर जाते हैं तब वह अपने मूल स्वभाव अर्थात् हलकेपनको पाकर जल के ऊपर आ जाता हैं। इसी प्रमाण से जीव अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, क्षमा, मृदुता, सरलता और निर्लोभता आदि के आचरण से हिंसादि के कुसंस्कारों को धीरे धीरे कम करता है। इस प्रकार जब वे संस्कार बिलकुल निर्मूल हो जाते हैं तब आत्मा अपने असली स्वभाव में आ जाता है और अजरामरता को प्राप्त करता है।

हे जम्बू ! श्रमण भगवान महावीर ने इस तरह इस छट्ठे अध्ययन में आत्मा की उन्नति होने और अधोगति होने के कारणों को उदाहरण सहित बताया है—जो मैंने तुम्हें कहा है" इस प्रकार आर्य सुधर्मा बोले।

पानी।

चम्पा नगरी में जितशत्रु नामक राजा था। उसके धारिणी नामकी स्त्री और अदीन शत्रु नामक युवराज पुत्र था। उसके राज्य की धुरा सुबुद्धि नामक श्रमणोपासक अमात्य के हाथ में थी।

चम्पा के बाहर एक बड़ी खाई थी। उसका पानी सड़े हुए मुड़दे की तरह गंधाता, देखा व पास में न जाया जाय ऐसा गंदा और असंख्य कीड़ों से किल बिलाता था।

एक बार जितशत्रु राजा अनेक बड़े राजाओं, धनाढ्यों और सार्थवाहों के साथ भोजन कर चुकने पर भोजन सामग्री की प्रशंसा करता हुआ इस प्रकार कहने लगा :—

"हे देवानुप्रियो ! हमलोगों के किये हुए भोजन का स्वाद उत्तमोत्तम था। उसका वर्ण, गन्ध और स्पर्श भी ऐसा ही सुन्दर था। भोजन दीपक, तर्पक अत्यन्त सुस्वादु और बतीस कोठों को ठंडक पहुँ-चावे—ऐसा आह्लादक था। अमात्य सुबुद्धि सिवाय वहाँ बैठी हुई मण्डली ने राजकी हां में हां भरी। परन्तु सुबुद्धि ने कहा—"इसमें क्या नवीनता है? यह तो पुद्गल—परमाणुओं का स्वभाव है। कितनी ही बार अच्छी और मधुर आवाज वाले पर-माणु कानको असह्य कठोर आवाज वाले हो जाते हैं और कान को भले न लगे ऐसी आवाज वाले पर-माणु उत्तम, मधुर आवाज वाले भी बन जाते हैं।

"जो अणु आँख को अत्यन्त प्रसन्नता देने वाले होते हैं वे कई बार देखे न जा सकें—ऐसे हो जाते हैं अथवा कभी कभी ठीक इसका उलटा परिणाम भी होता है।

"सुगंधि अणु कई बार माथा फटे ऐसी दुर्गंध वाले हो जाते हैं और दुर्गंध अणु माथे को तर करने वाली सुवास भी देने लगते हैं।

"जीभको स्वादिष्ट लगने वाले परमाणु कई बार अस्वादु हो जाते हैं और चीखे भी न जा सकें ऐसे अणु मधुर भी हो जाते हैं।

"जिन अणुओं को स्पर्श करने का बार बार मन होता है वे ही अणु कई बार ऐसे हो जाते हैं कि छुए भी नहीं जाते। इसके ठीक विपरीत (Vice versa) भी कभी २ होता है।

"अर्थात् यह बहुत सरस है और वह बहुत खराब है यह कोई नवीनता का विषय नहीं है।

"कई बार सरस वस्तु संयोगवसात् बिगड़ भी जाती है तो कई बार खराब वस्तु सुधर भी जाती है। यह तो मात्र परमाणुओं के स्वभाव और संयोग की विचित्रता है।

सुबुद्धि की यह बात जितशत्रु को न जची। परन्तु इस विषय में बहुत चर्चा न कर वे चुप हो गये।

एक बार जितशत्रु राजा घोड़े पर चढ़कर बहुत परिवार के साथ नगर के बाहर, उस खाई के अत्यन्त गंदे जल के पास से, घूमने निकले। वहाँ उस पानी की असह्य दुर्गंध से नाक बन्द करना पड़ा। थोड़ी दूर जाकर राजा ने सब के सामने इस पाणी की निन्दा शुरू की। उसने कहा:—

"इस खाई के पानी का रंग बहुत ही खराब है और गन्ध तो सांप के सड़े हुए मुड़दे की तरह है। इसे ही उसके स्वाद और स्पर्श का अन्दाजा लग सकता है।"

राजा की यह बात भी अमात्य को छोड़ कर सब ने स्वीकार की। केवल अमात्य ने कहा:—"हे स्वामी! मुझे तो आपकी इस बात में कुछ नवीनता नहीं मालूम होती। मैंने जैसा पहले कहा था यह तो सब परमाणुओं के स्वभाव की विचित्रता में ही रहा हुआ है।"

जितशत्रु ने सुबुद्धि से कहा:—"हे देवानुप्रिय! तुम्हारा अभिप्राय ठीक नहीं है। मुझे तो तुम्हारा कथन दुराग्रह से भरा हुआ लगता है। जो अच्छी वस्तु है वह अच्छी ही है और जो खराब वह खराब। क्या यह संभव है कि उसका स्वभाव बदल जाय?"

राजा के कथन पर से सुबुद्धि को मालूम हुआ कि—'वस्तु मात्र परिवर्तनशील है' -यह राजा नहीं जानते; इसलिये मुझको प्रत्यक्ष प्रयोग कर भगवान महावीर का कहा हुआ वस्तु-स्वरूप राजा को समझाना चाहिये।

भगवान महावीर ने कहा है कि वस्तुमात्र द्रव्य पर्याय उभय रूप है। द्रव्य बिना पर्याय और पर्याय बिना द्रव्य हो नहीं सकता। पर्याय अर्थात् परिणाम फेरफार। यह तथ्य राजा के ध्यान में बैठाने के लिये मुझे इस खाई के गंदे पानी को स्वच्छ कर दिखलाना चाहिये।

ऐसा विचार कर घर वापिस आने पर, सुबुद्धि ने बाजार से नो कोरे घड़े मंगाये तथा अपने आदमियों द्वारा उन घड़ों में खाई का गन्दा पानी भराकर मंगाया। उसके बाद उसने उन घड़ों को अच्छी तरह बंध कर सात दिनों तक रख छोड़ा।

उसके बाद दूसरे नये घड़े मंगवा कर पानी उनमें डलवा दिया और एकमें नयी राख डलवा दी। सात दिवस के बाद फिर नये घड़े मंगवाकर उसने उसी प्रकार किया ! इस प्रकार सात अठवाड़ियों तक वह पानी बराबर उलटवाता रहा और नयी राख डलवाता रहा।

सातवें अठवाड़िये में उस पानी का वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श स्वच्छ से स्वच्छ जल जैसा हो गया। वह इन्द्रिय और शरीर को आह्लाद पहुँचावे ऐसा पथ्य, हलका और स्फटिक समान निर्मल हो गया। इस उत्तम पानी को और भी उत्तम बनाने के लिये सुबुद्धि ने उसमें सुगन्धित मोथ आदि जल सुगंधक द्रव्य मिलाया और राजा के पाणियार को यह पानी ले जाकर, भोजन के समय राजा को देने की आज्ञा दी।

भोजन कर चुकने पर राजा ने पानी पीकर इसकी खूब प्रशंसा की और साथ में भोजन करने वाले सर्व राजाओं व मित्रों आदि से कहा—'हे देवानुप्रियो! हम लोगों ने जो पानी अभी पीया है वह अत्युत्तम है। कैसा इसका स्वाद है! कैसा इसका रंग है, कैसी इसकी गंध है! और कैसी इसकी बरफ से भी बढ़कर शीतलता। मैं तो इसको उदकरत्न कहूँगा।

प्रशंसा करते २ राजा ने पणियारे से पूछा "यह पानी तुम कहां से लाये हो?" पणियारे ने जवाब दिया "महाराज! यह पाणी सुबुद्धि के यहाँ से लाया हुआ है।" राजा ने सुबुद्धि को बुलाकर पूछा कि ऐसा सुरस पानी कहाँ से लाया।

सुबुद्धि ने कहा, "महाराज! यह पानी उस गंधाती खाई का है।"

राजाने विस्मय के साथ पूछा—"क्या यह उसी गंदी खाई का पानी है।"

सुबुद्धि बोला—"महाराज! यह उसी का पानी है। जिन भगवानने कहा है कि वस्तुमात्र परिणमनशील है। जब आपने भोजन की प्रशंसा की और पानी की निन्दा की तब मैंने आपको जिन भगवान के सिद्धांत को समझाने का प्रयत्न किया परन्तु आपके समझ में न आया। इसलिये मैंने खाई के गंधाते पानी पर प्रयोग कर आपको प्रत्यक्ष कर बताया।"

इतने पर भी राजाको सुबुद्धि पर विश्वास न हुआ। इसलिये उसने अपनी देख रेख में कोई से भी फुसलाये न जासकें ऐसे खास अमत आदमियों द्वारा वह पानी मंगाकर सुबुद्धि के कथनानुसार फिर वह प्रयोग कर देखा। उसके बाद उसे पूरा विश्वास हुआ कि सुबुद्धि का कथन सम्पूर्ण ठीक है। उसने फिर सुबुद्धि को बुलाकर पूछा "वस्तु के स्वरूप के सम्बन्ध में यह सत्य सिद्धांत तुमने किससे जाना?"

सुबुद्धि बोला—"जिन भगवान के वचन से मैंने यह सिद्धांत समझा है। इसीसे कोई सुन्दर वस्तु देख कर मैं प्रसन्न नहीं होता और इसी प्रकार खराब वस्तु देख कर घबराता नहीं। वस्तुओं के पर्यायों का यथार्थ भान हो जाने से मुमुक्षु अपने को समभाव में स्थिर कर सर्वथा मध्यस्थ रह सकता है और कषायों के चक्कर में नहीं पड़ता"

सुबुद्धि की बात सुनकर राजा को यह सिद्धांत समझने की तीव्र इच्छा हुई।

सुबुद्धि ने उसको पदार्थ के स्वभाव सम्बन्धी भगवान का सिद्धांत अच्छी तरह समझाया। उसी प्रकार सदाचार सम्बन्धी जिन कथित चातुर्याम धर्म तथा गृहस्थ धर्म का बोध दिया।

राजा यह सब सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ। और सुबुद्धि को कहने लगा—"हे देवानुप्रिय! आपका कथन मुझे बिलकुल अच्छा लगा है। इस में मेरा पूरा विश्वास है। अब मैंने पदार्थ का यथार्थ स्वरूप समझा है तथा आचार शुद्धि के लिये जिन कथित गृहस्थ धर्मको अपनी प्रवृति में उतारना चाहता हूँ।"

एक बार चम्पा नगरी के बाहर पूर्णभद्र चैत्य में कितनेक जिनानुयायी स्थविर आकर उतरे। सुबुद्धि ने राजा की सम्मति लेकर उन स्थविरों के अंतेवासी होने का विचार किया। परन्तु राजाने उससे कहा "थोड़े वर्षों बाद अपने दोनों साथ में ही जिन भगवान के स्थविरों के अंतेवासी बनेंगे।"

सुबुद्धि ने राजा की यह बात स्वीकार कर ली और दोनों बारह वर्ष तक गृहस्थ धर्म में रहे। उसके बाद चित्तवृति के शुद्ध होने पर राजा ने स्वयं सुबुद्धि को बुलाकर कहा—"अब अपने इस अदीनकुमार को गादी सौंप कर तथा कुटुम्ब की सम्मति लेकर दोनों साथ ही उन स्थविरों के अन्तेवासी बनें।"

तदनुसार कुमार का राज्याभिषेक करने के बाद उन दोनों ने प्रव्रज्या ली और जीवन शुद्धि का मार्ग अङ्गीकार किया। दोनों ने ग्यारह अङ्गों का अध्ययन किया। मनुष्य मात्र में मैत्री भाव स्थापित करने के लिये उग्र प्रयत्न कर चित्त में समभाव उत्पन्न किया तथा शरीर और इन्द्रियों को अपने बस में किया। इस प्रकार कई वर्षों तक संयम और तप से आचरण करते हुए काल कर वे सिद्ध बुद्ध और मुक्त हुए।

इस प्रकार हे जम्बु! श्रमण भगवान महावीर ने अपने मन्तव्य को दूसरों को समझाने की पद्धति इस अध्ययन में वर्णन कर बतायी है—वह मैंने तुम्हें कही है।" ऐसा आर्य्य सुधर्मा बोले।

मेघकुमार

एक बार श्रमण भगवान महावीर राजगृह नगरी के गुण शील चैत्य में आकर उतरे। उनके दर्शन करने को जन-समुदाय उमड़ पड़ा और मगधराज श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार भी दर्शन करने को आये। भगवान के वैराग्य भय उपदेशामृत को पान कर मेघकुमार का हृदय संसार से खिन्न हो गया और उन्हों ने दीक्षा ग्रहण कर ली और संयमपूर्वक रहने लगे।

गुणशील चैत्य में भगवान बहुत बड़े साधु समुदाय के साथ उतरे थे अतः वहाँ अनेक श्रमणों की बैठक थी। मेघकुमार का स्थान सब से पीछे था। उसके पास से होकर पढ़ने, प्रश्न पूछने लघुशंका व शौचादि करने के लिये श्रमण निर्ग्रंथ बार बार आवागमन करते रहते। उस समय भूल से, मेघकुमार के, उन साधुओं के हाथों और पैरों की ठोकरें लगतीं। और उनके पैरों की धूल से उनकी बैठक भर जाती। रात में भी ऐसा ही होते रहने से उनको क्षण भर भी निन्द्रा न आई और वे विचार करने लगे:—

"मैं राजपुत्र हूँ! जब मैं राजभवन में था तब ये ही श्रमण मेरा आदर करते, सत्कार करते

सम्मान करते और मुझ से अच्छी तरह बात करते। परन्तु जब से मैं मुनि बना हूँ, तब से ये मेरा आदर नहीं करते, मेरे साथ पूरी तरह बात भी नहीं करते। इतना ही नहीं परन्तु रातदिन मेरी बैठक के सामने से आवागमन कर मुझे क्षण भर भी नींद नहीं लेने देते। इसलिये सुबह होते ही श्रमण भगवान महावीर को पूछ कर मैं अपने घर चला जाऊँगा"

इस प्रकार विचार कर उन्होंने ज्यों-त्यों कर रात तो व्यतीत की और सुबह होते ही वे भगवान के पास जाकर तीन बार प्रदक्षिणा कर तथा वंदन और नमस्कार कर उनके पास में बैठ गये।

मेघकुमार की खिन्न आकृति से ही उनके विचार को ताड़ कर श्रमण भगवान ने उन से कहा—"हे मेघ! मालूम होता है तुम्हें रात्रि में निन्द्रा नहीं आयी। बहुत साधुओं की बैठक के बाद तेरी बैठक होने से तथा श्रमणों के बार बार उधर से आने जाने से तुम्हें निन्द्रा न आना संभव है। परन्तु उससे दुःख व खेद करने का कारण नहीं है।

"हे मेघ! तुम्हें तो याद न हो परन्तु मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि आज से तीसरे भव में तू सुमेरुप्रभ नाम हाथियों के राजा के अवतार में वैताढ्य पर्वत की तराई में रहता था। वहां तुम्हारे साथ में तुम्हारी अनेक प्रिय हस्तिनियाँ और बच्चे थे। उस जन्म में तू अत्यन्त कंदर्पशील और कामभोग में आसक्त होकर निरन्तर अपनी हस्तिनियों सहित पहाड़, नदी बनराज और पुष्करणियों में अनेक प्रकार के विलास करता फिरा करता।

"एक बार जेठ महिने में अकस्मात् एक काली आँधी आयी और महावेग से पवन चलने लगा। उसके झंकोरों से वृक्ष आपस में टकराने और टूटने लगे और सारे वन में भयंकर दावानल सुलग गया। इस समय चारों दिशाएं अन्धकार से व्याप्त होने से तुम्हारे टोले की सारी हस्तिनियाँ और हाथी व्याकुल हो चारों दिशाओं में भागते हुए तुमसे अलग हो गये। तू भी दिग्मूढ़ हो दौड़ता दौड़ता एक कीचड़ वाले तलाव में फंस गया। जैसे जैसे तू अपने शरीर को बाहर निकालने के लिये प्रयत्न करने लगा वैसे वैसे तू उस कादे में अधिकाधिक पैठने लगा। इसी अवस्था में कई दिन बीत गये। तलाव का पानी तुम्हारी सूंड से दूर पर होने से पानी भी पीने को न मिला। इसी बीचमें एक दिन वैरी वैरी हाथी तुझको इस अवस्था में फंसा पाकर अपने तीक्ष्ण दंतशूल द्वारा तेरे पर जोर से हमला किया। भूख प्यास से अधमरा हुआ तू उसके तीक्ष्ण प्रहार से रात दिन तीव्र वेदना भोगकर उससे वैर लेने का विचार करता करता मरण को प्राप्त हुआ। हे मेघ! वह तीव्र वेदना तुझे याद है?

"दूसरे जन्म में तू गंगा के दक्षिण किनारे विंध्यागिरि की तराई में दूसरी बार हाथियों का राजा हुआ। इस जन्म में भी तू उसी प्रकार कामतुर था। एक बार इस विंध्याटवी में भयंकर दावानल होने से, सर्व वनचर प्राणी भय से चारों दिशाओं में दौड़ने लगे। तू भी दौड़ता दौड़ता एक सुरक्षित स्थान में आ पहुँचा। वहाँ जाने पर तुझे अगले दावानल का स्मरण हो आया। इस से तूने विचार किया कि जंगल में बार बार अग्नि लगा

करती है इसलिये ऐसे अवसर पर काम आवे ऐसा एक सुरक्षित स्थान तय्यार कर रखना चाहिए। फिर तू ने गंगा नदी के दक्षिण किनारे, एक योजन विस्तार वाले भागके, वृक्ष, पान, लकड़ी, कांटा, वेल आदि खोद निकाले और दावानल से सुरक्षित किया। और उस दिन से तू उस स्थान के नजदीक रहने लगा।

"तू जहाँ रहता था वहाँ पर भी थोड़े दिनों के बाद एक भीषण दावानल सुलग उठा। तू तय्यार किये हुए सुरक्षित स्थान में भाग जाने का विचार कर रहा था कि उतने में ही सिंह, बाघ आदि अनेक जंगली प्राणियों से वह स्थान खचाखच भर गया। जब तू वहाँ गया तो बहुत संकुचित स्थान में बहुत कठिनाई से खड़ा रह सका।

"थोड़ी देर तक इस प्रकार खड़े रहने पर तेरे शरीर में खुजली हुई। उसे दूर करने के लिये तूने अपना पैर ऊँचा किया। इतने में भीड़ के धक्के से एक शुशला उस उठाये हुए पैर के स्थान पर आ गया। जब तू पैर वापिस रखने लगा तो तेरी दृष्टि उस शुशले पर पड़ी। उसे देखकर तेरे हृदय में मैत्री भाव उत्पन्न हुआ और तेरे मन में विचार आया कि यदि मैंने अपना पैर नीचे रखा तो यह शुशला अवश्य दब कर मर जायगा। इस प्रकार विचार कर तूने अपने पैर को उसी प्रकार उठाये रखा।

"वन का दावानल अढ़ाई दिन तक सुलगता रहा। तू भी उतने समय तक तीन पैरों पर खड़ा रहा। जब दावानल बुझ गया तब सब प्राणी वहाँ से आस-पास के जंगलमें चले गये। तू भी जाने का विचार कर ज्यों ही पैर नीचे रखने लगा त्यों ही अढ़ाई दिनों तक तीन ही पैरों पर खड़े रहने से सारा शरीर अकड़ाया हुआ होने से पृथ्वी पर जोर से गिर पड़ा; और तीन दिनों तक तीव्र वेदना भोग कर मृत्यु को प्राप्त हुआ।

"हे मेघ! करुणावृति और समभाव पूर्ण सहन शक्ति के कारण वहाँ से चव कर इस भव में तू मगध के राजा श्रेणिक के पुत्र हुए हो। अब तू आत्मा की घात करने वाले भोग विलासों को छोड़कर मेरे पास श्रमण हुए हो। तुझ में अब बल वीर्य, पुरुषार्थ, पराक्रम और विवेक है। पशु योनि में भी इतना समभाव और सहन शक्ति दिखाने पर फिर इस समय अध्ययन आदि प्रवृति के लिये आते जाते श्रमणों की, अज्ञान में लगी हुई, ठेसों से इतने व्याकुल क्यों हुए हो? तुम्हें यह दीनता क्या शोभा देती है?"

श्रमण भगवान महावीर की इन बातें को सुन कर मेघ का चित फिर पहिले जैसा ही प्रसन्न हुआ तथा उसके चित में प्रमोदवृति, मैत्र वृति और समभाव का अभिर्भाव हुआ। अपने पूर्व भव की बात सुनते ही उसको सब बातें स्मरण हो आईं, आँखों में हर्षाश्रु बह निकले, समूचा शरीर रोमांचित हो गया। वह भगवान को वन्दन और नमस्कार कर इस प्रकार कहने लगा—"हे भगवान! आज से मेरे इस शरीर को सर्व संतश्रमणों की सेवा में समर्पित करता हूँ।" इस प्रकार कह कर भगवान महावीर को फिर वन्दना कर वह पुनः बोला:—

"हे भगवन! श्रमणों की आशातना के दोष से निवृत हुए मुझे को आप फिर से दीक्षा दीजिये।"

श्रमण भगवान महावीर ने उन्हें फिर से दीक्षा दी और धर्मोपदेश देते हुए कहा "हे देवानुप्रिय! संयम से चलना, बैठना, उठना, खाना, पीना बोलना और सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्व के साथ संयम पूर्वक वर्तना "

इस प्रकार मेघ कुमार फिर से संयम में आरूढ़ हुआ

हे जम्बु! श्रमण भगवान ने इस प्रकार शिष्य को समझाने की पद्धति अपने को बतायी है। यह मैंने तुम्हें कही है" ऐसा आर्य सुधर्मा बोले।

घोड़े—

हस्थिसीस नगर में कनककेतु नामक राजा था। उस नगर में कई समृद्ध और व्यवहार चतुर वणिक् विणजारे रहते थे। एक बार वे व्यापार के लिये अपने वाहणों को सामग्रियों से भर लवण समुद्र की ओर निकले। रास्ते में तूफान आदि अनेक कष्टों को सहते हुए वे कालिक द्वीप में पहुँचे। वहां उतर कर वणिकोंने वहां की खानों से हिरण्य, सुवर्ण, रत्न, वज्र, आदि बहुमूल्य वस्तुएं इकट्ठी की और अपनी जहाजों में भर वापिस हस्थिसीस नगर पहुँचे। वहां पहुँच कर उन्होंने राजा कनककेतु को बहुमूल्य भेंट की।

हरेक ग्राम, नगर, शहर और बार बार लवण समुद्र की यात्रा करने वाले वणिकों से, राजाने प्रसन्न होकर पूछा कि उन्होंने अपनी यात्रा में अनोखी वस्तु क्या देखी। वणिकों ने उत्तर दिया कि कालिकाद्वीप में घोड़े बहुत ही सुन्दर हैं। तब राजने अपने आदमियों के साथ उन वणिकों को घोड़े लाने के लिये, फिर भेजा।

वणिकों ने अपने साथ में घोड़ों को वश करने वाली बहुत-सी सामग्रियाँ ली और इस प्रकार सुसज्जित होकर कालिका द्वीप को जा पहुँचे। वहां पहुँच कर घोड़े जहां जहां खाते, सोते, खड़े रहते और टहलते, वहां वहां राजपुरुषोंने वीणा आदि वाद्य यन्त्र बजाने आरम्भ किये और इन प्रत्येक स्थानों पर आँखों को सुन्दर लगे ऐसे पदार्थ, नाक को अच्छे लगे ऐसे सुगंधित पदार्थ, चीनी इत्यादि मीठी वस्तुएँ और मसूर आदि सुस्पर्श पदार्थ रखे।

वीणा आदि के मधुर स्वर से आकर्षित हो घोड़े उन लोगों के पास आकर बैठ गये। सुगन्धित पदार्थ सुंघने लगे और चीनी इत्यादि से स्वादिष्ट जल पीने लगे।

घोड़ों को इस प्रकार लुब्ध जानकर वणिकों ने गले और पैरों में रस्सी डालकर उन घोड़ों को बांध लिया, और फिर उनको जहाजों में चढ़ा कर वे वापिस चले। हस्थिसीस पहुँच कर उन्होंने राजा को वे घोड़े भेंट कर दिये। राजा बहुत ही प्रसन्न हुआ और अश्व मर्दकों को बुलाकर उन घोड़ों को फेरने की आज्ञा दी। उन अश्व मर्दकों ने चाबूक आदि के प्रयोगों से घोड़ों को ठीक कर दिया और इस प्रकार वे घोड़े चढ़ने लायक हो गये।

इसी प्रकार हे आयुष्यमान श्रमण! जो श्रमण और श्रमणियाँ सत्य, अहिंसा आदि सत्प्रतिज्ञाएं स्वीकार कर उन घोड़ों की तरह पीछे शब्द, रूप, रस, और गन्ध में आसक्त होते हैं, राग करते हैं, गृद्ध होते हैं, मोह प्राप्त होते हैं, और उन्हें प्राप्त करने के लिये तड़फड़ाते हैं वे उन घोड़ों की तरह

असह्य दुःख पाते हैं और संसार चक्र में भ्रमण करते हैं। वे श्रमण, श्रमणियाँ, श्रावक और श्राविकाएँ निन्दनीय और पाप की भाजन होती हैं।

जो मनुष्य घ्राणेन्द्रिय के अधोन होकर अनेक प्रकार की सुगन्धियों में आसक्त होते हैं वे मदारी के हाथ के सर्प की तरह अत्यन्त कठोर बन्धन प्राप्त होते हैं।

जो मनुष्य स्वादेन्द्रिय के वश होकर अनेक प्रकार के सुस्वादु खान पान में गृद्ध रहता है वह पकड़ी हुई मछली की तरह तड़फड़ाता है;

जो मनुष्य स्पर्शेंद्रिय को वश न कर अनेक प्रकार के स्पर्शों में लुब्ध रहते हैं वे अंकुश से बींधाते हुए हाथी की तरह पराधीन होकर महा वेदना पाते हैं।

श्रमण को, मधुर या अमधुर शब्द को, कान में प्रवेश करने से रोकने के लिये, कान में डूजा न देकर समभाव रखने का प्रयत्न, करना।

श्रमण को, सुन्दर व विद्रूप, रूप अपनी आँखों के सामने आने पर, उन आँखों पर द्वेष करने की जगह समभाव रखने का प्रयत्न करना।

श्रमण को, सुगन्ध व दुर्गंध अणुओं के नाकके पास आने पर, नाक चढ़ाने के बद्ले समभाव रखने का प्रयत्न करना।

श्रमण को, जीभ पर स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट रस आने पर, मुंह बिगाड़ने के बद्ले समभाव रखने का प्रयत्न करना।

श्रमण को, अच्छे व बुरे स्पर्शका प्रसंग होने पर हृष्ट व तुष्ट होने के बद्ले समभाव रखने का प्रयत्न करना।

हे जम्बू! इस प्रकार अश्व के उदाहरण द्वारा भगवान महावीर ने अपने को समभाव रखने की शिक्षा दी है जो मैंने तुम्हे कही है"—इस प्रकार आर्य्य सुधर्मा बोले। *

* गुजराती दश उपासकों के आधार पर लिखित—ले०

—:०:—

भगवान महावीर और महात्मा गान्धी

—x:o:x—

[श्री धन्यकुमार जैन, सं० सम्पादक 'विशालभारत']

भगवान महावीरने पूर्ण ज्ञान - केवल ज्ञान – प्राप्त करके संसारके प्राणियोंको संसार-दुःखोंसे मुक्त करनेके लिये मुक्तिमार्गका उपदेश दिया।

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"

'सम्यक्' पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है 'सत्य'। सत्य-दर्शन अर्थात् सत्यपर विचलित न होनेवाली दृढ़ आस्था, सत्य-ज्ञान अर्थात् सत्य दर्शन-पूर्वक वस्तु-स्वरूपका न बदलनेवाला सच्चा ज्ञान, और सत्य-चारित्र अर्थात् सत्य-दर्शन और सत्य-ज्ञानके अनुसार सत्य आचरण—ये तीनों संयुक्तरूपसे मुक्तिके मार्ग हैं। यहां दर्शन और ज्ञानके 'विचलित न होनेवाला' और 'न बदलनेवाला' जो खास विशेषण दिये गये हैं, उनके मानी यह हरगिज़ नहीं हैं कि आत्माको हठी बना डालना कि जिससे वह किसी भी नई बातको सुननेके लिये तैयार न हो। यहाँ तो ये विशेषण खास तौरसे इसलिये दिये गये हैं कि आस्था और ज्ञान ऐसा हो, जो वास्तवमें पूर्ण सत्य हो, और इसी लिये वह 'विचलित न होनेवाला' और 'कभी न बदलनेवाला' हो। दूसरे, जो पूर्ण सत्य है, उससे कोई विचलित क्यों होगा—क्यों बदलेगा ?

ऐसी दृढ़ आस्था-युक्त जो सत्यज्ञान है, उसके अनुरूप जो भी आचरण होगा, वह सत्य-आचरण होगा; और ऐसा आचरण ही सम्यक्चारित्र है। सत्य-दर्शन-ज्ञान-चारित्रका अभिन्न, संयुक्त या युगपत्, पालन करनेसे आत्माको स्थायी मुक्ति अर्थात् कभी नष्ट न होनेवाली शान्ति या सुख मिल सकता है, और यही प्रत्येक प्राणी चाहता भी है। परन्तु संसारमें आत्माको भरमा देनेवाले कारण या निमित्त इतने अधिक परिमाणमें मिलते हैं और इतने मोहक रूपमें सामने आते हैं कि आत्मा अपनेको तो भूल ही जाता है, यहां तक कि जड़ वस्तुओंके मोहमें अपना अस्तित्व तक खो बैठता है, और इसीलिये उसे सच्ची शान्ति या सच्चा सुख नहीं मिलता।

भगवान महावीरने धर्मका स्वरूप बहुत ही व्यापक कहा है। वह स्वामी समन्तभद्रके निम्न वाक्योंसे स्पष्ट झलकता है :—

"देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणं।
संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥"

"मैं उस धर्मका उपदेश करता हूं, जो संसारके प्राणियोंको, संसार-दुःखोंसे मुक्त करके उत्तम

सुख—स्थायी शान्ति—दे। और वह धर्म समीचीन अर्थात् प्रत्यक्ष अनुमानादिकी बाधा-रहित, अतएव वैज्ञानिक, और कर्मबन्धन अर्थात् पाप-पुण्य—शुभ अशुभ (कर्म) को नष्ट करनेवाला है।"

भगवान महावीरने धर्मका सच्चा स्वरूप उस समय लोगोंके सामने रखा, जब कि मनुष्य अपने विवेक-बुद्धिकी आँखोंपर पट्टी बाँधकर धर्मके नामपर हिंसा करता ही चला जा रहा था और उसे धर्मका अंग ही समझ बैठा था, और इसीलिये वह उस हिंसामें ग्लानि तक अनुभव न करता था।

भगवान महावीरने जब देखा कि संसारमें सबसे उन्नत प्राणी विवेक-बुद्धि-सम्पन्न मनुष्यकी यह घोर अवनति इन्हें रसातलमें पहुंचा देगी, तब उन्होंने संसारमें फैली हुई हिंसाके विरुद्ध आवाज उठाई ; और उसके प्रचारमें उन्होंने अखंड अहिंसासे ही काम लिया। सबसे पहले उन्होंने सत्यपर जोर दिया। जहाँ सत्य है, वहीं अहिंसा है ; और जहां अहिंसा है, वहीं सत्य है। इन दोनोंका ऐसा सम्बन्ध है, जो कभी अलग नहीं हो सकता।

'सम्यक्त्व' शब्दका भावार्थ या व्यापक अर्थ 'सत्य' है। भगवान महावीरने सत्यावलम्बी को 'सम्मदिट्ठि' या 'सम्यग्दृष्टि' कहा है, और 'सम्यग्दृष्टि'को ही संसारमें सबसे बड़ा बतलाया है। सम्यग्दृष्टि मनुष्यको भगवानने स्वर्गके देवताओंसे भी अधिक महत्व दिया है। क्योंकि उससे संसारको सुख-शान्ति मिल सकती है—जगतका वह कल्याण कर सकता है।

भगवानको निर्वाण प्राप्त हुए आज लगभग २५०० अढ़ाई हजार वर्ष हो गये। इस बीचमें सम्यग्दृष्टिका इतना आत्मबल, ऐसी वज्र दृढ़ता, ऐसा चमत्कार, हिंसाके विरुद्ध ऐसा प्रबल और प्रभावशाली महायुद्ध, सत्य या अहिंसाके बलपर भीषणसे भीषण पाशविक शक्तिका ऐसा असम्मान आज तक मानव-जगतके अनुभवमें नहीं आया, जितना आज महात्मा गान्धी जैसे एक ही सम्यग्-दृष्टिके उदयसे हम अनुभव कर रहे हैं। भगवान महावीरके बताये हुए शान्ति-मार्गपर ऐसा व्यापक प्रकाश शायद ही कभी पड़ा हो, जैसा कि आज मानव-समाजके सौभाग्यसे पड़ा है।

भगवान महावीरने केवल मानव-समाज ही को नहीं, बल्कि प्राणि मात्रको स्थायी सुख-शान्ति प्राप्त करनेके लिये सत्यका आश्रय लेनेका उपदेश दिया, और उसके मुख्यतः पांच उपाय बताये, जो इस प्रकार हैं :—

"हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्"

हिंसा, अनृत (असत्य), स्तेय (चोरी), अब्रह्म और परिग्रह—इनसे विरति अर्थात् बुद्धिपूर्वक विरक्त (अनासक्त) होना व्रत है। इन उपायोंको सभी कोई आसानीसे काममें ला सकें और धीरे-धीरे क्रमोन्नति कर सकें, इसके लिए कहा,—"देशसर्वतोऽणु महती" अर्थात् ये उपाय 'एकदेश'—एकांश—और क्रमशः 'सर्वदेश'—सर्वांश—काममें लाये जा सकते हैं। यही कारण है कि इनका 'पंच-अणुव्रत' और 'पंच-महाव्रत'के रूपमें विभाजन किया गया। जो विवाह आदि करके या योंही सांसारिक कर्तव्यों का पालन करते हुए सुख-शान्ति प्राप्तिके मार्ग पर चलना चाहते हैं, उन्हें 'अणुव्रत' का आश्रय

लेनेके लिये कहा, और जो महापुरुष या महापुरुषार्थी स्वयं और जगत्को सुख-शान्तिके मार्गपर चलना और चलाना चाहते हैं, उन्हें 'महाव्रत' का आश्रय लेनेके लिये कहा।

अहिंसापर अनास्था रखनेवाले कितने ही भाई ऐसा कहा करते हैं कि 'सत्य-अहिंसा, ये सब नुमाइशी चीजें हो सकती हैं, पर व्यावहारिक जीवनमें इनका कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं हो सकता।' ऐसे अघोर और निराशावादी मनुष्योंका अस्तित्व पहले भी था, और उन्हींके लिये भगवानने यह उपदेश दिया—'देशसर्वतोणुमहती।' जिसका अभिप्राय है—अहिंसाका शतांश या सहस्रांश भी पालन किया जा सकता है, और क्रमोन्नति द्वारा मनुष्य धीरे-धीरे सहस्रांशसे शतांशपर और शतांशसे दशांशपर आता हुआ कभी-न-कभी पूर्णतापर पहुंच सकता है।

धीरे-धीरे क्रमोन्नति द्वारा पूर्णता कैसे प्राप्त की जाती है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण महात्मा गान्धी हैं, जिन्होंने सत्य और अहिंसाको—जोकि वास्तवमें धर्मके ही व्यावहारिक नाम हैं, इसलिये धर्मको—व्यावहारिक रूप देकर संसारके लिये 'कामकी चीज' बना दिया। आज, जब कि 'धर्म' एक 'ढकोसला'के सिवा और कुछ नहीं समझा जाता, धर्म ही जीवनका उद्देश्य बन गया है, और वैज्ञानिक कसौटीपर भी वह खरा ही उतरा है।

भगवान महावीरने सत्य-ज्ञानकी जैसी व्याख्या की है, हूबहू वैसी ही व्याख्या, आज की भाषामें, महात्माजी करते हैं:—"जहाँ सत्य है, वहाँ ज्ञान—शुद्धज्ञान है ही। जहाँ सत्य नहीं, वहाँ शुद्धज्ञान हो ही नहीं सकता।" "जहाँ सत्य ज्ञान है, वहाँ आनन्द ही हो सकता है, शोक हो ही नहीं सकता, चूँकि सत्य शाश्वत है, इसलिये आनन्द भी शाश्वत है।" महात्माजी फिर कहते हैं—"लेकिन यह सत्य, जो पारसमणि-रूप है, कामधेनु-रूप है, कैसे मिले? इसका जवाब भगवानने दिया है, अभ्याससे और वैराग्यसे।"

भगवान महावीरका उपदेश है: —"तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच-पंच'; अर्थात् हिंसादि पांच व्रतोंकी स्थिरताके लिये प्रत्येक व्रतकी पांच-पांच भावना हैं। 'भावना'—इसे भी हम पारिभाषिक शब्द कह सकते हैं, जिसका अर्थ है बार-बार चिन्तन करना—अभ्यास करना। सत्यकी प्राप्तिके लिये पांच भावनाएँ बताई—"क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणंच पंच।" अर्थात् क्रोधका त्याग, लोभका त्याग, भयका त्याग, उपहासका त्याग करना और निर्दोष वचन कहनेका अभ्यास करना। यह स्पष्ट है कि मनुष्य क्रोधसे, लोभसे, भयसे और उपहासमें असत्यका आश्रय लेता है, और निर्दोष बननेके अभ्याससे सत्यका पालन करने लगता है। इसी तरह अहिंसाकी स्थिरताके लिये वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, कायगुप्ति, आदाननिक्षेपण-समिति और आलोकित-पान-भोजनका अभ्यास करना। 'गुप्ति' और 'समिति' पारिभाषिक शब्द हैं, जिनका अर्थ है 'संयम'। यानी—वचनपर, मनपर और कायपर संयम रखना, हर क्रियामें संयमसे काम लेना तथा दिनमें खाना-पीना। मनुष्य बहुत बोलता है, जिससे उसके वचनोंका अपव्यय ही अधिक होता है, उससे न तो उसको ही कुछ लाभ

होता है और न संसारको मनपर किसी तरहका अंकुश नहीं रहता, जिससे उसका मन बुरी बातों की ओर ही अधिक दौड़ता है। यही कारण है कि संसारका विलासिताकी ओर ही अधिक झुकाव होता चला जाता है। मनके अधीन शरीर है, इस लिये शारीरिक संयमकी लगाम भी वह मनके हाथ सौंप देता है। शारीरिक आलस्यके कारण उसकी सभी क्रियाएँ अविचारितरम्य होती हैं, और आहार-पान आदिमें तो वह और भी ज्यादा लापरवाह है। शरीर-पुष्टिके लिये मनुष्य अपनी श्रेष्ठता को बुरी तरह भूल जाता है, और अन्य प्राणियोंका रक्त-मांस-युक्त कलेवर तक निर्दयता-पूर्वक खा जाता है। मनुष्य समाजमें यह रोग इतनी भयंकरतासे घुस गया है कि महात्मा गान्धीको इसे एक स्वतन्त्र व्रतका रूप देना पड़ा है—"अस्वाद।"

ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिये भगवानने कहा है—"स्त्री-राग कथा-श्रवण तन्मनोहरांग-निरीक्षण पूर्वरतानुस्मरण वृष्येष्टरस-स्वशरीरसंस्कार-त्यागाः पंच।" अर्थात् स्त्रियोंमें आसक्ति पैदा करने वाले गन्दे साहित्यका (फिर चाहे वह लिखित हो, या मौखिक) त्याग करना, स्त्रियोंके चित्ताकर्षक अंगोंको राग-सहित देखनेका त्याग करना, पहले भोगे हुए विषय भोगोंका स्मरण न करना, कामोद्दीपन करनेवाले पौष्टिक और इन्द्रियोंको लालायित या उत्तेजित करनेवाले रसोंका त्याग करना, और दूसरोंको आकर्षित करनेवाले शारीरिक शृंगारका त्याग करना। इनसे ब्रह्मचर्यकी रक्षा होती है।

इसके विपरीत, व्रतोंकी दृढ़ताके लिये जो कहा है, वह इन शब्दोंमें है,—'मैत्री प्रमोदकारुण्यमाध्यमास्थानि च सत्वगुणाधिकक्लिश्यमानाऽविनयेषु।" अर्थात्—मनुष्यको प्राणी मात्रमें मैत्रीभाव रखना चाहिये; जो गुणोंमें बढ़े-चढ़े हैं, उनको देखते ही प्रमुदित (प्रसन्न) होना चाहिए; रोग-शोकादिसे पीड़ित या दुःखित प्राणियोंपर करुणा-बुद्धि रखना और उनके दुःखको दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिए; और अपनेको कष्ट देनेवाले—अपमान करनेवाले—यहां तक कि अन्याय-पूर्वक अत्याचार करनेवालेसे भी माध्यस्थ भाव (तटस्थभाव) रखना चाहिये।

आज, जो सत्याग्रह हमें संसारकी बड़ीसे बड़ी पाशविक शक्तिका शान्ति-पूर्वक मुकाबला करनेका बल देता है—साहस देता है, उसके भीतर भगवान महावीरकी ये ही चार भावनाएँ निहित हैं, सर्व साधारण प्राणियोंसे मैत्रीभाव होनेसे सत्याग्रही उनके कष्टोंको दूर करनेका प्रयत्न करता है, गुणवानोंके गुणोंका वह आदर करता है, और अत्याचारियोंसे वह द्वेष नहीं करता, इसलिये उसका सत्याग्रह अहिंसा-मूलक है—शान्तिके लिये है।

'हिंसा' क्या है? किसीको जानसे मारना ही हिंसा हो, सो बात नहीं। कहा है "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।" 'प्रमत्तयोग'का * विस्तृत अर्थ है इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिए—क्रोध, मान, माया और लोभके वश राग-द्वेष-पूर्वक कोई भी क्रिया करना। इस प्रकारकी क्रिया द्वारा दूसरेके भाव-प्राण और द्रव्य-प्राण—मन और शरीर—का घात करना हिंसा है। इसके विपरीत जहां इन्द्रियों के तृप्त करनेकी लालसा नहीं, क्रोध नहीं, अहंकार नहीं, कपट नहीं, लोभ नहीं, राग नहीं, द्वेष नहीं—वहाँ हिंसा नहीं।

* प्रमत्त=प्रमाद। योग=मन, वचन और शरीरकी क्रिया। प्रमत्त योगात्=प्रमादके योगसे।

आत्मा अविनाशी है, अमर है, वह कभी मर नहीं सकता। इसलिये किसीको मार डालनेमें ही हिंसा हो, सो बात नहीं। हिंसा तो हमारे मन की गतिपर निर्भर है, हमारे अभिप्रायसे उसका सम्बन्ध है। महात्मा गान्धीके शब्दोंमें—"कुविचार मात्र हिंसा है। उतावलापन हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसीका बुरा चाहना हिंसा है।"

महात्माजीने अहिंसाकी व्याख्या इस प्रकार की है—"प्राणियोंका वध न करना ही भर अहिंसा व्रतके पालनेके लिये बस नहीं है। अहिंसा है सूक्ष्म जन्तुओंसे लेकर मनुष्य तक सभी प्राणियोंके प्रति समभाव रखना। अहिंसा व्रतका पालक अन्याय करनेवालेके प्रति भी क्रोध नहीं करता, किन्तु उसपर प्रेमभाव रखता है, उसका हित चाहता और करता है। किन्तु प्रेम होते हुए भी अन्यायीके अन्यायके वश नहीं होता, अन्यायका विरोध करता है; और वैसा करनेमें वह जो कष्ट देवे, उसे धैर्य पूर्वक और अन्यायीका द्वेष किये बिना सहता है।"

भगवान महावीरके उपदेश और महात्मा गान्धी की व्याख्यामें केवल भाषागत भेद है, और कुछ नहीं। भगवान महावीरने २५०० वर्ष पहलेकी भाषामें अहिंसाका उपदेश दिया है और महात्मा गान्धीने आजकी भाषामें। इसी तरह अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रतके सम्बन्धमें भी महात्माजीने वही कहा है, जो भगवान महावीरने कहा है; दोनोंके भावोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं है, अन्तर है तो केवल प्राचीन और आधुनिक भाषा शैली मात्रका अन्तर है।

भगवान महावीरके उपदेश कुछ स्व-स्वरूपमें और कुछ विकृत रूपमें शास्त्र-भंडारोंमें ग्रन्थ-रूपमें विद्यमान हैं, किन्तु उन्हें आज संसार स्वतन्त्रता पूर्वक देख नहीं सकता, उससे मनुष्य मात्र लाभ नहीं उठा सकते, उनका व्यापक रूपसे मनन नहीं किया जा सकता। हम, भगवान महावीरके अनुयायी, उनके प्राणिमात्रके लिये दिये-गये उपदेशोंको अपनी खास चीज समझने लगे हैं, यह कितनी भारी भूल है! विश्व-संसार उससे लाभ उठा सके—सुख शान्ति भोग सके—इसके लिये कोई भी व्यापक और सफल प्रयत्न हमारी ओरसे नहीं हुए। यह कितने दुःखकी बात है!

इस दुःखमें भी सुखकी बात यह है कि महात्मा गान्धीने सत्यकी खोज करते करते भगवान महावीरके उपदेशोंका पता लगा लिया, और उन्हें आजकी भाषामें—आधुनिक शैलीमें और प्रत्यक्ष व्यावहारिक रूपमें संसारके सामने रखा। महात्माजीका यह प्रयत्न सफल हुआ। संसारने आदर और सम्मानके साथ उसे ग्रहण किया। आज संसारके सामने हिंसाने सिर झुकाया है—हिंसा आज पराजित है, आज अहिंसाका विजयोत्सव है। किन्तु हम भगवान महावीरके अनुयायी आज कहाँ हैं? हममेंसे एक भी गान्धी क्यों नहीं निकल सका? हममेंसे कोई, भगवान महावीरके उपदेशको 'आजके कामकी चीज' क्यों न बना सका?

इसलिये कि हमारा दृष्टिकोण बहुत ही संकीर्ण रहा। हमें अपनी कल्पित लकीरके बाहर जानेमें डर लगता है। 'धर्म डूबा'का हौआ हमारे सर हो लिया है। उसने हमारी विवेक-बुद्धिका दरवाजा बन्द कर रखा है, जिससे हम धार्मिक सिद्धान्तोंको

रट लेते हैं और केवल बाह्य रूपमें उनका पालन करते हैं। हानि-लाभपर कुछ भी विचार नहीं करते। इतनी फुरसत ही कहाँ!

हमारी अहिंसा, आज पेड़-पत्तिओंसे चलना शुरू करती है, और पंचेन्द्रिय पशुओं तक पहुंचते-पहुंचते थककर बैठ जाती है। हम अष्टमी और चतुर्दशीको 'हरी' (फल आदि) नहीं खाते, क्योंकि उससे वृक्षोंको कष्ट पहुंचेगा; किन्तु उस दिन सत्य, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पालन करनेकी ओर बहुत कम ध्यान रहता है। यहां तक कि उन व्रतोंको भंग करते हुए भी हमें उसका भान तक नहीं होगा! यह कितनी भयंकर अन्धकारमय अचेतन अवस्था है।

ये बातें बड़े दुःखसे कहनी पड़ी हैं। कहने का मतलब सिर्फ इतना ही है कि हम मनुष्योंके साथ ऐसा व्यवहार नहीं करते, जिससे वे हमारे प्रति आकृष्ट हों और अहिंसा धर्मकी प्रशंसा करें। यही कारण है कि जैनोंका—भगवान महावीर के अनुयायीयोंका—विश्वमें-संसारमें आज कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं। इसका सारा दोष हमारे ही सिर है।

यथार्थमें सम्यग्दृष्टि या धर्मात्मा वही है, जो संसारमें रहते हुए भी, जलमें कमलके समान, निर्लिप्त रहे या वैसी भावना रखे। भरत चक्रवर्तीका आदर्श सामने रखकर सांसारिक कर्तव्योंका शान्ति-पूर्वक पालन करता जाय, और किसी बातकी आकांक्षा या फल-प्राप्तिकी अभिलाषा न रखे। निष्काम-कर्म इसीका नाम है।

भगवान महावीरका सच्चा अनुयायी या भक्त वही है, जो निष्काम-कर्म करता है या करनेकी उत्कट अभिलाषा रखता है। यथार्थमें—धर्मात्मा वही है।

धर्मात्मा कौन है?—इस विषयमें भगवान महावीरका जो उपदेश था, वही आज महात्मा गान्धी कहते हैं—"जो किसीसे द्वेष नहीं करता, जो करुणाका भंडार है, जो ममता-रहित है, जो निरहंकार है, जिसे सुख-दुःख, शीत-उष्ण समान हैं, जो क्षमाशील है, जो सदा सन्तोषी है, जिसका निश्चय कभी बदलता नहीं, जिसने मन और बुद्धि 'सत्य'को अर्पण कर दी है, जिससे लोग घबराते नहीं, जो लोगोंका भय नहीं करता, जो हर्ष-शोक भयादिसे मुक्त है, जो पवित्र है, जो कार्यदक्ष होनेपर भी तटस्थ है, जो शुभाशुभका त्याग करनेवाला है, जो शत्रु-मित्रपर समभाव रखनेवाला है, जिसे मान-अपमान समान है, जिसे स्तुतिसे खुशी और निन्दासे ग्लानि नहीं होती, जो मौनधारी है, जिसे एकान्त प्रिय है, जो स्थिरबुद्धि है, वह भक्त है—वही धर्मात्मा है।"

क्रान्तिकारी महावीर

[श्री ब्रजमोहन वर्मा स० सम्पादक 'विशाल भारत']

संसार के इतिहासमें सृष्टि के आदि से अब तक सैकड़ों युगान्तर, सहस्रों क्रान्तियाँ और लाखों परिवर्तन उपस्थित हो चुके हैं। वास्तव में यदि देखा जाय तो इन्हीं युगान्तरकारी परिवर्तनोंके 'रेकर्ड' का नाम ही इतिहास है। हमलोग बहुधा यह समझा करते हैं कि भगवान कृष्ण के निष्काम कर्म, भगवान महावीर के अहिंसा परमोधर्मः, प्रभु ईसा के प्रेम, कार्ल मार्क्स के साम्यवाद आदि सिद्धान्तों ने संसार में युगान्तर उपस्थित किये हैं। परन्तु यह धारणा भ्रान्ति पूर्ण है। संसार में कभी कोई सिद्धांत युगान्तर उपस्थित नहीं किया करता। युगान्तर उपस्थित करने के लिये महान व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। जिन-जिन सिद्धान्तों को लेकर महापुरुषों ने युगान्तर उपस्थित किये हैं, उन सिद्धांतों के मूल में विश्वव्यापी सत्य का एक बड़ा अंश रहता है। यह सत्य अनन्त है, नित्य है, अनश्वर है। वह सदा से रहा है, सदा रहेगा। हां उसे प्रत्यक्ष रूप से प्रतिपादित कर दिखाने के लिये एक कृष्ण, एक महावीर, एक बुद्ध, एक ईसा या एक लेनिन की आवश्यकता हुआ करती है।

समय के फेर से, अज्ञानता की वृद्धि से, महान पुरुषों के अभाव से मदमस्त, निरंकुश मनुष्य इस सत्य के रूप को विकृत करते हैं, उस पर झूठ अन्याय और आडम्बर के आवरण बढ़ाते हैं; और परमेश्वर की सृष्टि को अपनी लिप्सा और स्वार्थ लोलुपता से कलुषित करते हैं। उस समय एक ऐसी महान आत्मा का जन्म होता है, जो संसार की क्षुद्र बातों से ऊपर उठकर, सत्य के असली रूप को पुनः प्रकट करती है, आडम्बरों के झूठे आवरणों को निकाल फेंकती है, और मनुष्य को सन्मार्ग का पथ दिखाती है। जिस समय इस प्रकार की महान आत्मायें अवतरित होती हैं उस समय क्या दशा होती है—इसका चित्र एक विदेशी विद्वान मि० एमर्सन ने इस प्रकार खींचा है :—

"खबरदार, उस समय जब कि परमात्मा इस भूमि पर किसी विचारशील (Thinker) व्यक्ति को भेजता है। उस समय सभी चीज़ें खतरे में पड़ जाती हैं। उस समय उसी तरह का दृश्य उपस्थित होता है जैसा किसी बड़े नगर में आग लगने पर होता है। उस वक्त यह कोई नहीं जानता कि कौन चीज़ बचेगी, और यह आग कहाँ जाकर खतम होगी।"

अब से ढाई हजार वर्ष पहले ठीक इसी प्रकार का दृश्य उपस्थित हुआ था। धर्म के असली अर्थ को भूल कर लोग बाहरी आचारों और आडम्बरों को ही धर्म समझने लगे थे। सुन्दर

सामाजिक और नैतिक नियमों को अस्वस्थकर जाति भेद, ब्राह्मणों को अत्यधिक प्रभुता और शूद्रों के प्रति निष्ठुर व्यवहारों के द्वारा कलुषित किया जा रहा था। ब्राह्मणों को जो प्रभुता तथा सुविधायें दीगई थीं, उन्होंने उन्हें उन्नत बनाने के स्थान में उन में उच्छृंखलता, अज्ञान और लोलुपता उत्पन्न की, जो यहाँ तक बढ़ी कि ब्राह्मण सूत्रकारों तक को कड़े-से-कड़े शब्दों में भर्त्सना करनी पड़ी। दूसरी ओर अन्य ब्राह्मणेतर जातियों, विशेष कर शूद्रों पर लगाये हुए प्रतिबन्ध दिन-पर-दिन कठोर होते गये। उनके लिये शिक्षा, सामाजिक समानता, धार्मिक कृत्यों में भाग लेने आदि के द्वार बन्द रखे गये। धीरे-धीरे मानवी अन्यायों का भार बढ़ता गया। उपेक्षित, पीड़ित, अपमानित और पद दलित मानव समाज अपने उद्धार का मार्ग ढूंढने के लिये व्याकुल हो उठा, संसार को एक ऐसी महान, वीर और क्रान्तिकारी आत्मा की आवश्यकता हुई जो उसे इस बन्धन से मुक्त कर सके—जो अपने तेज की अग्नि में मिथ्या आवरणों को भस्म करके सत्य के कुन्दन को पुनः प्रकट कर सके। उस समय वैशाली के एक महान क्रांतिकारी नवयुवक राजकुमार ने संसार की इस आवश्यकता की पूर्ति की।

भगवान महावीर ने मानव समाज को बतलाया कि धर्म के द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है! परन्तु धर्म थोथी रूढ़ियों और बाह्य सामाजिक नियमों का नाम नहीं है। उन्होंने इस महान साम्यवादी सिद्धांत का, कि सत्य धर्म में ऊंच-नीच, ब्राह्मण-शूद्र, पुरुष-स्त्री आदि किसी भी प्रकार के भेदभाव को स्थान नहीं है, प्रचार करके एक युगांतरकारी क्रांति उपस्थित कर दी। इतना ही नहीं, वरन उन्होंने अपने इस समता के सिद्धांत को केवल मनुष्य तक ही संकुचित न रख कर उसे प्राणी मात्र के लिये व्यापक बना दिया! आधुनिक काल के साम्यवादियों का—जैसे कार्ल मार्क्स, लेनिन आदि का—साम्यवाद केवल मनुष्य तक ही परिमित है, परन्तु भगवान महावीर का साम्यवाद उससे कहीं विस्तृत—सृष्टि-व्यापी—है!

क्रान्तिकारी महावीर ने प्राणिमात्र में बन्धुत्व का दिग्दर्शन करा कर उनकी संकीर्णता दूर की। लोगों को स्वावलम्बी बनने का—केवल सांसारिक बातों में ही नहीं वरन आध्यात्मिक बातों में भी—पाठ पढ़ा कर उन्हें कर्मठ बनाया और उनकी आत्माओं को शक्ति प्रदान की। उन्होंने बतलाया कि काल, समय, पात्र, स्थान, या परिस्थितियाँ धर्म को किसी बन्धन में नहीं डाल सकतीं। धर्म इन सब प्रतिबन्धों से परे है। इस प्रकार उन्होंने धर्म को—लोगों की आत्मा को—रूढ़ियों के बन्धन से मुक्त कर स्वतन्त्रता प्रदान की। उन्होंने बताया कि अहिंसा, संयम, और तप के एक साथ समावेश होने का नाम ही धर्म है! अहिंसा के अन्तर्गत दया, निष्पाप प्रेम, भ्रातृभाव आदि का समावेश है। संयम के द्वारा मन और इन्द्रियों को नियन्त्रण में रख कर आत्मा को दृढ़ और शक्तिशाली बनाया जाता है, और तप में दूसरों की—मनुष्यों और जीवों की—सेवा करना तथा अध्ययन चिन्तन के द्वारा ज्ञान वृद्धि करके अपने को उस सेवा के लिए और अधिक उपयुक्त बनाना है। उन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और अधम गिने जाने वाले शूद्रों तक—बिना

स्त्री-पुरुषका भेद किये हुए—समान भाव से जैन बनाया।

अरबदेश की एक कथा है कि अबू बिन आदम नामक एक व्यक्ति ने एक दिन स्वप्न में देखा कि एक देव दूत एक सोने की पुस्तक में कुछ लिख रहा है। अबू ने उससे पूछा—"आप क्या लिख रहे हैं?" देव दूतने उत्तर दिया? "मैं उन लोगोंके नामों की सूची तय्यार कर रहा हूँ, जो ईश्वर को प्यारे हैं।" अबू ने कहा—"कृपा करके मेरा नाम उन लोगों की सूची में लिख लीजिये, जिन्हें मनुष्य मात्र प्यारे हैं।" देव दूतने अबूका नाम लिख लिया और अन्तर्धान हो गया। दूसरे दिन स्वप्नमें अबू को वही देव दूत अपनी उसी स्वर्ण पुस्तक के साथ पुनः दिखाई पड़ा। उसने पुस्तक खोल उन नामोंकी सूची दिखलाई जिन्हें स्वयं परमेश्वर बहुत प्यार करता था। अबू ने देखा कि सूची में पहला नाम उसी का था। कथाका अर्थ यह निकलता है कि मनुष्य मात्र से प्रेम करना परमेश्वर का प्रेम प्राप्त करना है। परन्तु भगवान महावीर उन लोगों में से थे, जो केवल मनुष्यों से ही नहीं, बरन प्राणि मात्र से प्रेम रखते थे।

समय के फेर से, तथा अन्य सैकड़ों कारणों से भारतवर्ष ने भगवान महावीर के व्यावहारिक धर्म को भुला दिया। थोथे आडम्बर, रूढ़ियाँ, अन्याय पूर्ण भेद भाव और सामाजिक प्रतिबन्धों का दौर दौरा चल रहा है। इस समय पुनः एक ऐसी महान आत्मा की आवश्यकता है जो सत्य पर चढ़े हुए इन सब कलुषित आवरणोंको जला कर भस्म कर दे। हमारा सौभाग्य है कि यरवदा जेल से इस अग्नि की लपट उठनी आरम्भ हो गई है!

—:o:—

श्रमण भगवंत महावीरके उपदेश



[श्री मोहन लाल बांठिया, बी० काम]

अलं कुसलस्स पमादेण संति मरणं सपेहाए भिदुरधम्मं सपेहाए।

कुशल-चतुर मनुष्य, मृत्यु को 'अवश्यम्भावी' देखकर, तथा संसार की क्षणभंगुर प्रकृति को देख कर प्रमाद का परित्याग करते हैं।

जे ममाइयमतिं जहाति से जहाइ ममाइतं सेहु दिट्ठपहे "मुणी" जस्स णत्थि ममाइतम्।

जो ममत्व मति को छोड़ते हैं वे ही ममत्व का त्याग कर सकते हैं और जो ममत्व भावका त्याग करते हैं वे ही सत्य पथ के पंथी हैं।

"जहा जुन्नाइं कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्थति, एवं अत्तसमाहि ते अणिहे।"

जैसे अग्नि पुराने काठ को शीघ्र जलाती है उसी प्रकार निस्सनेही एवं समभावी पुरुष कर्मों को नाश करते हैं।

"विनिगिच्छ समावण्णेणं अप्पाणेणं णो लभति समाहिं।"

संशयपूर्ण आत्मा को समाधि प्राप्त नहीं हो सकती है।

"इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण माणण पूयणाए जाइमरण मोयणाए दुक्खपड़िघायहेउं सं सयमेव पुढविसत्थं समारंभइ अण्णेहिं वा पुढविसत्थं समारंभावेई अण्णेहिं वा पुढविसत्थं समारंभते समणुजाणइ तं से अहियाए तं से अबोहिए। (उदय सत्थं, अगणिसत्थं, वणस्सईसत्थं तसकायसत्थं वाउसत्थं च)

"जो जीवन निर्वाह के लिये, बन्दना नमस्कार के लिये, सम्मान देने के लिये, पूजा करने के लिये, जीवन मरण से छुटकारा पाने के लिये तथा दुःख का निवारण करने के लिये स्वयमेव पृथ्वीकाय, अपकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय, तथा वायुकाय के जीवों की हिंसा करता है, कराता है तथा करतेको अच्छा समझता है वह अहित फल देने वाला तथा सम्यक्त्व का नाश करने वाला कार्य्य करता है।

"पुरिसा, तुम मेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्त मिच्छसि"।

हे पुरुष, तू ही तेरा मित्र है; क्यों व्यर्थ अन्य बाहिरी मित्रों की इच्छा करता है?

सव्वतो पमत्तस्स भयं, सव्वतो अप्पमत्तस्स णत्थि भयं।

आलसी-प्रमादी को सब वस्तुओं से भय होता है किन्तु अप्रमादी उद्योगी को किसी से नहीं।

—o—

Some Materials relating to the Life and Time of Tirthankara Mahavira.

BY P. C. NAHAR, M. A., B. L.

Below are given some materials relating to the life and time of Lord Mahavira, the last Jain Tirthankara with the hope that they will be useful to scholars for further study. Though the list cannot be claimed to be exhaustive, still, it is hoped, it will be of some help to those who are interested in the life and teachings of Mahavira.

I. Jain Agams or Canons, better known as Jain Sutras.

These texts are 45 in number viz :— 11 Angas, 12 Upangas, 4 Mula Sutras, 6 Chheda Sutras (which include 'Kalpa Sutra'), 10 Payennas and 2 Chulikas. Materials dealing with the time and events of Mahavira's life, are scattered over the whole range of these Sutras, while there is a special Section about the life of Mahavira in 'Kalpa Sutra' held in great esteem by the Swetambar Jains and annually read during 'Paryusana' festival.

II. Commentaries on the above Sutras, known as 'Panchangi Tikas' viz ;—Bhasya, Churni, Niryukti, Avachuri and Tika. More detailed accounts are found in them of the life and time of Mahavira.

III. (1) 'Trisasti-Mahapurus—Gunalankar' by Puspadanta, containing about 7100 Slokas. The author is said to have flourished in Second century of Vikram era. (Unpublished)

(2) 'Choupanna Mahapuris-Chariyam, by Silacharya in Prakrit which contains about 12600 Slokas and composed in about 925 V S. The work is unpublished but there are copies in Jaisalmer and Patan Bhandars.

(3) 'Mahavira Chariyam' in Prakrit by Guna Chandra Gani. The work contains more than 12000 Slokas. There is a copy of the work at Baroda in the collection of Mohan Vijaya Gani (Unpublished)

(4) Do. by Nemi Chandra Suri in Prakrit, composed in 1139 **V**. S and published by Atmanand Sabha, Bhavnagar.

(5) 'Trisasti-Salakapurus-Charitra' by Hem Chandracharya. Mahavira Charitra or the life of Mahavira forms the tenth canto of the work. This great epic is Published by Jain Dharma Prasarak Sabha, Bhavnagar.

(6) 'Trisasti'. A Prose work in Sanskrit, but the author's name is not mentioned. Found in Jaisalmer Bhandar and is unpublished.

(7) 'Laghu Trisasti' by Megha Vijaya. It contains 5000 Slokas, and mentioned in Peterson's Fifth Report (List of Mss. Purchased for Govt :) pp. 297. No. 816. Found in Baroda and Bikaner Bhandars.

(8) 'Trisasti—Laksana—Mahapurana—Sangraha' by Gunabhadracharya. Compo-

sed in 955 V. S. and mentioned in Peterson's Fourth Report. (List of Mss acquired for Govt :) pp. 54. No. 1429 (unpublished)

(9) 'Jinendra Charitra' also known as 'Padmanand Mahakavya' by Pandit Amar Chandra in 18 Cantos containing 8191 slokas. Found both in Patan and Cambay Bhandars and noticed in Peterson's first Report. P, 2. The copy at Cambay is dated 1297 V. S. (Unpublished)

(10) 'Vira or Mahavira Charitra' by Jina Vallabha Suri. It is a short treatise in Prakrit and there is a 'Vriti' on the work by Samayasunder. Found in several Bhandars both in Patan and Baroda and noticed in Peterson's Fifth Report (List of Mss. purchased for Govt :) pp. 294, No.794 (Unpublished)

(11) 'Vardhamana Desana' by Raj kirti, mentioned in Peterson's Fifth Report (List of Mss. Purchased for Govt.) pp. 298. No 822 Published from Jamnagar.

(12) 'Vardhamana Jina Charitra' by Sakal Kirti. It contains 3035 Slokas and there is a copy of the work in Baroda (Unpublished)

(13) 'Raya-Mallabhayudaya-Mahakavya, by Kavi Padmasundar. It is composed in 1615 V. S. and mentioned in Peterson's Third Report p. 255.

(14) 'Upadesa-Sata-Vivarana'. It is also known as 'Mahapurusha Charita' by Merutung Suri. Mahavira's life is dealt with in Canto IV of the work.

(15) 'Kathavali'. It is a work in Prakrit by Bhadreswar and contains about 23800 Slokas. It is deposited in one of the Bhandars at Patan (Unpublished)

(16) 'Vividha-Tirtha-Kalpa' by Jina Prabha Suri. Mss. of this important Prakrit-Sanskrit work are found in several Bhandars, only a portion has been published in Bibliotheca Indica by A. S. of Bengal, Calcutta.

(17) 'Vasudeva Hindi'. A prose work in Prakrit consisting of several parts and is known to have been compiled by Dhrmadas Gani. Some portion of the text has been published.

(18) 'Nirvana Kalika' by Padaliptacharya. It is published from Bombay.

(19) 'Deepotsava Kalpa' in Sanskrit.

(20) 'Vira Stuti' in Prakrit-Sanskrit. by Dhanpal.

(21) 'Mahavira Charitra' by Asag Kavi. It is a Sanskrit work in 18 Cantos and its Hindi translation has been published from Surat.

(22) 'Mahavira Purana' by Bhattarak Sakal Kirti in Sanskrit of which a Hindi translation has been published from Bombay.

(23) 'Mahavira Charitra' or 'Nirvana Kanda'. It is Published from Surat.

(24) 'Sammet Sikhar Mahatmya' by Lohacharya (Published)

(25) 'Mahavira Vivahalou'. It is a work in old Guzrati composed in 1674 V. S. There is a copy in Baroda Central Library.

IV. Buddhist Works :—

'Anguttara Nikaya' (P. T. S.) Vol. I. pp. 220, Vol. IV. pp. 180 Foll. 429.

2. 'Samyukta Nikaya' (P. T. S.) Vol. I. pp. 66,68, Vol. IV pp. 398.

3. 'Digha Nikaya' (P. T. S.) Vol. I. pp. 49, 57, 58, Vol. III, pp. 117, 118, 209--10.

4. 'Sumangal Vilasini' (P. T. S.) pp. 144.

5. Sutta Nipat.' Ed : by P. V. Bapat, Poona, 1924. PP. 72—73.

6. 'Jatak' (Fansboll's Ed :) Vol. I. pp. 509, Vol. II. pp. 262—63, Vol. III. pp. 128, Vol. V. pp. 246.

V. Modern Publications :—

1. 'Life of Mahavira' by M. C. Jain, khandwa, 1908.

2. 'Mahavira Swaminu Charitra' by Premchand Jethabhai Shah, Ahmedabad V. S. 1949.

3. 'Mahavira Swamina Dasa Sravako,' Bhavnagar, V. S. 1980.

4. 'Mahavira Swami Charitra' by Nand Lal Lallubhai Baroda, V. S. 1981.

5. Mahabira Jivan vistara' by Meghji Hirji, Bombay, V. S. 1971

6. 'Mahavira Nirvana' by Shanti Vijaya, Bombay, V. S. 1973.

7. 'Bhagwan Mahavira' by Chandraj Bhandari.

8. Vira Nirvana Samvat aur Jain Kala ganana' by Muni Kalyan Vijaya.

9. 'Viradharmano Punaruddhar' by Ditto.

10. 'Bhagwan Mahavira' by Pt. Moolchandji.

11. 'Bhagwan Mahavira aur Vartaman Jain Samaj' by Nyaya Vijayaji.

12. 'Virabibhuti' by Nyaya Vijaya.

13. 'Pawapuri Tirtha ka Prachin. Itihas' by P. C. Nahar, Calcutta.

14. 'Mahavira Swami aur Dewali' by Gajadharlalji Benares, 1912.

15. 'Bhagwan Mahavira' by Kamta Prasad Jain Surat, 1924.

16. 'Bhagwan Mahavira aur Mahatma Buddha' by Ditto, Surat, 1926.

17. 'Bhagwan Mahavira aur unka Upadesh by Ditto.

18. 'Bhagwan Mahavira Swamika Samaya' by Ditto.

19. 'Parmatma Mahavira' by Hiralal Kothari, Kampatee, 1932.

20. 'Mahavira' Bombay, 1913.

21. 'Mahavira Jivan no Mahima' by Pt. Bechardas Doshi, Vira S. 2174.

22. 'Kalpa Sutra' trans : by J. Stevenson, London, 1848.

23. Do. tarns. by H. Jacobi, Leipzig, 1879.

24. Do ,, Leumann Leipzig 1905 (German)

25. 'The Heritage of the Last Arhats' by Dr. Charlotte Krause, Bhavnagar, 1930.

26. "Lovd Mahavira" a short life sketch by Harisatya Bhattacharya, Delhi, 1926.

27. 'Cambridge History of India' Vol. I. Ed. by Rapson.

28. 'Buddha and Mahavira' by Prof. Leumnann.

29. 'Worse Mahaviras' by Walther Schubring, Gottingen, 1926.

30. 'Some Kshatriya Tribes of Ancient India' by Dr. B. C. Law, 1924.

31. 'Date of Mahavira' by J. Charpentier.

32. 'A general account of the religious and philosophical atmosphere around 'Maha vira and Buddha' by Amulya Charan Sen Calcutta, 1932.

33. Early History of India by V. A. Smith.

VI. News-Papers, Periodicals etc.

(Contributions on the Life and Time of Mahavira Swami by various Indian and foreign scholars, are found in special issues of various, Jain News-papers, Monthlies and magazines, commonly known as 'Mahavira Jayanti Anka,' "Vira Jayanti Anka", "Nirvananka", "Paryusanank", Deepotsavi Anka" etc.)

1. 'Mahavira Jayanti Anka' issued by "Jain Yuga", Bombay.

2. 'Mahavira Jayanti Anka' issued by 'Virasasana,' Ahmedabad.

3. 'Mahavira' Jayanti Anka' issued by 'Jain Sudharak', Bombay.

4. 'Mahavira Jayanti Anka' issued by 'Vira', Bijnor.

5. 'Vira Jayanti Ankas' issued by 'Jain', Bhavnagar.

6. "Vira Nirvananka" issued by 'Digam bar Jain', Surat.

7 "Paryusanankas" issued by 'Virasasana', Ahmedabad.

8. " Paryusanankas" issued by Jain Gazette', Calcutta.

9. "Deepotsavi Sahitya Ankas" issued 'Virasasana' Ahmedabad.

10. "Mahaviranka" i sued by Jain conference Herald.

— —.—

भगवान महावीर और महात्मा गान्धी

—○:o:○—

[श्री पूरणचन्द शामसुखा]

आज से कुछ कम ढ़ाई हजार वर्ष पहले भारत में अहिंसा व ज्ञान के पूर्ण अवतार वर्धमान महावीर ने जो क्रान्ति फैलायी थी उसके साथ वर्तमान भारत के अद्वितीय प्रभावशाली नेता महात्मा गांधी की प्रवर्तित क्रान्ति की तुलना कुछ अंश में विसदृश होते हुए भी सादृश्यता कम नहीं रखती। इन दोनों असाधारण महापुरुषों की समानता व असमानता की तुलना करने के पहले दोनों किस वातावरण में अवतीर्ण हुए उसे अनुशीलन करना चाहिये।

भगवान महावीर जिस समय भारत में अवतीर्ण हुए थे उस समय भारत स्वाधीन था। यद्यपि सम्पूर्ण भारत में ऐसा कोई एकछत्र राजा नहीं था जोकि हिमालय से कुमारिका व मनिपुर से पेशावर तक विस्तृत साम्राज्य का शासन करता परन्तु छोटे बड़े बहुत-से राज्योंमें विभक्त होने पर भी भारत की प्रजा सम्पूर्ण स्वाधीनता का उपभोग करती थी। अधिकांश राज्य राजकीय शक्ति से शासित थे परन्तु गणतान्त्रिक राज्य भी भारतमें अज्ञात न थे। मल्लों व लिच्छवीयों की १८ शाखाओं ने एकत्रित होकर वैशाली के गणतान्त्रिक राज्य की स्थापना की थी और इसी गणतान्त्रिक राज्य के वातावरण में भगवान का जन्म हुआ था। राजशक्ति स्वायत्त रहने के कारण वाणिज्य क्षेत्र में भी भारत बहुत बढ़ा चढ़ा था। भारत के व्यापारी अभ्यंतर व बहिर्वाणिज्य विस्तृत रूपसे कर प्रभूत धन सम्पत्ति एकत्रित करते थे। भारत की बड़ी बड़ी वाणिज्य-तरी समुद्र उल्लंघन कर दूर—दूरान्तर देशोंमें वाणिज्य करने जाया करती थीं। कोई ऐसी राजकीय शक्ति नहीं थी जो प्रत्यक्ष व परोक्ष रूपसे भारत के व्यवसाय में विघ्न डालती हो। प्रजा साधारण सरल व सन्तुष्ट थी।

उच्च वर्ण के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, प्रभूत धन व शक्ति एकत्रित कर विलासिता के शिखर पर चढ़े रहते थे। सवर्ण, असवर्ण, बहुविवाहादि करके आठ महले सोलह महले ऊंचे ऊंचे प्रासाद बनाकर नटनाट्यादिक व अगण्य दास दासियों से परिवृत हो कर, बहुमूल्य आभरण व वस्त्रादि पहन कर, मांस, मदिरादिकमें लोलुपता रखते हुए सूर्योदय व सूर्यास्त का भी पता नहीं जानते हुए भोग विलास में मस्त होकर समय अतिवाहित करते थे।

स्त्रियां शिक्षा पाती थीं परन्तु साधारणतया भोग की सामग्री ही समझी जाती थीं। युद्ध में पराजित राज्य के धनरत्नादि के साथ राजकुल व अन्य उच्च कुलकी स्त्रियां लुण्ठित होकर नाना-प्रकार के कष्ट व अपमान को सहन करनेको बाध्य होती थीं। धार्मिक सम्प्रदायों में से अधिकांश में

स्त्रियोंके लिये आत्मिक उन्नति करने का मार्ग खुला नहीं था।

निम्न सम्प्रदाय के मनुष्यों में कितने बड़े क्रूर कर्मी थे। सामान्य अर्थादिक लोभ से नरहत्या तक करते हुए जरा भी हिचकते नहीं। इन निम्न श्रेणी के मनुष्यों को आध्यात्मिक उन्नति करने का अवसर नहीं मिलता था। शास्त्र पण्डितों की बोधगम्य भाषा में रचित थे व उच्च वर्ण के व्यक्तियों के सम्मुख ही उनका पठन-पाठन होता था। निम्न तम वर्ण के मनुष्यों को वहां प्रवेश करने का अधिकार तक नहीं था। आत्म साधन का कोई रास्ता उनके लिये खुला नहीं था।

धर्म मात्र वाह्यिक क्रिया काण्ड में पर्यवसित हो गया था। धर्म्म के नाम से एक वर्ण के मनुष्यों ने अन्यान्य वर्णों पर अपना प्रभुत्व जमा लिया था व अपनी स्वार्थ सिद्धिके लिए ही उन्होंने वाह्यिक क्रिया काण्ड प्रवर्तिन किया था। धर्म के नाम पर बेहद पशुबलि होती थी - यहां तक की किसी किसी स्थान पर नरबलि तक होती थी। श्रमण सम्प्रदाय के सन्यासी तपश्चर्यामें कृच्छ्रसाधन करते हुए भी संयम व सात्विक भाव के अभाव से आत्मज्ञान प्राप्ति का रास्ता भूल गये थे।

ऐसे ही वातावरण में भगवान महावीर अवतीर्ण हुए थे।

महात्मा गान्धी वर्तमान समय के जिस वातावरण में आविर्भूत हुए हैं उससे सर्व साधारण परिचित हैं; तथापि कुछ थोड़ा यहाँ उल्लेख किया जाता है। वर्तमान समय में भारत सम्पूर्ण पराधीन है। भारत की क्षात्रशक्ति विध्वंस हो गई है। भारत का बहु शताब्दि से संचित अर्थ न मालूम कहां लुप्त हो गया है। भारत का वाणिज्य सट्टा करने में पर्यवसित हो गया है। भारत की शिक्षा इस प्रकार नियन्त्रित हुई है कि भारत की मौलिक संस्कृत विकृत हो गई है। शिक्षित कहलाने वाले भारतवासी शरीर से भारतीय रहने पर भी वेष, भाषा व भावनाओं से विदेशिओं की होड़ करने वाले हैं और अपनी सहज संस्कृति को भूल कर तथा विदेशी संस्कृति को पूर्ण रूप से आयत्त करनेमें असमर्थ होकर 'न घरके और न घाट के' रह गये हैं।

जन साधारण गरीबीकी निम्नतम दशा में पहुँच गये हैं। अधिकांश ऐसे हैं कि जिन्हें दोनों बेला भर पेट खाने तक को नहीं मिलता। विदेशी ढांचे पर गढ़ी हुई आईन के खप्पर में पड़कर जन-साधारण मुकद्दमेबाजी करके सर्व स्वान्त हो रहे हैं। साधारण प्रजा के लिये शिक्षा का कोई बन्दोवस्त नहीं है। जो कुछ थोड़ा-बहुत है भी वह ऐसा है कि बालकों को शरीर व मन से पंगु बना देता है।

समाज के उच्च वर्ण के लोग निम्न वर्णवालों से घृणा व ताच्छिल्यभाव से वर्ताव करते हैं। इस निम्न वर्ण को शिक्षा देकर मनुष्यत्व के रास्ते पर ले आने की चेष्टा बहुत कम पायी जाती है। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक—किसी तरह की उन्नति का मार्ग इन निम्न श्रेणी वालों के लिये खुला नहीं है।

समाज के उच्चस्तर के व्यक्ति—यूरोपीयनों का अनुकरण करते हुए—विलासितामें डूबे रहते हैं। इनका उपार्जित धन समाज की भलाई में खर्च न होकर अपनी भोग तृष्णा को चरितार्थ करने में खर्च होता है।

समस्त भारतवासी पशुबल के प्रताप से अपना सम्मान रखने में असमर्थ हैं। पद पद पर अपमानित होकर भी उस अपमान को नीरव सहन कर लेना ही उनके भाग्य में बदा है। सम्पूर्ण समाज भयसे विह्वल हो रहा है। मानसिक संकुचितता के कारण परस्पर में प्रेम व सहानुभूति के बदले ईर्षा, प्रतिद्वन्द्विता व कलह ने अपना जोर जमा रखा है।

ऐसे वातावरण में महात्मा गान्धी अवतीर्ण हुए हैं।

जिस समयमें जो महापुरुष आविर्भूत होते हैं वह उस समय समाजमें जो सबसे बड़ी बुराइयाँ प्रचलित रहती हैं उनके विरुद्ध अपनी समस्त शक्ति को तीव्र रूप से प्रयोजित करते हैं। यही कारण है कि भगवान महावीरने अपनी असाधारण शक्तिका—धर्म की ग्लानि व विलासिता के पंक को दूर करने में एवं निम्नतमस्तर के व्यक्तियों को भी आत्मज्ञान के रास्ते में ले जाने में—बड़े जोरों से प्रयोग किया। स्वयं राजपुत्र होते हुए भी—संपूर्ण परिग्रह को त्याग करके घोर तपस्या में प्रवृत्त हुए एवं समता व अहिंसा के मार्ग से पूर्ण आत्मज्ञान उपार्जन किया। आत्मज्ञान की प्रखर ज्योति के सामने हिंसा का अन्धकार दूर होने लगा; त्याग और वैराग्य के तीव्र तेज के सामने विलासिता भस्म होने लगी। आत्मज्ञान-शून्य बाह्यिक क्रिया कांडोंकी जड़ में बड़े जोर से आघात पहुंचा और इन्द्रभूति गौतम जैसे प्रवर पण्डित याज्ञिक ब्राह्मण भी आत्मज्ञान की ज्योति से अभिभूत हुए। जैसे राजा, राजपुत्र, बड़े बड़े धनवान सार्थवाह अपरिमित धन छोड़कर त्याग व वैराग्य के मार्ग को अङ्गीकार करके 'उच्चकुल व नीच कुल' से भिक्षा मांग कर शरीर पोषण करने लगे वैसेही निम्नतम वर्ण के मनुष्यों के सम्मुख आत्मज्ञान का मार्ग उद्घाटित होने पर वे भी साधु सम्प्रदाय में सम्मिलित होकर उच्च वर्णों के साधुओं के साथ समान आसन पाकर आत्मज्ञान उपार्ज्जन करने लगे। स्त्रियों में भी क्रान्ति फैल गई। बहुत सी स्त्रियाँ, अन्तःपुर व विलासिताको छोड़कर त्याग व वैराग्य का मार्ग अवलम्बन करके पुरुषों के समान ही, आत्म ज्ञानके चरमशिखर पर पहुंचने लगीं। भगवान महावीरने पुरुषोंके समान ही अधिकार व अवसर स्त्रियों को प्रदान किया। भारत में—विशेष करके अङ्ग, मगध, विदेह, काशी, कोशलादिक प्रदेशों में—अभूत पूर्व क्रान्ति फैल गई। पशुबलि के बदले अहिंसा का डंका बजने लगा। संयम व तपस्या के मार्ग पर आत्मार्थी लोग साधना पूर्वक तत्पर होने लगे। क्रिया कांड व ब्राह्मणों की सहायता बिना ही स्व-वीर्य के बलसे आत्मज्ञान लाभ किया जा सकता है—ऐसी शिक्षा भगवान महावीर का अपूर्व दान है। जाति वर्ण निर्विशेष से हर कोई साधक कथित भाषा में उपदेश देने लगे—पंडितों का वज्रप्राकार परिवेष्टित गढ़ धुलिसात् होकर सर्व साधारणके लिये राजमार्ग बन गया—भारत की भावधारा व संस्कृति में बड़ा भारी परिवर्तन हुआ।

महात्मा गांधी का दृष्टि सर्व प्रथम भारत वासियों के अपमान की तरफ आकर्षित हुई। दक्षिण अफ्रिका में भारतीयों को जो बेहद अपमान सहन करना पड़ता था उसके विरुद्ध

महात्माजी ने प्रचंड शक्ति से अहिंसापूर्ण विरोध खड़ा किया। भारतीयों की भीरुता, दौर्बल्य, दारिद्र्य प्रभृति दोषों का प्रधान कारण पराधीनता समझ कर महात्माजी ने भारत में लौटकर स्वराज्य के लिये जो अहिंसा संग्राम शुरू किया उसकी तुलना जगत् के इतिहास में कहीं पाई जाती। प्रचंड शस्त्रशक्ति-युक्त राजसत्ता के साथ संपूर्ण अहिंसक होकर भी कैसे संग्राम कर जयलाभ किया जा सकता है—जगत् के सम्मुख इसका नवीन आदर्श महात्माजी ने उपस्थित किया। पाश्चात्य शिक्षा से शिक्षित, पाश्चात्य भावधारा से अनुप्राणित, प्रभूत धनोपार्ज्जन शील, पाश्चात्य रहन सहन में अभ्यस्त चित्तरंजन दास व मोतीलाल नेहरू जैसे महान् व्यक्ति महात्माजी के प्रभाव से अभिभूत हुए और सर्वस्व त्याग करके देशसेवामें आत्मबलिदान देने लगे। जैसे भगवान महावीर के समय में धर्म्म राज्य प्रतिष्ठा करने को हजारों महात्मायें अहिंसा व तपस्या का मार्ग अवलम्बन कर घोर परिषह सहन करती हुई, आत्मज्ञान प्राप्त करने को तन्मय युक्त हुई वैसे ही आज महात्मा गांधी के प्रभाव से भारत के हजारों स्त्री पुरुष अहिंसा व त्याग का मार्ग अवलम्बन कर, घोर परिषह सहन करते हुए स्वराज्य प्राप्ति के लिये तन-मन-धन से अग्रसर हो रहे हैं। भारत के राजनैतिक क्षेत्र में आवेदन निवेदन के बदले आत्म-वीर्य की प्रतिष्ठा महात्माजी का अपूर्व दान है। हजारों वर्षों से जो मनुष्यगण अस्पृश्य समझे जाते थे आज वे ही महात्माजी की जीवन व्यापी तपस्या के प्रभाव से एक सप्ताह में स्पृश्य होकर 'हरिजन' पदवी से विभूषित हुए। यह अनुपम कार्य भविष्यमें स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा। आज भारत के उच्च जातिके अधिकार भुक्त देवालयों में निम्न जातियों का अबाधित प्रवेश देखकर भगवान महावीर के साधु संप्रदाय में मेतार्य व हरिकेशी का प्रवेश याद आता है।

राजनैतिक क्षेत्र में असामान्य क्रान्ति उत्पादन करने के साथ ही साथ महात्माजी ने अपने आश्रम निवासियों के लिये जो व्रत व नियम प्रवर्तित किये हैं, भगवान महावीर के प्रवर्तित नियमों के साथ उनकी आश्चर्य जनक साम्यता है। ढाई हजार वर्ष पहले प्रवर्तित अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के साथ महात्माजी द्वारा प्रवर्तित अहिंसादि व्रतों का सादृश्य वर्तमान वस्तु तान्त्रिक समय में अद्भुत मालूम होता है। यहां इन दोनों के व्रतों की तुलना दिखलाई जाती है।

महावीर ने प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन व परिग्रह विरमणरूप पांच महाव्रत पालन करने का उपदेश दिया है। अन्य शब्दों में इन महाव्रतों को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह इन पांच शब्द से व्यक्त किया जाता है। गान्धीजी के उपदिष्ट व्रतों का नाम सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, और अभय है।

महावीर का प्रथम व्रत अहिंसा व गान्धीजी का द्वितीय व्रत अहिंसा एक है। जैन शास्त्र में प्रमाद-कषायादि-योग से प्राणघात को हिंसा कहते हैं वैसे ही गांधीजी मूर्छा सहित प्रवर्तन को

हिंसा कहते हैं—अमूर्छित प्रवर्तन (१) को अहिंसा मानते हैं। गांधीजी कुविचार को, मिथ्याभाषण को, द्वेषादिको हिंसा मानते हैं वैसे ही जैन शास्त्र भी राग, द्वेषादि भावों को हिंसा मानते हैं। (२) राग द्वेषादि भाव से युक्त होनेसे जीवकी घात हो या न हो जैन शास्त्र के मत से जीव हिंसा निश्चय होती है।

महावीर के दूसरे व्रत 'सत्य' व महात्माजी के पहले व्रत सत्य में कुछ पार्थक्य है। जैन का सत्य मात्र सत्य वचन व उसके भेदों से सम्बन्ध रखता है किन्तु महात्माजी सत्य को बड़े व्यापक अर्थ में प्रयोग करते हैं। महात्माजी के मतानुसार जो सत्य है —याने जिसका अस्तित्व है वही सत्य है। इस कारणसे सत्य ही परमेश्वर है। विचारमें, वाणी में, आचरण में तो सत्य होना ही चाहिये परन्तु सारा ज्ञान इसमें समाया हुआ है। इससे यह प्रतीत होता है कि महात्माजी सत्य को ही ईश्वर समझते हैं। इस दृष्टि से महावीर को दृष्टिमें साम्यता नहीं है। ईश्वर की भावना जैन दृष्टि से दूसरी ही है—जिसे वर्णन करनेका यहां अवसर नहीं है। भगवान महावीर के मतसे कषाय प्रमादादि योग से असत्य बोलना—अस्तिरूप वस्तु को नास्ति व नास्तिरूप वस्तु को अस्ति कहना तो मिथ्या है ही परन्तु अप्रिय, हिंसाकारी व किसी प्रकार के भीतिकर, दुःखकर, कलहकारी आदि पापयुक्त वचन को भी मिथ्या कहा गया है और इसी मिथ्या का विपरीत सत्य है। मिथ्या को हिंसा माना गया है।

(१) सप्त महाव्रत, अहिंसा। (२) पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय पृ० ३१।३२

भगवान महावीर का तीसरा व्रत अस्तेय और महात्माजी का पांचवां व्रत अस्तेय एकही है। प्रमादयोग से किसी वस्तु को उस वस्तु के स्वामी के आदेश बिना लेना—जैन शास्त्र में चोरी कहा गया है, यहां तक की किसी के कुंआ तलाव आदि से बिना आदेश जल लेना या मिट्टी लेना भी चोरी है। महात्माजी भी दूसरे को वस्तु उसकी अनुमति बिना लेने, मनसे भी किसी की चीज पाने की इच्छा करने, या लालच करने को चोरी कहते हैं। इन सब बातों से जैनमत की साम्यता है कारण जैनमत में मन वचनकाया से चोरी करना, अन्य किसीसे कराना या कोई करता हो तो उसका अनुमोदन करना एक समान है। महात्माजी आवश्यकता के अतिरिक्त चीज को उसके मालिक की आज्ञा से लेने को भी चोरी समझते हैं जो कि जैनियों ने अपरिग्रहमें सामिल किया है। चोरी में हिंसा दोनों जगह मानी गई है।

महावीर का चौथा व्रत ब्रह्मचर्य व गान्धीजी का तीसरा व्रत ब्रह्मचर्य भी एक ही है। जैन दृष्टि में ब्रह्मचर्य की व्याख्या बड़ी विशाल व सम्पूर्ण है। जीवन से सम्बन्ध रखने वाले सम्पूर्ण संयम का समावेश इसके भीतर है। ब्रह्मचर्य को सत्य, तप, भूतदया का मूल व समस्त इन्द्रियों का निरोध रूप लक्षण वाला कहा गया है *। जहां ब्रह्मचर्य से जननेन्द्रिय निरोध का सम्बन्ध ज्यादेतर समझा जाता है वहां मन वचन काया द्वारा किसी भी प्रकारका विषय सेवन करना, कराना या अनुमोदन करना

* ब्रह्मचर्यं सत्यतपोभूतदयेन्द्रिय निरोध लक्षणम्। सूत्रकृतांग २।६।१

भी निषेध है। ब्रह्मचर्य की रक्षा करने के लिये किसी स्त्री के साथ एक आसन पर बैठना तो निषेध है ही परन्तु किसी स्त्रीके परित्यक्त आसन पर भी एक मर्यादित काल तक बैठना निषेध है। कामोत्तेजक या पुष्टिकारक व स्वादु आहार का लेना, कामराग की वृद्धि के लिये स्नान, विलेपन आदि श्रृंगार करना व ऐसे शब्द, रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श जिससे कि कामराग की पुष्टि होती है—उसे सुनना, देखना आदि का सर्वथा निषेध किया है। मनुष्य समाज में रहते हुए कभी शब्दादि को टालना अशक्य हो तो उसे उदासीन भाव से अर्थात् उसमें राग द्वेष नहीं रखते हुए लोलुपता टाल कर सहन करना चाहिये। महात्माजीके मत से विषयमात्र का निरोध ही ब्रह्मचर्य है व मन वचन काया से सर्वेन्द्रिय को वशीभूत करना चाहिये। मनको विकारपूर्ण रहने देकर शरीर को दबाना व और और इन्द्रियों को भटकने देकर एकही जननेन्द्रिय को रोकने का प्रयत्न करना वृथा है।

भगवान के पांचवें व्रत अपरिग्रह व महात्माजी के छट्ठ व्रत अपरिग्रह में भी साम्यता है। भगवान महावीर ने उस समय में प्रचलित विलासिता व भोग के विरुद्ध त्याग का आदर्श खड़ा करके धनवानों के अयथा संचयको रोका था। महात्मागान्धी ने भी आधुनिक समय की पाश्चात्य सभ्यता व उसकी अंध अनुकरण करने वाली विलास व जीवन धारण करनेकी, वर्तमानमें सभ्यता कहलानेवाली, धारा के विरुद्ध परिग्रह की आत्यन्तिक कमी करके आदर्श खड़ा किया है। आवश्यकता से अतिरिक्त वस्तु के संग्रह को महात्माजी चोरी समझते हैं व जो विचार ईश्वरसे विमुख रखे या ईश्वरकी ओर नहीं ले जावे उन सबको वह परिग्रह में सुमार करते हैं। ऐसे ही जैन शास्त्र भी किसी भी चीज में-चाहे वह धनादिक अजीव हो या स्त्री आदि जीव हो—मूर्च्छा करनेको परिग्रह मानते हैं व मिथ्यात्व याने सम्यग् ज्ञान के अतिरिक्त ज्ञान को भी आभ्यन्तर ग्रन्थि-परिग्रह कहते हैं।*

महावीर के पंच महाव्रत के अतिरिक्त गान्धीजी ने अस्वाद व अभय को भी व्रत माना है व किसी स्थान में स्वदेशी, अस्पृश्यता निवारण इत्यादि और कई व्रत भी सामिल किये हैं। इन व्रतोंमें कितने तो जैसे अस्वाद जैन शास्त्र के पंच महाव्रत व तपस्या के अन्तर्गत हैं व कितने जैसे स्वदेशी आदि की आवश्यकता उस समय न थी किन्तु वर्तमान काल में उनकी पूरी आवश्यकता है।

भगवान महावीरने व्रतों के पालन की तारतम्यता के अनुसार सम्पूर्ण त्यागी व अर्धत्यागी साधु व श्रावक ऐसे दो विभागों की व्यवस्था की थी परन्तु महात्मा गान्धी ने आश्रम वासियों के लिये एक ही नियम रखा है। उन्होंने जो सम्पूर्णतया व्रतों को पालन करने में असमर्थ हैं उनके लिये कोई रास्ता नहीं रखा।

---

* पुरुषार्थ सिद्धयुपायः पृष्ठ ५६-५७

—:—

भ० महावीर और उनके उपदेशोंका रहस्य



[श्री छोटेलाल जैन एम० आर० ए० एस०]

संसार में सबसे बड़ी वस्तु धर्म मानी गई है। यह देखा जाता है कि सब स्थानों पर और सब समयोंमें धर्म एकसा ही नहीं समझा जाता है। कहीं ज्ञान को प्रधानता दी गई है तो कहीं भक्ति को। कहीं कर्म प्रधान माना गया है तो कहीं तप। इसी प्रकार किसीने अहिंसा से उद्धार होना माना है तो किसी ने पशु या मनुष्य की बलि से! कोई चुटिया रखने में धर्म समझता है तो कोई दाढ़ी रखने में। कहीं काले, पीले, लाल और श्वेत वस्त्रों की प्रधानता है तो कहीं दिगम्बरत्व की। इस प्रकार धर्म के नाम पर अनेक परस्पर विरोधी रीति रिवाज प्रचलित होते रहते हैं। किन्तु धर्म इन सबसे एक भिन्न वस्तु है।

"जे त्रिभुवन में जीव अनंत, सुख चाहैं दुःखते भयवन्त"। कोई न कोई दुःख मनुष्य को होता है। जब मनुष्य दुःख से भयभीत होता है तब विचारता है कि दुःखसे किस प्रकार रक्षा करूँ। शीत के दुःख को वस्त्र से, शारीरिक कष्ट को औषधादि से, प्यास को जल से और क्षुधा को अन्न से, निवारण कर लेता है। इसी प्रकार वह यह भी जानता है कि अग्नि में हाथ देने से जलेगा—अर्थात् जिन कार्य्यों से दुःख होता है उन्हें भी वह जानता है। इन सब बातों से यही मालूम पड़ता है कि मनुष्य को कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार होता है। बस यही विचार होना धर्म की भावना को उत्पन्न करता है। संक्षेप में यह कहिये कि दुःखभीरु सुखार्थी मनुष्य का सहारा धर्म है। इसी से धर्म की व्याख्या भी यही की गई है कि "संसार दुःखतः सत्वान् यो धरति उत्तमें सुखे" अर्थात् संसारी दुःखों से छुटा कर प्राणियों को जो उत्तम सुख प्राप्त करवाता है वही धर्म है। और इसी लिये दुःख से घबड़ाई हुई और सुख की आशा करनेवाली साधारण जनता को जो वीर सान्त्वना प्रदान करता है वही अवतार मान लिया जाता है। २५०० वर्ष की बात है। सारा भारतवर्ष धर्म के नाम पर होने वाले अत्याचारोंसे कांप उठा था। दया, प्रेम, सत्य, संयम, त्याग आदि की ध्वजा फहरानेवाले भगवान पार्श्वनाथ को हुये केवल मात्र २५० वर्ष व्यतीत हुए थे तोभी इतना पाप इतनी जल्दी बढ़ गया! स्वार्थी और सत्ताधारी लोग समाज पर मनमाने अत्याचार करने लगे—निरर्थक आचार, हेतु शून्य विधि विधान, हत्या और मन घड़न्त क्रियाकाण्डों का साम्राज्य छा गया था। स्वर्ग मोक्ष इतने सुलभ हो गये थे कि ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर वे खरीदे जा सकते थे!

प्रसिद्ध प्रोफेसर राधाकृष्ण का कहना है कि उस समय विरोधी विचार और कल्पनाओं की राशि

जिन्हें कोई तो स्वीकार करते थे और कोई उनका विरोध ; "मुंडे २ मतिर्भिन्ना" को चरितार्थ करनेवाली, और जो उनके प्रकाशकों (Author) के व्यक्तिगत गुण, स्वभाव, मनोभाव और वासनाओं को प्रतिबिम्बित करती थी उनसे वातावरण परिपूर्ण हो रहा था।

उस समय कोई निश्चित मूल तत्व न थे जिन्हें सब स्वीकार करते। किन्तु थे केवल ध्वंस कारी मत और सहज ज्ञान (स्वतः सिद्ध ज्ञान)।

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्रीमान् दत्त महाशय कहते हैं कि ईशाकी छट्ठी शताब्दि पूर्व भारतवर्ष की अवस्था ऐसी थी कि यथार्थ धर्म का स्थान अर्थ हीन बाह्य अनुष्ठानों ने ले रखा था। श्रेष्ठ सामाजिक और नैतिक नियम पीड़ा जनक ज्ञाति भेद और ब्राह्मणों के खास (विशेष) अधिकार और शूद्रों के लिये नृशंस नियमों से विक्षिप्त थे। ऐसे ज्ञाति अन्य विशेष अधिकार ब्राह्मणों की उन्नति में उलटे बाधक हुए। सम्प्रदाय रूपेण वे इतने लोभी, लालची, अज्ञानी और धृष्ट बन गये कि स्वयं ब्राह्मण सूत्रकारों को भी बाध्य होकर इस प्रवञ्चना की सख्त भाषा में निन्दा करनी पड़ी। जिन शूद्रों ने आर्य धर्म की छत्रछाया के नीचे आश्रय लिया था उनके लिये धार्मिक शिक्षण, धर्म कर्म अनुष्ठान और सामाजिक सम्पर्कता का निषेध था। जिस समाज में वे थे उसीमें उन पर तिरस्कार और धिक्कार होने के कारण वे परिवर्त्तन के लिये आतुरता से राह देखने लगे। जैसे २ उनकी संख्या बढ़ने लगी वे उपयोगी उद्योग धन्धों में प्रविष्ट होते गये, जमीन और गांवों के मालिक बनते गये और अपना प्रभाव और सत्ता विस्तारित करने लगे त्यों २ ऐसी द्वेष युक्त ज्ञाति विभिन्नता उनको असह्य मालूम होती गई। शूद्र सभ्यता और उद्योग में आगे बढ़ते जाते थे और समाज के एक उपयोगी अंग बन गये थे तोभी उस समय का सामाजिक, धार्मिक और विधि व्यवस्था सम्बन्धी साहित्य उनके प्रति अन्याय ही का प्रचार करता था।

इतिहास इस बात की साक्षी है कि जब जब अधर्म और अनीति बढ़ी है तभी एक न एक महात्मा का प्रादुर्भाव अवश्य हुआ है।

ठीक इसी समय भारत वसुन्धरा पर दो वीर प्रगट हुए—भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध।

विदेह देशस्थ कुण्डपुरके स्वामी राजा सर्वार्थ और रानी श्रीमती से उत्पन्न राजा सिद्धार्थ था। सिद्धार्थ कि पटरानी प्रियकारिणी थी। यह प्रियकारिणी वैशाली के राजा महाराज चेटक की सात कन्याओं में से प्रथम थी। इसका दूसरा नाम त्रिशला था। भगवान महावीर इन्हीं के रत्न थे। भगवान महावीर ३० वर्ष की अवस्था में संसार के प्राणियों का उद्धार करने के हेतु तपस्वी बन गये और १२ वर्ष की कठिन तपस्या के बाद इनको जृम्भिका गांव के समीप ऋजुकुला नदी के किनारे मनोहर नामक वन में केवल ज्ञान प्राप्त हुआ।

तीर्थंकर, केवल ज्ञान होने के पूर्व, किसी प्रकार का उपदेश नहीं देते हैं। क्योंकि वे धर्म के नायक और मनुष्यों के आदर्श होने वाले होते हैं। छद्मस्त अवस्था में उपदेश देवें तो त्रुटि हो सकती है। जिससे लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होगी। किन्तु केवल ज्ञान के बाद उनका उपदेश प्रारम्भ हो जाता है। पर महावीर भगवान तो केवल ज्ञानी हो जाने पर भी ६६ दिन तक मौन से विहार करते रहे।

इसका कारण यह था कि तीर्थंकरों का उपदेश बिना गणधरों के नहीं होता। गणधर असामान्य विद्वान होते हैं ६६ दिन तक मौन से विहार करने के बाद भगवान उस समय के अतिशय प्रख्यात राजगृह नगर में आये। उस समय ब्राह्मणों की सत्ता बहुत बढ़ी चढ़ी थी। जनता पर इनका (ब्राह्मणों का) प्रभाव भी बहुत पड़ता था। अस्तु, उस पवित्र अहिंसा धर्म की विजय पताका ब्राह्मणों के द्वारा ही फहराने के लिये इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति नामक तीन ब्राह्मणों—महान् पंडितों को भगवान ने अपना शिष्य बनाया। भगवान का उपदेश जोरों से होने लगा। स्त्री जाति के उद्धार की भी उस समय बहुत आवश्यकता थी। भगवान ने सर्व प्रथम अपनी मौसी महाराज चेटक की पुत्री कुमारी चंदना को दीक्षित किया।

सर्व प्रथम भगवान महावीर ने मगध देश की प्रजा के अज्ञानान्धकार को दूर किया और फिर मध्यदेश की। तदुपरान्त अनेक देशों में विहार कर प्रजा को सच्चे धर्म की ओर ऋजु किया।

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ कहते हैं कि—"कहते आश्चर्य होता है कि महावीर के शिक्षण ने समाज के हृदय में जड़कर के बैठी हुई भावना रूपी सीमा को तुरन्त अतिक्रम कर देश को वशीभूत कर लिया और बहुत समय तक क्षत्रीय उपदेशकों के प्रभाव बल से ब्राह्मणों की सत्ता अभिभूत हो गई थी"।

भगवान के मुख से जो वचन प्रगट हुए वे ऐसे मालूम पड़े मानों समय की अवस्थानुसार जनता के मनोभावों में जो अस्थिरता और आकुलता (जो ऊपर लिखी जा चुकी है) उत्पन्न हो रही थी उसी का वे दिग्दर्शन करा रहे हैं।

यथार्थ में क्रियानुष्ठानों और इनके निर्दयी सहचर अर्थ शून्य बलिदान और उद्देश्य हीन मंत्र जिन पर से जनता का विश्वास उठ चुका था ऐसे धर्म के बाह्य अनुष्ठानों का उस समय चूड़ान्त साम्राज्य था। भगवान महावीर ने इनके विरुद्ध गाढ़ प्रतिवाद की आवाज उठाई और यह घोषणा की कि इस प्रकार के अर्थ शून्य अपौरुषेय वाद, नैसर्गिक नियम के समक्ष कुछ भी महत्व नहीं रखते।

मनुष्य स्वभाव से आलसी है इस लिये जहां तक होता है वह बिना परिश्रम के (या अल्प परिश्रम से) फल प्राप्त करने की इच्छा किया करता है। लोगों के प्रमाद के कारण ही सम्प्रदायों में पुरोहितों की सृष्टि होती है। भोले भाले लोगों को ये लोग अपने स्वार्थ के लिये क्रिया कांडों में फंसाया रखते हैं। मनचाहा भला बुरा करिये बस पुरोहितजी के थोड़े से जप तप पूजा अनुष्ठान से ही मुक्ति हो जायगी। भगवान महावीर ने देखा कि पुरोहित प्रथा ही मनुष्य को पाप पंकज में फंसाती है, अस्तु, उन्हों ने जनता के हृदय में यह बात दृढ़ करदी कि

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो
न कोपि कस्यापि ददाति किंचन।
विचार यन्नेव मनन्यमानसः,
परोददातीति विमुच्य शेमुषीम्॥
स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीयं लभते शुभाशुभं।
परेणदत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,
स्वयं कृतं कर्म तदा निरर्थकम्॥

अर्थात्-प्राणी को अपने किये हुए कर्मों को छोड़कर, कोई किसी को कुछ भी फल नहीं दे सकता है। किन्तु अपना किया हुआ कर्म ही सुख दुःख देता है। दूसरा दूसरे को कोई फल नहीं देता है। यह निश्चित है कि आत्मा ने पूर्व में जो कुछ शुभाशुभ कर्म किया है तदनुसारही फल पाता है। यदि दूसरे का किया हुआ फल दूसरा पावे तो अपना कर्म निरर्थक हो जायगा सो होता नहीं है

भगवान महावीर ने यह बताया कि मनुष्य मात्र चाहे वह किसी वर्ण और कुल का हो पुरोहित की सहायता बिना (याजकत्व) के या देवों के हस्तक्षेप (मध्यस्थाजित देवताओं) के बिना, वह अपना उद्धार कर सकता है। भगवान ने यह बताया कि यह मानना मूर्खता है कि दूसरा हमें सुख या दुःख दे सकता है। अतएव भगवान महावीर ने पुरोहितों और अन्ध विश्वास का त्याग करना, और अनुष्ठानों और बलिदानों का परिहार करना बताया और इसी पर जोर दिया कि चरित्र और अन्तर आत्मा को विशुद्ध करना ही मुक्ति प्राप्ति का मार्ग है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जो चार वर्ण माने गये हैं वे अवश्य उपयोगी हैं किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि एक वर्ण दूसरे वर्ण के पतन की चेष्टा करे या उससे घृणा करे। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि आत्म-कल्याण करना किसी वर्ण विशेष का ही जन्म सिद्ध अधिकार है या सिद्धांत का पठन पाठन भी किसी वर्ण के लिये ही सीमित है। जो जैसा ऊंच नीच कर्म करेगा उसका फल भी तदनुसार ही होगा और कर्मजन्य प्रतिफल सभी को समान होता है।

भगवान महावीर ने लोगों को यह भली प्रकार समझा दिया था कि :—

यत्किंचित्संसारे शरीर्णा दुःख शोक भय बीजम्।
दौर्भाग्यादि समस्तं तद्हिंसा संभवं ज्ञेयम् ॥

इस संसार में जीवों को जो कुछ भी दुःख शोक और दुर्भाग्य आदि हैं वह सब हिंसा से ही उत्पन्न हुआ समझो। भगवान ने हिंसा की व्याख्या कितने सरल और सुन्दर शब्दों में की है वह निम्न लिखित सूत्र से जानी जाती है।—"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" अर्थात् प्रमाद (असावधानी) के वशीभूत होकर किसी के प्राणों को दुखावे या घात करे (उन में हलचल उत्पन्न कर देवे) वह हिंसा है।

अस्तु जो जितना किसी कोसताता है वह उतनाही पाप उपार्जन करता है। महा मोह से अंधा होने पर जब स्वार्थ मनुष्य की बुद्धि पर परदा डाल देता है तब मनुष्य सब जीवों को अपने समान न समझ कर उन पर मनमाने अत्याचार करने लगता है और इसी से संसार में महापाप फैलने लगता है। कितना आश्चर्य है कि हम तो दूसरे की स्त्री को बुरी निगाह से देखें, दूसरों को धोखा देवें, ठगें, सतावें मारें, किन्तु यदि दूसरा ऐसा करे तो उसको हम अन्यायी और नीच आदि कहें!

इसीलिये भगवान महावीर ने यह उपदेश दिया था कि :—

यद्यत्स्वस्यानिष्टं तत्तद्वाक चित्त कर्मभिः कार्यम्।
स्वप्नेऽपि नो परेषामिति धर्मं स्याग्रिमं लिङ्गम ॥

जो क्रियायें अपने वास्ते बुरी मानते हो वह सब क्रियायें मन, वचन और काय से स्वप्न में भी किसी दूसरे के वास्ते नहीं करनी यही धर्म की पहिली पहिचान है। यदि इन वाक्यों को प्रत्येक मनुष्य हृदय में धारण कर ले तो संसार में पाप हो ही नहीं सकता।

भगवान महावीर का सिद्धान्त स्पष्ट शब्दों में घोषणा करता है कि किसी जाति वा कुल में उत्पन्न होने से वा इस मलमूत्र युक्त हाड मांस के शरीर को (चाहे वह ब्राह्मण का हो चाहे शूद्र का) धोने मांजने से शुद्धि नहीं होती * किन्तु हृदय में दया धर्म को धारण करने से ही शुद्धि और पवित्रता होती है। इसलिये जीव मात्र से प्रेम करो। किसी से घृणा करोगे तो तुम्हारे भाव बिगड़ेंगे और सम्यक्त्व (निर्वि चिकित्सता) का घात होगा और तुम्हारा पतन होगा जिससे कुगति में जाना पड़ेगा।

पवित्री क्रियते येन येनैवोद्ध्रियते जगत्।
नमस्तस्मै दयाद्रार्य धर्म कल्पाङ्घ्रि पाय वै ॥

जिससे सारा जगत पवित्र होता है और जिससे जगत का उद्धार होता है और जिसमें दया रूपी रस भरा है उस धर्म रूपी कल्प वृक्ष को मैं नमस्कार करता हूँ। दया ही धर्म का लक्षण है।

---

* *यदीदं शोध्यते देवाच्छरीरं सागराम्बुभिः।*
दूषयत्यपि तान्येवं शोध्यमानमपिक्षणे ॥

यदि बड़े भारी समुद्र के सारे जल से भी इस शरीर को धोया जावे तो भी पवित्र नहीं हो सकता है किन्तु उस समुद्र के जल को भी खराब कर देता है।

आचार्य कहते हैं किसी को जाति वा कुल का घमंड न करना चाहिये क्योंकि :—

स्वर्गी पतति साक्रन्दं श्वा स्वर्गमधिरोहति।
श्रोत्रियः सारमेय स्यात् कृमिर्वा स्वपचोऽपिवा ॥

धर्म को ग्रहण न करने से स्वर्ग का देवता तो नीचे आ पड़ता है और कुत्ता धर्म को अङ्गीकार कर लेने से स्वर्गों का देव बन जाता है। श्रोत्रिय ब्राह्मण (जो बड़ी शुद्धता से रहता है, सारे दिन स्नान करता है, अपने चौके की भूमि पर किसी की छाया तक नहीं पड़ने देता है, बड़ी छूत छात करता है) उसकी आत्मा यदि दया धर्म से शून्य है तो वह मर कर गन्दगी का कीड़ा वा गन्दगी उठाने वाला चांडाल बन जाता है।

सम्यग्दर्शन सम्पन्नमपि मातङ्ग देहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्म गूढां गारान्त रौजसम् ॥

यदि कोई चांडाल भी सम्यग्दर्शन धारण कर ले अर्थात् धर्म के सत्य स्वरूप का श्रद्धान कर ले तो वह भी देवों से पूजित हो जाता है। अर्थात् वह इतना ऊंच और पवित्र हो जाता है कि मनुष्य तो क्या स्वर्गों के देव भी उसकी पूजा करने लग जाते हैं।

इसीलिये भगवान ने अपनी सभा में (समवशरण में जहां भगवान का उपदेश होता है) मनुष्यों (चाहे वे किसी भी जाति वा कुल के क्यों न हों) को ही नहीं किन्तु कुत्ता, बिल्ली गाय, भैंस, हस्ति, सिंह आदि पशुओं तक को स्थान दिया था और उन्हें भी धर्म लाभ प्राप्त

अपनी आत्मा का उद्धार करने का मौका दिया था।

रीति रिवाजों में मनुष्य की बड़ी श्रद्धा हुआ करती है और इस श्रद्धा से मनुष्य इतना अंधा बन जाता है कि वह प्रचलित रीति रिवाजों को भी धर्म का अंग बना लेता है। जो रीति रिवाज देश काल भाव की आवश्यकतानुसार प्रचलित किये जाते हैं बाद में उनकी आवश्यकता न रहने पर भी वे ऐसे धर्म बना लिये जाते हैं कि उनके बिना मुक्ति प्राप्त करना असम्भव हो जाता है। मनुष्य को इस मूर्खता से रक्षा करने के लिये भगवान ने बताया कि :—

धर्म धर्मेति जल्पन्ति तत्व शून्या कुदृष्टयः।
वस्तुतत्वं न बुध्यन्ते तत्परीक्षाऽक्षमायतः॥

जो लोग धर्म के तत्व को अर्थात् तत्व की बात को, धर्म के सार को नहीं जानते हैं और उलटी पुलटी बातों पर श्रद्धान रखते हैं वह धर्म धर्म तो चिल्लाते हैं परन्तु वस्तु के यथार्थ स्वरूप को, उसकी असलियत को नहीं जानते हैं। परीक्षा करके अच्छी तरह धर्म को नहीं मानना चाहते हैं। इसलिये भगवान ने उपादेय मार्ग परीक्षा करना ही बताया है। अर्थात् किसी भी सिद्धान्त को तर्क, नय और प्रमाण से सिद्ध होने पर ही स्वीकार करो। यदि वह सिद्धान्त परीक्षा करने पर न टिक सके तो इसमें सत्यता का अभाव समझो।

जैन दर्शन को पूर्ण रूप से समझने के लिये तो बहुत समय चाहिये तोभी मोटी २ बातें यह हैं कि—

संसार में दुःख है, दुःख का कारण है, दुःख निवारण किया जा सकता है और इसे सम्पन्न करने का मार्ग है। दुःख का कारण इन्द्रियों को तृप्त करने को प्रबल इच्छा का होना है। जो पदार्थ अचिरस्थायी हैं वे कष्टदायक हैं। कर्म ही दुःख के कारण हैं। कर्म रहित होने से निर्वाण होता है। और निर्वाण से आवागमन बंद होता है अर्थात् संसार परिभ्रमण बंद होता है।

भगवान ने बताया है कि—

अभयं यच्छभूतेषु कुरु मैत्री मनिन्दिताम्।
पश्यात्म सदृशं विश्वं जीव लोकमचराचरम्॥

सब जीवों को अभयदान दो, कोई तुमसे किसी भी प्रकार का भय न करे, सब ही जीवों से पूरी २ मित्रता करो, सब ही का भला करो, किसी को भी किसी प्रकार का दुःख मत दो सब ही को अपने समान समझो।

हिंसा, असत्य, चोरी, काम (कुशील) और मूर्च्छा अर्थात् परिग्रह इन स्थूल पापों से सदा विरक्त होओ और मद्य मांस मधु का त्याग करो।

खम्मामि सव्व जीवाणं सव्वे जीवा खमन्तु मे।
मित्ती मे सव्व भूदेसु वैरं मज्झंण केणवि॥

अर्थात् संसार के एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्य्यन्त सब जीवों के प्रति मेरे क्षमा भाव हैं और वे सब जीव मेरे ऊपर क्षमा करें, सब प्राणी मात्र से मेरे मित्रता है और मेरे किसी से बैर नहीं है। भगवान महावीर ने यह पाठ पढ़ा कर जीवोंका कितना कल्याण किया है यह जरा गम्भीरता से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है। इस मन्त्र का उच्चारण करते ही प्रत्येक जीव के प्रति कोमल भाव हो जाता है जिससे हिंसा कम होती है। तथा किसी भी जीव से मनुष्य स्वयं क्षमा याचना तभी करेगा जब वह उससे घृणा नहीं करेगा। ब्राह्मणोंके अज-

मेध, अश्वमेध, गोमेध और नरमेधके जमाने में तथा शूद्रों पर जब घोर अत्याचार हो रहा था उस समय इस मन्त्र ने संसार को अधोगति से और पैशाचिक काण्डों से कितनी रक्षा की है वह इसके गम्भीर आशय से स्पष्ट है।

जिन महानुभावों ने भगवान महावीर के वचन सुने या उन्हें प्रत्यक्ष देखा उनकी प्रवृत्ति मिथ्या धर्मों से सर्वथा हट गई। भगवान की भाषा मागधी थी। तीस वर्षों तक भगवान विहार करते हुए उपदेश देते रहे। जीवनान्त के कुल दो दिन पूर्व आपका उपदेश बन्द हुआ और ७२ वर्ष की अवस्था में पावा नामक स्थान से निर्वाण प्राप्त किया।

स्रोत जब पर्वत की कन्दरासे निकलता है तब बड़ा स्वच्छ होता है। पर बाद में उसका जल जिस प्रकार की काली, पीली या लाल भूमि में होकर बहने लगता है तब उस भूमिका रंग उसमें मिल जाता है और वह स्वच्छता विलीन हो जाती है। ठीक इसी प्रकार धर्म सम्बन्धी मौलिक विचारों का प्रवाह जिस मार्ग से हो कर गुजरता है उसकी विशेषताओं को अपना लेता है। इसी सत्य के अनुसार जैनों के सामाजिक व्यवहार में बहुत से परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं और कहीं २ तो सिद्धान्तों में भी परिवर्तन हो गया है पर इतना अवश्य है कि मूल सिद्धान्त ज्यों के त्यों अब भी उपलब्ध हैं भले ही लोग अपने स्वार्थ के अनुकूल उनके अर्थ में न्यूनाधिकता या विपरीत भावोंकी सृष्टि करते हों।

—:o:—

भगवान् महावीर के उपदेश प्रचार की आवश्यकता



[लेखक—श्री छोगमल चोपड़ा बी० ए० बी० एल०]

अनन्त काल से जीव संसार में कर्म सम्बन्ध से परिभ्रमण कर रहा है। अनन्त काल चक्र व्यतीत हो गया और इसके बीच नाना मत मतान्तर—नाना धर्म नेता हुए हैं। वर्तमान चौबीसी के शेष तीर्थंकर जैन धर्म के प्रधान व्याख्याता महावीर स्वामी की उपदेशावली उनके पहिले के तीर्थंकरो से भिन्न नहीं था। सर्व तीर्थंकर एक ही धर्म की प्ररूपणा करते हैं। वास्तव में पूछिये तो जिन सब कृत्यों से जीव का कर्मों से छुटकारा हो सकता है उन्हीं को तीर्थंकर सर्वदा अपने उपदेशों में भव्य जीवों को बतलाते आये हैं। कर्मों से मुक्त होने से जीव मुक्ति में जाता है। यह सत्य शाश्वत है। और इसीलिये कर्मों के नाशका उपाय सर्वदा एक ही रहता है। संसारी जीवके लिये भगवान महावीर की वाणी उनके, जैनियों की मानतानुसार, तीर्थंकर होनेके कारण नहीं, प्रत्युत वैज्ञानिक असाधारण ज्ञान की दृष्टि से उनके उपदेशावली सम्पूर्णतया कर्मों के आश्रवों को संवर निर्जरा द्वारा क्षय करने के प्रकृष्ट साधन रूप हैं इसीलिये इतना महत्व रखती है।

आर्य्य जातियों में प्रायः, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह को मानव जीवन के विकाश में श्रेष्ठ साधन बताया जाता है, पर जैन धर्म में इन सब विषयों पर जितना गहन व वैज्ञानिक दृष्टिसे विचार किया गया है वैसा शायद ही दूसरे दूसरे मतों में किया गया हो। हम यहां पर इनमें से कुछ विषयों पर जैन दृष्टि से विचार करेंगे। पाठक जरा खयाल करें कि जैन धर्म का प्रधान व्याख्याता वर्तमान में हमें तीर्थंकर श्रीमन्महावीर स्वामी को ही मानना पड़ेगा। यद्यपि पूर्व कथनानुसार समस्त तीर्थंकरों का एक ही उपदेश है तथापि व्यावहारिक दृष्टि से जिनका शासनकाल वर्तमान में प्रचलित है उन्हीं को हमें अपना प्रधान नेता मानना होगा। जैसे पुरुषानुक्रमसे राजसिंहासन अधिरूढ़ व्यक्ति अपने अपने समय में प्रधान होते हैं पर वर्तमान समय में जो राजा होते हैं उन्हीं का हाल हुक्म चलता है, उन्हीं की दुहाई व आण वर्तती है वैसे ही धर्म राज्य में भी समस्त तीर्थंकरों का एकही उपदेश होते हुए भी, हमलोगों को, जो शेष तीर्थंकर हुए हैं, उन्हीं को आदर्श व प्रमाण पुरुष मान कर, उन्हीं के उपदेश, आज्ञा, व्याख्यान आदि को अपने धार्मिक जीवन में सामने रख उन्हींका पालन करना पड़ता है। वास्तव में जितनी जो सब सामग्री वर्तमान चौबीसी के शेष पुरुष प्रवरकी हमें उपलब्ध है उतनी दूसरों की नहीं। ऐतिहासिक दृष्टि से आदिनाथ भगवान के उपदेश, सिद्धान्त, व आदेशों की खोज करना वृथा है। क्योंकि वे ऐसे समय में हुए हैं कि अबका कुछ भी अब तक स्थायी रहना सम्भव नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से नजदीकके

चरित्र हमारे लिये जितने अधिक महत्वपूर्ण हैं उतने पूरा कालके अन्य महापुरुषोंके नहीं हो सकते। ऐसी अवस्था में जैन ग्रन्थों में श्री महावीर भगवान की जो सब उपदेशावली का उल्लेख मिलता है वह बड़ेही गौरव की दृष्टि से देखने लायक है। जैन धर्म की कहिये या श्री महावीर भगवान की कहिये प्रधान नीति अहिंसा तत्व पर है। और अहिंसा तत्वको सम्यक् पालने-पलवानेके लिए जितना सूक्ष्म विचार भगवान महावीर का हमें मिलता है वह वास्तवमें वैज्ञानिक दृष्टिसे (Scientifically) न्यायकी दृष्टि से, (Logically), साधारण ज्ञान की दृष्टि से (Common sense) व विवेक बुद्धि की दृष्टि से (Conscience) हरएक दृष्टि से अपूर्व, अभ्रान्त, शाश्वत सत्य मालूम देगा।

किसीकी हिंसा न करनाही साधारण अर्थ में अहिंसा है। अहिंसा अहिंसा की पुकार तो बहुत से लोग करते हैं पर अहिंसाका स्वरूप समझने के लिये कितना गहन विचार आवश्यक है वह श्री मन्महावीर भगवान ने तरह तरह से—भिन्न भिन्न प्रकारसे बतला दिया है। "हिंसा न करना" यह कहते ही स्वतः प्रश्न खड़ा होता है—किसकी ? उत्तर भी मिलेगा कि "जीवकी"। अब प्रश्न आखड़ा होता है कि जीव कितने प्रकार के हैं - भगवन्त श्री महावीर स्वामीका प्ररूपित धर्म बतावेगा कि—त्रस व स्थावर दो मुख्य विभाग जीवके हैं। स्थावर अर्थात् पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु व वनस्पति ये पांच प्रकार के एकेन्द्रिय जीव, और त्रस अर्थात् हालते चालते द्विन्द्रीय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय ये चार प्रकार के जीव—इन सब मोट पांच प्रकार के जीवों की हिंसा न करनी चाहिये। अब प्रश्न उठता है कि क्या निजमें ही हिंसा न करना या दूसरे से भी न कराना या कोई हिंसा करता है उसका अनुमोदन भी न करना। जवाब मिलेगा करना, कराना व अनुमोद करना इन तीनों करणों से हिंसा न करना। अब शंका होती है कि यह हिंसा अपने हाथ से अथवा अपने शरीर से(काया से) ही न करना अथवा कहकर भी न कराना—और मनसे भी न करना। आप को प्रमाण पुरुष भगवान महावीर स्वामी की उपदेशावली कहेगी कि न तो मन से ही, न वचन और न काया से ही हिंसा करना उचित है। अब देखिये कि "अहिंसा" तत्व को विश्लेसन (Analysis) करने से मालूम हुआ कि तीन करण तीन योग अर्थात् मन, वचन, काया से छः प्रकार के जीव की हिंसा न करना, न करवाना और न करते हुए को भला जानना—इस प्रकार नवकोटी (nine sided) प्रत्याख्यान करने से ही सम्यक् प्रकार "अहिंसा" का पालन होसकता है। यदि संसार में इस अहिंसा तत्व का पालन जीव मात्र कर सके तब तो यह संसार एक आदर्श व अपार सुख का स्थान हो जाय। परन्तु स्वार्थवश मनुष्य निज के क्षणिक इन्द्रियादिक सुख के लिये तो दूसरे की हिंसा करता ही है, इसमें आश्चर्य भी नहीं, परन्तु धर्म के नाम से भी हिंसा करते हुए वह बिलकुल लज्जित नहीं होता! न्याय व नीति को पददलित कर, साधारण ज्ञान को उपेक्षित कर, हिंसा में भी धर्म कहते हुए वह जरा भी संकोच नहीं करता—यह आश्चर्य है। संसार में हम रहते हैं; हमें हरएक सांसारिक कार्य्य में प्रत्यक्ष व परोक्ष भाव से अहरह हिंसा" करना पड़ता है, बिना हिंसा के संसार यात्रा निर्वाह होना कठिन

है—यह स्वीकार करने में भी हमें संकोच होता है यह आश्चर्य है। पर इससे भी अधिक आश्चर्य तो यह है कि आज षट्काय के जीवों की हिंसा—लोग धर्म के नाम से करते हैं, उसे धर्म का साधन समझते और उसका समर्थन करते हैं। एक तो हिंसा करना फिर उसे धर्म व धर्म का साधन कहना यह ही भयानक दोष आज मनुष्य समाज में प्रविष्ट हो रहा है। और आज से प्रायः २६०० वर्ष पहले भी यह भ्रान्त धारणा—यह कुतर्क भारत के नर नारियों में फैला था। ऐसे समय भगवान महावीर ने जलद् गम्भीर स्वर से विश्व में—संसार में—इस वाणी का प्रचार किया, सिर्फ प्रचार ही नहीं अपने जीवन से दिखा दिया कि "अहिंसा" एक कितना महत्व पूर्ण तत्व है और धर्म के नाम से हिंसा करना कितना हेय, व निकृष्ट तत्व है। उस दिव्य जीवन के अपूर्व प्रकाशसे भारत की भावधारा में अपूर्व परिवर्तन हो गया था। उनकी उपदेशावली से बहुत से जीव कुमार्ग से सुमार्ग पर आगये थे। भ्रान्त धारणाओं को छोड़ कर सत्य का आदर किया था। बड़े बड़े राजा महाराजाओं ने भगवान की वाणी का मर्म समझ कर पश्चाताप करते हुए सद्धर्म को अङ्गीकार किया था। यह हुई पुरानी बात और आज जगत् फिर हिंसा और अहिंसा का पार्थक्य भूल, जीवन को जिस तरफ बहा रहा है वह शोचनीय है। पाश्चात्य भावधारा के प्रवाह से मिथ्यात्व का संयोग होकर "अहिंसा" का सच्चा व गूढ़ तत्व विकृत हो रहा है। 'दया' के नामसे हिंसा हो रही है। जीव की पहिचान नहीं। कर्मों की पहिचान नहीं। जीव व कर्मों के संबन्ध का खयाल नहीं।

करण व योग का हिसाब समझना या समझने का प्रयास तक नहीं। पाप कितने प्रकार के हैं और राग द्वेष से जीव कैसे कर्म बांधता है इस सब का विचार नहीं। जीव के गुण क्या हैं? जीवका स्वरूप क्या है? किन किन कार्य्यों से जीव की कर्म वर्गना हटती है और किन किन कार्य्यों से जीव कर्मों को ग्रहण करता है इन सब बातों की ओर जरा भी ध्यान नहीं। सांसारिक सम्बन्ध जीव के स्वगुण विकाश में बाधक हैं या नहीं—यह सब विचारणा नहीं। मुक्ति क्या है और संसार परिभ्रमण क्या है? इन सब बातों का विचार नहीं। आज जैन धर्म के अनुयायी कहलाने वाले बहुत से लोग भी दूसरे धर्म वालों की गलत बतों को सुनकर उन्हें आदर देते हैं। श्रीमन्त महावीर भगवान के अनन्त ज्ञान के आधार से कथित उपदेश को भूलकर मिथ्या मत में पड़ रहे हैं। श्रीमन्महावीर भगवान ने दिव्य दृष्टि से जो बात कह दी थी वही आज दिखाई दे रही है कि धर्म के नाम से हिंसा करने वाले अधिक होंगे। जीव मरता क्यों है और जीता कैसे रहता है; किन कर्मों के उदय से वह सुख दुःख भोगता है, और एक जीव के जीवन मरण व सुख दुःख से दूसरे जीवका क्या संपर्क है—इस पर खयाल नहीं। श्रीमन्महावीर स्वामी के वचनों को धारण करने की बात तो दूर रही, पर साधारण ज्ञान व न्याय की दृष्टि से भी विचार नही किया जाता कि "दया" में और "अहिंसा" में क्या प्रभेद है, "जीव रक्षा" क्या है और उससे कौन कौन से कर्म बंध, उदय, क्षय या उपशम होते हैं? एवं "दया" या "अहिंसा" क्या है और उससे जीवको

क्या लाभ होता है और अहिंसा से जीव उन्नत होता है या उससे कोई कर्म—बंध, उदय, क्षय या उपशम होता है। जीवका कर्तव्य (Duty) क्या है और अपने या दूसरे के जीवन, मरण, सुख दुःख के संयोग। इत्यादि के अवसरों पर कौन सा मार्ग अंगीकार करना चाहिये। रागभाव से जीवको क्या होता है और द्वेषसे क्या होता है। किसी से स्नेह, ममता, राग भाव (मुक्ति मार्ग में सहायक रूपसे) वांछनीय हैं या नहीं? अपनी आत्मासे दूसरे जीवको किस तरह सहायता देने से पारमार्थिक लाभ होता है; मुक्तिमार्ग में ले जाने का साहाय्य होता है और किस तरह की सहायता पहुंचाने से सांसारिक उपकार होता है इन दोनों में क्या प्रभेद है इन सब बातोंको सत्य धर्म के प्ररूपक भगवान महावीर की आज्ञाओं के पालक संसार त्यागी साधु मुनिराजों से सम्यक् प्रकार धार लेना उचित है। जो लोग शास्त्र का रहस्य निजमें समझते नहीं—भगवान महावीर ने जीव अजीव, पुण्य पाप, आश्रव बंध, संवर निर्जरा, मोक्ष आदि तत्वों का जो विशद् विवरण बताया है, उसको समझने की चेष्टा करते नहीं—वे कैसे उनके उपदेशों से लाभ उठा सकते हैं? जैन धर्म को जानना हो तो भगवान महावीर के उपदेशों को जानना चाहिये। न्यायकी कसौटी पर उनके वचनों को परखिये आपको मालूम होगा कि जैन धर्म कितना महान, कितना उदार, कितना विशाल व कितना वैज्ञानिक प्रणाली का धर्म है। इसमें विसम्वाद का अवसर नहीं। भगवान के उपदेश का अर्थ किसी मर्मज्ञ महापुरुष से पूछिये। सदाचारी, सच्चरित्र, शास्त्रवेत्ता पुरुषों का अभी तक अभाव नहीं हुआ है। चाहिये आस्था के साथ भगवान के उपदेशको धारण करने वाले। समभाव से मुक्ति कामी, संसार विरागी, भवभय भ्रान्त जीवों पर अनुकम्पा करनेवाले पुरुष—आस्था पूर्वक खोज करने से—मुक्ति का मार्ग एक मात्र भगवान महावीर के उपदेशों से पा सकेंगे। सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था इन गुणों का समावेश हरएक सुलभ बोधी जीव में हो—यही हमारी आन्तरिक कामना है। ओसवाल नवयुवक के प्रत्येक प्रेमी पाठक से अनुरोध है कि संसार में रहते हुए, नाना प्रकार से सांसारिक कृत्यों में लिप्त रहना तो इहलोग का नित्य नैयमिक कर्त्तव्य हो रहा है पर पारलौकिक उन्नतिके लिये—स्व आत्मा स्वरूप प्राप्ति के लिये मुक्ति मार्ग में सुखे सुखे निज में आने के वास्ते व दूसरे अपनी तरह के संसार लिप्त आधि व्याधि जन्म जरा मरण भयसे भीत जीवों को मुक्ति मार्ग का पथिक बना कर उन्हें उस मोक्ष मार्ग में सहायक होने के लिये—सब से उत्तम साधन भगवान महावीरके उपदेशों की सम्यक् आलोचना करना, धारणा करना, तदनुसार कार्य्य करना और समस्त जगत् में उन तथ्यभरे तत्वों का सम्यक् प्रचार करना भी हमारा प्रधान कर्त्तव्य होना चाहिये। जैन धर्म के जहां ५।७ हजार वर्ष पहले अर्बों खर्बों की संख्या थी आज वहां दश बारह लाख रह गई है। हम में इस बातका आग्रह रहना चाहिये कि हम स्वयं मुक्ति मार्ग के पथिक बनने का उद्यम करें और दूसरों को भी उसमें लाने की चेष्टा करें। अपने जीवन को भगवान महावीर के उपदेशानुयायी बना कर हम महावीर की सन्तान महावीर नहीं तो भी

वीर तो धर्म ! कर्म बन्धन से छुटकारा पाने के लिये कषायों को हलका करते हुए, राग द्वेष को जीतने का प्रयास स्वयं करें और दूसरोंको सिखलावें और उनके उपदेशानुसार चलने को यथाशक्ति करें। इसी से हमारी आत्मिक उन्नति संसार के दुःखों का नाश होगा।



नोट--

महावीराङ्क कार्त्तिक में निकाल देने का निश्चय था परन्तु खेद है कि कई कारणों से इतना विलम्ब हो गया। कार्यवश हम दोनों को बाहर जाना पड़ा था--और इस विलम्ब का मुख्य कारण यही हुआ। हम इसके लिये कृपालु पाठकों से क्षमा चाहते हैं। इस अङ्क के सम्पादन में भी [illegible] त्रुटियां [illegible] हैं तो उनके लिये भी पाठक हमें क्षमा करें। [illegible] सम्पादन के कार्य में श्रीयुत श्रीचन्द्जी रामपुरिया बी० काम ने जो सहाय पहुँचाई है उसके लिये उनको हार्दिक धन्यवाद है। उनकी सहायता के बिना इतने समय में इस ढंग से अङ्क निकलना असंभव था -- उन लेखक बन्धुओं के भी कम अनुग्रहित [illegible] हैं जिन्होंने अपने लेखों व कविताओं से पत्र को सुन्दर और उपादेय सामग्री प्रदान की है। आगामी अङ्क भी बहुत कुछ तय्यार है और शीघ्र ही प्रकाशित होगा--आशा है पाठक धैर्य रखेंगे।

—०—